RĀSLILĀ : Rajput School, 17th Century A.D.

By the courtesy of Central Cottage Industries Emporium, New Delhi.

श्रीरासपञ्चाध्यायी—सांस्कृतिक अध्ययन

लेखक
रसिकविहारी जोशी
रीडर, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

मुख्य-वितरक
मुंशीराम मनोहरलाल
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
पोस्ट बाक्स ११६५, नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक : माधव फ़ाइनेन्स कम्पनी फण्ड, अजमेर

© अनुवाद व पुनः प्रकाशन के सर्वाधिकार लेखकाधीन हैं।

प्रथम संस्करण, १९६१

मूल्य दस रुपये

मुद्रक : न्यू इण्डिया प्रेस, कनाट सर्कस, नई दिल्ली

आनन्दाम्भोधिकन्दप्रकटितनिखिलाम्नायवल्लीप्रसूनं
श्यामस्वान्तप्रमोदाम्बुधिसमुपचयापूर्वराकासुधांशुः ।
कर्णाभ्यर्णाभिकीर्णोत्पलदलसुषमापाङ्गलक्ष्मीस्त्रिकाल-
प्रेक्षाधुक् कामधेनुर्मनसि मम समुज्जृम्भतां राधिका सा ।।

—रामप्रताप शास्त्री

ब्रह्मानन्दसहोदरी श्रुतिमयी सद्वल्लरी पावनी
पीयूषाम्बुधिवर्षिणी सुमनसामुल्लासिनी माधवी ।
श्रीमद्भागवताख्यधामवसती रासेश्वरप्रेयसी
पञ्चाध्यायलसत्तनुर्विजयते श्रीरासलीलेश्वरी ॥१॥
जयति जयति नूनं गोपिकावल्लभोऽयं
व्रजधरणितले यो रासलीलां ततान ।
स्मितकलितमुखाब्जः शौरिरेष प्रियो मे
रसिकहृदयभूमौ वासलीलां तनोतु ॥२॥

—रसिकविहारी जोशी

विषय-सूची

			पृष्ठ
प्राक्कथन			
भूमिका	...	...	तेरह-चौबीस
श्रीरासपञ्चाध्यायी (संस्कृतमूल)	...	...	१–२५
श्रीरासपञ्चाध्यायी-सांस्कृतिक अध्ययन	...	...	
पहला अध्याय	...	...	२९–१००
दूसरा अध्याय	...	...	१०१–१३४
तीसरा अध्याय	...	...	१३५–१५९
चौथा अध्याय	...	...	१६०–१७७
पांचवां अध्याय	...	...	१७८–२०३
परिशिष्ट १	...	...	२०५–२०९
परिशिष्ट २	...	...	२१०–२१७
सहायकग्रंथसूची	...	...	२१८–२२०
विशिष्टपदसूची	...	...	२२१–२२३
श्लोकानुक्रमणी	...	...	२२४–२२६
चित्रबन्ध की फलकें	...	...	२२७–२३८

प्राक्कथन

पूज्यपाद पिताजी पण्डित श्रीरामप्रताप जी शास्त्री श्रीराधाकृष्ण के अनन्य उपासक थे। उनके सान्निध्य में जीवन के अरुणोदय में ही मुझे श्रीकृष्ण-भक्ति की दीक्षा का उपदेश मिला। श्रीमद्भागवत उनको अत्यन्त प्रिय थी और उनकी वाणी में मधुरता का ऐसा अनोखा पुट था कि श्रोता सदा के लिए मन्त्रमुग्ध हो जाता था। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही श्रीमद्भागवत के दिव्यातिदिव्य गूढ़ अर्थों की अद्भुत व्याख्या सुनने का अनेक बार सुयोग बनने लगा। इन अर्थों की रसमाधुरी का आस्वादन करने के लिए पुस्तक के अंत में दो परिशिष्ट लगाये गये हैं। प्रथम परिशिष्ट में एक श्लोक की ४९ श्लोकों में ललित व्याख्या है। द्वितीय परिशिष्ट में दो श्लोकों की गद्यमयी व्याख्या का चित्तकर्षक विलास है। बाल्यकाल के इन्हीं संस्कारों के अंकुरों का पल्लवित रूप वर्त्तमान सांस्कृतिक अध्ययन में प्रस्तुत है।

गत वर्ष दिल्ली विश्वविद्यालय ने श्रीरासपञ्चाध्यायी को संस्कृत एम० ए० के पाठ्य-क्रम में रखने का निर्णय किया तो मेरे मन में आया कि इसके मूल का एक प्रामाणिक संस्करण तैयार करूँ और साथ ही एक छोटी-सी टीका भी लिखूँ। किन्तु कार्य आरम्भ करने पर जब आगे बढ़ने का प्रयत्न किया तो "**विद्यावतां भागवते परीक्षा**" यह उक्ति सर्वथा यथार्थ प्रतीत होने लगी। मैं जितने संक्षेप में लेख को समेटने का प्रयत्न करता था, धागे उतने ही लम्बे होते जाते थे। फलतः मुझे शीघ्र ही संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का आश्रय लेना पड़ा जिससे थोड़े शब्दों में अधिक भावों का समावेश किया जा सके।

अपना संस्करण तैयार करने के लिए मैंने दो संस्करण बंगाली लिपि के, दो संस्करण मलयालम लिपि के और चार संस्करण देवनागरी लिपि के चुने। तामिल, तेलगू तथा मलयालम संस्करणों का उपयोग मैंने अपने मित्र डाक्टर वीरभद्र राव तथा श्री ओ० एम० अनुजन नम्बूदिरीपाद की सहायता से किया और बंगाली संस्करणों के लिए रमा मजुमदार ने हाथ बंटाया। इस सम्बन्ध में मैंने भिन्न-भिन्न संस्करणों के लिए इन संकेतों का प्रयोग किया है।

(१) **कल० १**=श्रीमद्भागवतम् (बंगाक्षर) पंचानन तर्करत्न, कलकत्ता, वंगाब्द १३१५।

(२) **कल० २**=श्रीमद्भागवतम् (बंगाक्षर) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, कलकत्ता चैतन्याब्द ४२५।

(३) **कल० २ टि०**=वही, टिप्पणी।

(४) **त्रिचु०** = श्रीमद्भागवतम् (मलयालम), चंगालूर परमेश्वरन् नम्बूदिरी, त्रिचुर, १९५६।

(५) **कालि०** = श्रीमद्भागवतम् (मलयालम), गोपाल पी० नायर, कालिकट, १९४०।

(६) **वृन्दा०** = श्रीमद्भागवतम्, नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सम्वत्, १९६४।

(७) **मद्रा०** = श्रीभागवत दशमस्कन्ध, मद्रास, १९१०।

(८) **मद्रा० टि० मुनि०** = वही, टिप्पणी-मुनिभावप्रकाशिका।

(९) **बम्ब०** = श्रीमद्भागवतम्, टी० आर० कृष्णाचार्य, बम्बई, १९१६।

(१०) **बम्ब० टि० वीर०** = वही, टिप्पणी, वीरराघवाचार्य।

(११) **बम्ब० टि० विज०** = वही, टिप्पणी, विजयध्वज।

(१२) **गोरख०** = श्रीरासपंचाध्यायी, गोरखपुर, सम्वत् २०१५।

सांस्कृतिक व्याख्या के अंश को मैंने दो भागों में बांटा है। पहले प्रत्येक श्लोक के नीचे यथासंभव यथार्थ शब्दानुवादमात्र दिया गया है और फिर विस्तृत व्याख्या का भाग रखा है। पुस्तक की इस योजना को रचनात्मक रूप देने के पूर्व मैंने श्रीमद्भागवत की प्रायः सभी भाषाओं में लिखी हुई टीकाओं का भलीभांति अध्ययन किया। इनमें निम्नलिखित संस्कृत-टीकाओं से मुझे विशेष लाभ हुआ।

(१) भावार्थदीपिका, (२) बृहत्तोषिणी, (३) वैष्णवतोषिणी, (४) शुकपक्षीय, (५) भागवतचन्द्रचन्द्रिका, (६) पदरत्नावली, (७) क्रमसन्दर्भ, (८) बृहत्क्रमसन्दर्भ, (९) सुबोधिनी, (१०) सारार्थदर्शिनी, (११) विशुद्धरसदीपिका, (१२) भावभावविभाविका, (१३) भागवतगूढार्थदीपिका, (१४) सिद्धान्तप्रदीप।

इन टीकाओं के उपयोग का संकेत भी मैंने वहीं नीचे टिप्पणी में कर दिया है। श्रीरासपंचाध्यायी को समझने के लिए मुझे वैष्णवदर्शन तथा अलंकार-शास्त्र का भी पर्याप्त अध्ययन करना पड़ा। इस दिशा में षट्सन्दर्भ, उज्ज्वलनीलमणि तथा हरिभक्तिरसामृतसिन्धु आदि ग्रन्थों से खूब सहायता मिली। इन सबके पश्चात् भी भगवत्कृपा से स्थान-स्थान पर जब अनेक अभिनव अर्थों का स्फुरण हुआ तो मुझे लगा कि यह तो एक ऐसा गहरा सागर है जहां अनन्त अनन्त रत्न छिपे पड़े हैं, जो जितना चाहे निकाल सकता है। पुस्तक के अन्तिम भाग में सोलह चित्रबन्ध की फलकें लगाई हैं। ये सभी मैंने गोपीगीत के श्लोकों पर प्रस्तुत की हैं।

मेरी छोटी बहिन श्रीमती पार्वती पण्डित ने गृहकार्य में संलग्न रहते हुए भी मेरे घुलमिल अक्षरों में लिखी हुई पाण्डुलिपि की सुन्दर प्रतिलिपि उतारी, अतः उसे हार्दिक धन्यवाद है। मेरे अनुज प्रियवर श्री व्रजराज जोशी के साथ एक वर्ष तक अनेक स्थलों पर प्रायः नित्य विचार-विमर्श होता रहा, जिससे बहुत से प्रश्न सुलझे। हमारे संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी तथा प्रियवर डा० देवराज चानना का भी मैं बहुत आभारी हूं जिन्होंने मुझे समय-समय पर बहुत अच्छे सुझाव दिये।

यदि इस पुस्तक में कुछ भी गुण का अंश है तो वह पूज्यपाद पिताजी के चरणों में सुनी हुई ज्ञानराशि का लेशमात्र है और जो कुछ दोष तथा स्खलन हैं वे मेरी अपनी मन्दमति के कारण हैं। जैसा श्रीमधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु के अन्त में लिखा है—

"यदत्र सौष्ठवं किंचित्तद् गुरोरेव मे नहि।
यदत्रासौष्ठवं किंचित्तन्ममैव गुरोर्नहि॥" (सिद्धान्तबिन्दु पृ० ८२)।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी, सं० २०१८
दिल्ली विश्वविद्यालय

—रसिकविहारी जोशी

भूमिका

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध में २९ से ३३ तक पांच अध्याय श्रीरास-पञ्चाध्यायी के नाम से विख्यात हैं। वैष्णवपरम्परा में श्रीमद्भागवत को नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्त्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। बारह स्कन्धों में अंग-प्रत्यंग की कल्पना करके श्रीरासपञ्चाध्यायी को भगवान् के पंच प्राण के रूप में माना गया है।

श्रीकृष्णलीला में रासलीला का एक विशेष स्थान है। 'रास' शब्द का मूल रस है और रस स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—'रसो वै सः'। जिस दिव्य क्रीड़ा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त-अनन्त रस का समास्वादन करे, एक रस ही रससमूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीड़ा करे—उनका नाम रास है'।[१]

सर्वप्रथम रास के हेतु हरिवंश में हल्लीसक शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। नीलकण्ठ ने अपनी टीका में हल्लीसक का अर्थ रास किया है। इनके मतानुसार एक पुरुष की अनेक स्त्रियों के साथ क्रीड़ा ही रासक्रीड़ा कही जाती थी।[२] बाणभट्ट ने हर्षचरित में मण्डलीनृत्त तथा रास का उल्लेख किया है।[३] मण्डलीनृत्त ही हल्लीसक के रूप में अभिज्ञात था। इसमें एक पुरुष अनेक स्त्रियों के झुण्ड में नृत्य करता था। सरस्वतीकण्ठाभरण में श्रीकृष्ण तथा गोपियों को हल्लीसक के दृष्टान्त के रूप में रखा गया है।[४]

डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार हल्लीसक शब्द का उद्गम यूनानी 'इलीशियन' नृत्यों (इलीशियन मिस्ट्री डांस) से ईसवी सन् के आस-पास हुआ जान पड़ता है।[५] रास में आठ सोलह अथवा बत्तीस व्यक्ति मण्डल बनाकर नृत्य किया करते थे। रास के इस मण्डलाकार नृत्य की रचना में नृत्यपरायण स्त्री-पुरुष हाथों में हाथ बांधकर अथवा हाथ पर हाथ की ताल देकर नाचा करते थे। इसीको पिण्डीबन्ध कहा जाता था।[६]

---

१. रासपञ्चाध्यायी, रासलीलारहस्य पृ० ४।

२. **हल्लीसकक्रीडनं एकस्यैव पुंसः बहुभिः स्त्रीभिः क्रीड़नं सैव रासक्रीड़ा।**
हरिवंश २, २०, ३५ नीलकण्ठ।

३. **रैणवावर्त्तमण्डलीरेचकरासरसरभसारब्धनर्त्तनारम्भारभटीनटाः।** हर्षचरित पृ० २२।

४. **मण्डलेन तु यत्स्त्रीणां नृत्तं हल्लीसकं तु तत्। तत्र नेता भवेदेको गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥**
सरस्वतीकण्ठाभरण २, १५६।

५. हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल पृ० ३३।

६. **अष्टौ षोडश द्वात्रिंशद्यत्र नृत्यन्ति नायकाः। पिण्डीबन्धानुसारेण तन्नृत्तं रासकं स्मृतम्॥**
रास और रासान्वयी काव्य की प्रस्तावना पृ० ११।

रासलीला तथा हल्लीसक के मूल उद्गम की श्रुति का संकेत नीलकण्ठ ने हरिवंश पुराण पर अपनी टीका में किया है।[1] रासमण्डल में गोपियों के मध्य में नृत्य करते हुए श्रीकृष्ण की अनुपम सुषमा का अद्भुत चित्र यहां खींचा गया है। श्रीकृष्ण के लिए यहां पद्या तथा पुरुरूपा इन दो विशेषणों का प्रयोग प्राप्त होता है। प्रथम विशेषण का अर्थ है कि जो विग्रह गोपियों द्वारा अभिसार करने के योग्य हो।[2] द्वितीय विशेषण का आशय है कि प्रत्येक गोपी के विग्रह के साथ-साथ नृत्य-सौकर्य के अभिप्राय से श्रीकृष्ण ने अनेक रूप धारण कर लिये थे। "वपूंषि आस्ते" इस पद द्वारा यह भाव सर्वथा स्पष्ट हो उठता है कि श्रीकृष्ण ने रासलीला के अवसर पर अनेक रूप धारण किये थे। इस प्रकार श्रीकृष्ण की एक विलक्षण मूर्त्ति रासमण्डल के मध्य में विराजित थी।[3] इसीके साथ बायें, दायें और सामने स्थित गोपियों के कटाक्ष एकसाथ श्रीकृष्ण पर गिर रहे थे।[4] श्रुति का यह वर्णनात्मक चित्र स्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण तथा गोपियों के रासनृत्य के उद्गम का स्वरूप बताता है। यही रूप हमें श्रीमद्भागवत महापुराण में पल्लवित होकर दृष्टिगोचर होता है।

हरिवंश पुराण के विष्णुपर्व[5] में रासलीला का वर्णन इक्कीस श्लोकों में प्रस्तुत किया गया है। यहां रास के लिए हल्लीसक शब्द का प्रयोग है। अपने संक्षिप्त वर्णन के कारण रासलीला का यह सबसे प्रारम्भिक स्वरूप प्रतीत होता है।[6] इसके दो कारण हैं। (क) राधा का अभाव। (ख) श्रीकृष्ण के वियोग में गोपियों के मुक्त होने के उल्लेख का अभाव।

हरिवंश में श्रीकृष्ण शारदी रजनी की रमणीयता देखकर रमण करने की इच्छा करते हैं। यहां वनमाला से सजे हुए श्रीकृष्ण गोपियों के समूह में शोभित हैं। कभी गोपियां श्रीकृष्ण को नयनों की कटाक्षसरणि द्वारा पी रही थीं। कभी पति, माता तथा भाइयों द्वारा रोकी जाती हुई भी श्रीकृष्ण को ढूंढ रही थीं। कभी मण्डल के आकार में इकट्ठी होकर श्रीकृष्ण के चरित्र का गान करती हुई मण्डल के मध्य में विद्यमान श्रीकृष्ण को प्रसन्न करती थीं। नीलकण्ठ की व्याख्या के अनुसार प्रत्येक गोपी के दोनों पार्श्व में श्रीकृष्ण उपस्थित थे।[7] इस प्रकार श्रीकृष्ण की लीलाओं का अनुकरण करती हुई, श्रीकृष्ण की गति के तुल्य अपनी गति दिखाती हुई, श्रीकृष्ण के समान नृत्य, गीत तथा सस्मित निरीक्षण द्वारा प्रमुदित व्रजबालाएं रासलीला का आनन्द ले

---

१. **पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यंव रेरिहाणा। ऋतस्य सद्म विचराभि विद्वान्मह-देवानामसुरत्वमेकम्।** हरिवंश, विष्णुपर्व २०, २५—नीलकण्ठ में उद्धृत।

२. **पत्तुमभिसारिणीभिर्गोपीभिरभिसर्त्तुं योग्या।** वही।

३. **ऊर्ध्वा गोपीसम्पर्कं बिना तस्थौ।** वही।

४. **त्र्यविम् त्रीन् देशान् पार्श्वद्वयं पुरस्ताच्च रेरिहाणा गिलन्ती।** वही।

५. हरिवंश, विष्णुपुराण २०, १५–३५।

६. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक विवेचन, वीणापाणि पाण्डे पृ० ३२।

७. **गायन्त्यः कृष्णचरितं द्वन्द्वशो गोपकन्यकाः।** हरिवंश, विष्णुपर्व २०, २५।
(द्वाभ्यां प्रदेशाभ्यां वर्त्तते गोपः कृष्णो यासां ताः द्वन्द्वशो गोपास्ताश्च ताः कन्यकाश्चेत्यर्थः। नीलकण्ठः।)

रही थीं।[1] इसीप्रकार श्रीकृष्ण भी गोपियों के मण्डल से घिरे हुए शारदी चन्द्रिका के आलोक में परिमण्डित रजनियों में प्रसन्न हुआ करते थे।[2]

ब्रह्मपुराण में ३२ श्लोकों में रासलीला का चित्ताकर्षक वर्णन उपस्थित किया गया है।[3] हरिवंश पुराण की अपेक्षा यहां रासलीला के विकास के चिह्न स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। यहां श्रीकृष्ण बलराम के साथ अपनी श्रुतिमधुर संगीत की लहरी निनादित करते हैं।[4] श्रीकृष्ण की मुरली की संगीत-प्रधान स्वर-लहरी का गोपियों के मन पर विलक्षण प्रभाव पड़ा और वे अपने-अपने घरों को छोड़कर श्रीकृष्ण के समीप आ गईं। इस समय कोई गोपी मन्द स्वर से गान कर रही थी। कोई कृष्ण कृष्ण कहकर लजा रही थी। कोई प्रेमांध सी श्रीकृष्ण के पार्श्व में जा रही थी। इसी प्रसंग में हमें उस गोपी का भी संकेत प्राप्त होता है, जो अपने गुरुजनों की विद्यमानता के कारण श्रीकृष्ण की सन्निधि से वंचित रह जाती है और नेत्र बन्द कर के तन्मय सी श्रीकृष्ण का ध्यान करती रहती है।[5] यहां यह स्मरणीय है कि हरिवंश पुराण में इस गोपी का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता किन्तु विष्णुपुराण[6] तथा श्रीमद्भागवत महापुराण[7] में इसका विस्तार के साथ वर्णन प्राप्त होता है।

गोपियों द्वारा घिरे हुए श्रीकृष्ण रास का प्रारंभ करते हैं और शीघ्र ही वहां से श्रीकृष्ण के स्थानान्तर में चले जाने पर गोपियां श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा में कातर होकर इधर-उधर ढूंढने लगती हैं। ढूंढते-ढूंढते श्रीकृष्ण के चरण-चिह्न देखती हैं।[8] इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भागवत में वर्णित रासलीला का मूल स्वरूप हरिवंश पुराण में अंकुरित होकर ब्रह्म-पुराण में धीरे-धीरे पल्लवित हो रहा था। यहां श्रीकृष्ण के अन्तर्धान, गोपियों के अन्वेषण तथा श्रीकृष्ण के चरणचिह्न का संक्षिप्त वर्णन प्राप्त हो जाता है। निराश गोपियां ढूंढती ढूंढती थककर कालिन्दी के तट पर आकर श्रीकृष्ण के चरित्र का गान प्रारम्भ करती हैं। श्रीकृष्ण प्रकट हो जाते हैं और प्रसन्नचित्त गोपियों के साथ रासलीला करते हैं।

ब्रह्मपुराण में रासलीला के वर्णन का प्रसंग दो श्लोकों के साथ समाप्त होता है। दोनों श्लोकों में यह प्रतिपादित किया गया है कि जिस प्रकार ईश्वर स्त्रियों, उनके पतियों तथा समस्त

---

१. **तास्तस्य नृत्यं गीतञ्च विलासस्मितवीक्षितम्। मुदिताश्चानुकुर्वन्त्यः क्रीडन्ति व्रजयोषितः॥**
हरिवंश, विष्णुपर्व २०, २८।

२. **शारदीषु सचन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी।** वही २०, ३५।

३. ब्रह्मपुराण २८९, १४–१५।

४. **सह रामेण मधुरमतीव वनिताप्रियम्।** वही १८९, १६।

५. **काचिदावसथस्यान्तः स्थित्वा दृष्ट्वा बहिर्गुरुम्। तन्मयत्वेन गोविन्दं दध्यौ मीलितलोचना॥**
वही १८९, २०।

६. विष्णुपुराण ५, १३, २०।

७. श्रीमद्भागवत महापुराण १०, २९, ९–११

८. **बभ्रमुस्तास्ततो गोप्यः कृष्णदर्शनलालसाः। कृष्णस्य चरणं रात्रौ दृष्ट्वा वृन्दावने द्विजाः॥**
ब्रह्मपुराण १८९, २३।

प्राणियों में व्यापक होकर निवास करता है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण सर्वत्र विद्यमान हैं। जिस प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा समस्त प्राणियों में रहते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की भी अवस्थिति है।[1] इस प्रकार ब्रह्मपुराण में रासलीला का प्रसंग श्रीकृष्ण की सर्वव्यापकता को प्रमाणित करने के साथ-साथ श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ रासलीला में प्रत्येक प्रकार के दोष का निराकरण करते हुए समाप्त होता है।

विष्णुपुराण में यह स्पष्ट रूप में बताया है कि श्रीकृष्ण ने बलराम के बिना ही स्वयं एकाकी शारदी ज्योत्स्ना, विकसित कुमुदिनी, तथा वनखण्डी को गूंजते हुए मधुकरों से चित्ताकर्षक देखकर रमण करने की इच्छा की। श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि से खिंची हुई गोपियां श्रीकृष्ण के पास एकत्रित हो गईं। यहां हमें उस गोपी का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त हो जाता है जो श्रीकृष्ण का मानसिक चिन्तन करके प्राण-अपान की गति के निरोध द्वारा मुक्त हो गई थी। श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर गोपियों द्वारा कृष्णलीला का अनुकरण, किसी विशिष्ट गोपी के चरणचिह्नों में मिले हुए श्रीकृष्ण के चरण-चिह्नों का दर्शन, श्रीकृष्ण का पुनःप्राकट्य और रासक्रीड़ा का वर्णन प्राप्त होता है। रासमण्डल शब्द का प्रयोग यहां एक विशेष प्रकार के मण्डल की स्थिति में खड़े होने के अर्थ में किया गया है। श्रीकृष्ण ने स्वयं गोपियों का हाथ पकड़ पकड़ कर उनको रासमण्डल की स्थिति में खड़ा किया था।[2] विष्णुपुराण के अध्ययन से यह भी प्रतीत होता है कि गोपियां रात्रि के समय सर्वदा श्रीकृष्ण के साथ रासरमण किया करती थीं।[3] रासलीला के प्रसंग की परिसमाप्ति यहां भी उन्हीं दोनों श्लोकों द्वारा की गई है जो हमें इसी रूप में ब्रह्मपुराण में प्राप्त होते हैं, जहां श्रीकृष्ण को सर्वव्यापक परमात्मा के रूप में स्वीकार करके समस्त दोषों का निराकरण माना है।[4]

पद्मपुराण में श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ नृत्यात्मक रासलीला का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। यहां श्रीकृष्ण वृन्दावन में करोड़ों गोपियों से घिरे हुए कालिन्दी के तट पर नाना प्रकार के पुष्पों के दिव्यातिदिव्य आमोद से सुगन्धित समीर के प्रवाह में कल्पवृक्ष के नीचे अवस्थित चित्रित किये गये हैं।[5] यहां श्रीकृष्ण को जगन्नाथ, त्रिगुणातीत तथा अव्यय के रूप में उपस्थित किया गया है। हँसती हुई श्रुतिस्वरूपिणी सैंकड़ों गोपियां श्रीकृष्ण का चुम्बन तथा आलिंगन करती हुई चित्रित की गई हैं।[6] भगवती श्रीराधा को यहां चिन्मयी माया के रूप में श्रीकृष्ण की

---

१. **यथा समस्तभूतेषु नभोऽग्निः पृथिवी जलम्। वायुश्चात्मा तथैवासौ व्याप्य सर्वमवस्थितः॥**
ब्रह्मपुराण १८९, ४५।

२. **हस्तेन गृह्य चैकैकां गोपीनां रासमण्डलम्। चकार तत्करस्पर्शनिमीलितदृशं हरिः॥**
विष्णुपुराण ५, १३, ५०।

३. **कृष्णं गोपाङ्गना रात्रौ रमयन्ति रतिप्रियाः॥** वही ५, १३, ५९।

४. वही ५, १३, ६१–६२।

५. पद्मपुराण, पातालखण्ड ७७, ३–६।

६. **चुम्बन्तीभिर्हसन्तीभिः श्लिष्यन्तीभिर्मुहुर्मुहुः। अवाप्तगोपीदेहाभिः श्रुतिभिः कोटिकोटिभिः॥**
वही ७७, १२।

चिन्मयी स्वरूपशक्ति माना गया है।[1] इस प्रकार श्रीराधा को प्रकृति तथा श्रीकृष्ण को अव्यय पुरुष और गोपियों को श्रुति मानकर प्रकृति पुरुष का संयोग ही रास के रूप से अभिव्यक्त माना गया है।

पद्मपुराण में एक अन्य स्थान पर रासलीला के समस्त उपादानों को आध्यात्मिक आवरण का चोला पहनाया गया है। जहां गोपियों को योगिनी, कालिन्दी को अमृतवाहिनी सुषुम्णा, श्रीकृष्ण को सर्वव्यापक परमात्मा और वृन्दावन को चर्मचक्षुओं से अदृश्य तेजोमय स्थान के रूप में उपस्थित किया गया है।[2]

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में हमें रासमण्डल की रचना के तत्त्व पूर्णरूप में विकसित अवस्था में प्राप्त होते हैं। रासमण्डल मणिमय प्राकार से घिरा हुआ था। चारों तरफ पुष्पों के रमणीय उद्यान थे। कृत्रिम सरोवरों में भांति-भांति के पुष्प खिले हुए थे। अनेक प्रकार के प्रसूनों का सुगन्धित पवन बहा रहा था। रत्नजड़ित दीपक तथा सुवर्णकलशों से मण्डप की सुषुमा अद्भुत हो रही थी। इसी रासमण्डल को रासस्थल भी कहा जाता था।[3] इसी प्रसंग में हमें रासस्थल के मध्य में राधा और माधव की क्रीड़ा के लिए एक रत्नमण्डल की रचना का वर्णन प्राप्त होता है।[4] इस रत्नमण्डल के चारों तरफ चार सुन्दर वेदिकाएं थीं। मनोहर नौ द्वार थे। तीन करोड़ रत्नजड़ित कृत्रिम कलश स्थापित थे और रत्नमण्डल के शिखर पताकाओं तथा तोरणों से सुसज्जित थे।[5]

वैष्णवपुराणों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य किसी भी पुराण में रासलीला के लिए रासस्थली की रचना का विन्यास उपलब्ध नहीं होता। पुराणों में प्राप्त होनेवाली रासलीला की वर्णनसामग्री में सर्वत्र कालिन्दी के सैकतपुलिन पर ही रासलीला होने का प्रमाण प्राप्त होता है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में प्राप्त होने वाली रासमण्डल तथा रत्नमण्डल की अद्भुत रचना यह प्रमाणित करती है कि इस पुराण के काल तक रासलीला का वर्णन धीरे-धीरे अपनी निसर्गसुन्दर सादगी का त्याग करके कृत्रिमता की चादर ओढ़ चुका था। वास्तुकला का यह प्रमाण इस वर्णन को उत्तरकालीन सिद्ध करता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काल तक रासलीला के तत्त्वों का पूर्ण विकास हो चुका था। सम्पूर्ण पौराणिक परम्परा का प्रभाव यहां अपने अत्यन्त विकसित रूप में दृष्टिगोचर होता है। श्रीकृष्ण वृन्दावन में रासलीला प्रारम्भ करते हैं। मुरली की ध्वनि

---

१. **स्वरूपा शक्तिरूपा च मायारूपा च चिन्मयी।** पद्मपुराण, पातालखण्ड ७७, १५।

२. **योगिन्यस्तास्तु एव हि मम देवाः परायणाः।**
कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी॥
सर्वतो व्यापकश्चाहं न त्यक्ष्यामि वनं क्वचित्।
तेजोमयमिदं स्थानमदृश्यं चर्मचक्षुषाम्॥ वही ७५, १०–१३।

३. ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड १७, १६३,१६७।

४. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, डा० वीणापाणि पाण्डे पृ० १८६।

५. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड १७, १७०–१७६।

से श्रीराधा तथा प्रधान तैंतीस सखियों का आकर्षण होता है। यहां हमें इन सखियों के नाम मिल जाते हैं। यह स्मरणीय है कि प्रत्येक सखी अनेक सहस्र संख्या वाली अपनी-अपनी सखियों के यूथ के साथ प्रकट होती है।[1] श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण की भांति यहां भी जब श्रीराधा को अपने लोकोत्तर सौभाग्य का अभिमान होने लगता है तो श्रीकृष्ण तत्काल अन्तर्हित हो जाते हैं।[2] श्रीकृष्ण के विरह में विलाप करती हुई श्रीराधा के साथ जब गोपियां शरीर त्याग करने के लिए उद्यत होती है, तो श्रीकृष्ण तत्काल प्रकट हो जाते हैं।[3] यह स्मरणीय है कि अन्य किसी भी पुराण में श्रीकृष्ण के विरह में गोपियों के शरीरत्याग की भावना का प्रमाण प्राप्त नहीं होता। इसके पश्चात् गोपियां श्रीकृष्ण को मध्य में लेकर रासमण्डल पर आती हैं और वहां श्रीकृष्ण अनेकानेक विग्रह धारण करके उनके साथ क्रीड़ा करते हैं।[4] यह सत्य है कि ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में हमें रासमण्डल तथा तदन्तर्गत रत्नमण्डल की रचना का उपादान प्राप्त होता है, किन्तु यह भी सत्य है कि रासलीला के मध्य में श्रीकृष्ण रासेश्वरी तथा अन्य व्रजसुन्दरियों के साथ जलक्रीड़ा के लिए यमुना के शीतल जल में प्रवेश करते हैं और जलक्रीड़ा के पश्चात् वनक्रीड़ा प्रारम्भ होती है। वनक्रीड़ा के काल में श्रीकृष्ण एक वन से दूसरे वन में लीला करते हुए चित्रित किये गये हैं।[5]

देवीभागवत पुराण में हमें रासलीला का आधिदैविक स्वरूप प्राप्त होता है। इस संक्षिप्त प्रसंग में श्रीकृष्ण नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के रूप में अभिवर्णित नहीं हैं अपि तु साक्षात् आत्मा तथा परब्रह्म के नाम से चित्रित हैं।[6] यही तथ्य सिद्ध करता है कि इस पुराण में श्रीकृष्ण का स्वरूप अवतार के रूप में ही स्वीकार नहीं किया गया है किन्तु साक्षात् परब्रह्म परमात्मा के रूप में अंगीकृत है। परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण अपनी चित्शक्तिस्वरूपिणी प्रकृति के साथ विहार करते हैं। यही रास कहा जाता है। महाप्रलय के पश्चात् जब पुनः सृष्टि का काल आता है तो उस समय सृष्टि करने के लिए उद्यत एकाकी श्रीकृष्ण अपनी चित्शक्ति को प्रकट करके सृष्टि करते हैं।[7] इस प्रकार परमात्मस्वरूप श्रीकृष्ण तथा चित्शक्तिस्वरूपिणी प्रकृति अथवा श्रीराधा का यह विलास ही रास के नाम से जाना जाता है। सृष्टि के लिए रास की भावना का उदय होते ही श्रीकृष्ण के दो रूप बन जाते हैं। वामभाग स्त्रीरूप हो जाता है और दक्षिणभाग पुरुष कहलाता

---

१. पद्मपुराण, पातालखण्ड २८।

२. राधिकावचनं श्रुत्वा प्रहस्य मधुसूदनः। मामारुहेत्येवमुक्त्वा सोन्तर्धानं चकार ह ॥
वही ५२, ४।

३. क्षणं शरीरमुत्स्रष्टुं कोपात् सर्वाः समुद्यताः। स्वात्मानं दर्शयायासु राधिकां गोपिकागणम् ॥
वही ५२, १०–११।

४. नाना मूर्तीर्विधायात्र सह ताभिर्जनार्दनः। चकार च पुनः क्रीड़ां कामुकीनां मनोहराम् ॥
ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड ५२, २७।

५. वही ५३, २–१०

६. स चात्मा स परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते। देवीभागवत पुराण ९, २, २४।

७. स कृष्णः सर्वसृष्ट्यादौ सिसृक्षन्नेक एव च। वही ९, २, २६

है। इसी प्रकृति के साथ रासेश रासमण्डल में रासक्रीड़ा करते हैं।[1] इस प्रकार आधिदैविक अर्थ में रासलीला का आशय सृष्टि के हेतु प्रकृति तथा पुरुष का सम्बन्धमात्र है। श्रीकृष्ण के इस रास-संयोग से उनकी चित्शक्ति ने सौ मन्वन्तर तक गर्भ धारण किया और सुवर्ण की आभा के तुल्य एक दिव्य अण्ड को उत्पन्न किया जो सम्पूर्ण विश्व का आधार था।[2] प्रकृति स्वयं जड़ है। अतः स्वतः सृष्टि करने में सर्वथा असमर्थ है। श्रीकृष्ण द्वारा चेतना के बीज का सम्बन्ध प्राप्त करके ही प्रकृति सृष्टि करने में समर्थ होती है।

आध्यात्मिक अर्थ में रासलीला योगियों के अन्तःकरण में नित्य हुआ करती है। इस अर्थ में वृन्दावन को सहस्रदलकमल के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार योगपरम्परा में सहस्रदलकमल की एक सहस्र पंखुड़िया नीचे की तरफ झुकी रहती हैं, उसी प्रकार वृन्दावन के भी समस्त वृक्ष अधोमुख रहते हैं।[3] यही साम्य वृन्दावन को कमल की तुलना प्रदान करता है।

समष्टि तथा व्यष्टि के पारस्परिक अभेद के सिद्धान्त को स्वीकार करके लययोग की परम्परा में जीवशरीर में सहस्रदलकमल में पुरुष की सत्ता तथा मूलाधारचक्र में प्रकृति की सत्ता स्वीकार की गई है। यही प्रकृति साढ़े तीन आंटे लगाकर सर्पिणी के आकार में अधोमुख होकर स्थित रहती है। इसी को कुलकुण्डलिनी शक्ति के नाम से भी जाना जाता है। यही प्रत्येक प्रकार की शक्ति का स्रोत स्थान है। यहीं से शक्ति निकलकर मन, इन्द्रियों तथा शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाती रहती है। जब तक यह अधोमुख रहती है, तब तक जीव विषय-वासना में लिप्त रहता है। जब योगाभ्यास अथवा जपयोग द्वारा कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी हो जाती है तो धीरे-धीरे सहस्रदलकमल में विराजमान परमात्मा की तरफ चलने लगती है। इसी समय जीव के सम्पूर्ण विषय-वासना सम्बन्धी विकारों का नाश हो जाता है। उसके मन का निग्रह और प्रज्ञा की स्थिरता हो जाती है। वैराग्यभाव का उदय उसे आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करता है। धीरे-धीरे उसके मन की वृतियां तथा इन्द्रियां विषय-पदार्थों का सर्वथा परित्याग करके परमात्मा में मिल जाती हैं। प्रकृति तथा पुरुष का यह मिलन-संयोग ही रास कहा जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में भगवती श्रीप्रिया राधा ही प्रकृति अथवा कुलकुण्डलिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्ण परमात्मा अथवा पुरुष हैं। वृन्दावन सहस्रदलकमल है। गोपसुन्दरियां अन्तःकरण की वृत्तियां हैं। श्रीकृष्ण की मुरली की श्रुतिमधुर झंकृति ही प्रणव का वह नाद है जिसे योगी सुनते हैं। इस नाद का श्रवण करते ही गोपसुन्दरियां विषय-रूपी संसार का त्याग करके परमात्मा-रूपी श्रीकृष्ण से मिलने चल पड़ती हैं।

---

१. **दृष्ट्वा तां तु तया सार्धं रासेशो रासमण्डले। रासोल्लासे सुरसिको रासक्रीड़ां चकार ह॥**
देवीभागवत पुराण ९, २, ३६।

२. **अथ सा कृष्णचिच्छक्तिः कृष्णगर्भं दधार ह।**
शतं मन्वन्तरान्ते च कालेऽतीतेऽपि सुन्दरी।
सुषाव डिम्बं स्वर्णाभं विश्वाधारालयं परम्॥ वही ९, २, ४५–४७।

३. **वृन्दावनस्थास्तरवः सर्वे चाधोमुखाः स्मृताः।**
श्रीसत्यार्थविवेक में उद्धृत, स्वामी दयानन्द पृ० ३९३।

वास्तव में कुण्डलिनी शक्ति के जाग जाने मात्र से ही प्रकृति का परमात्मा से मिलन नहीं होता। षट्चक्रों का भेद करने के लिए योगमार्ग में अनेक क्रियाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। ये चक्र सुषुम्णा नाड़ी के साथ गुम्फित हैं। इनका भेदन करके कुण्डलिनी शक्ति को सहस्रदल-कमल में स्थित परमात्मा पुरुष के समीप ले जाने में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं। साधक को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। नाभिचक्र का भेदन होते ही साधक-योगी में कुछ साधारण सिद्धियों का चमत्कार प्रकट हो जाता है। इस समय गुरुसन्निधि में भी अभिमान होने का भय बना रहता है। रासलीला के प्रसंग में भी गोपियों को भगवान् की अनुकम्पामयी सिद्धि की उपलब्धि से अभिमान हो गया था। जब कुण्डलिनी शक्ति हृदय में अनाहत चक्र का भेदन करके स्थित होने लगती है तो साधक योगी तन्मय हो जाता है। यही भाव गोपियों को भी प्राप्त हो गया था। दोनों भ्रू के मध्य में विद्यमान आज्ञाचक्र में कुण्डलिनी के स्थित होने पर चैतन्य का ज्ञान प्रकट होता है और साधक-योगी त्रिकालज्ञता का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। जिस प्रकार गोपियों को श्रीकृष्ण में परमात्मदर्शन प्राप्त हुआ था।[1] अन्ततः जब शक्ति का परमात्मा के साथ कमल में संयोग हो जाता है तो योगी को ब्रह्म तथा ब्रह्ममय जगत् का ज्ञान हो जाता है और वह परमानन्द की पीयूषप्रस्राविणी मन्दाकिनी की शीतलता के आनन्द में डूब जाता है। इस प्रकार अपने आध्यात्मिक अर्थ में योगी के अन्तःकरण में नित्य रासलीला का विहार होता रहता है।

रासलीला की लाक्षणिक व्याख्या करते हुए स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्रीजी) ने श्रीकृष्ण को तत्पदार्थ और गोपांगनाओं को त्वं पदार्थ स्वीकार करके उनकी पारस्परिक क्रीड़ा को ही रास के रूप में माना है।[2] इनके मतानुसार भगवान् और गोपांगनाएं दोनों ही सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। अतः लीला के अप्राकृत होने के कारण किसी भी प्रकार की मर्यादा के उल्लंघन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।[3]

वेदवीथिपथिक श्रीमोतीलाल शर्मा ने रासपञ्चाध्यायी का वैदिक परिभाषाओं के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया है। 'गच्छतीति गौः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार गतिभाव के कारण सौम्य प्राण ही पारमेष्ठ्य गोतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी गतिप्रधान गोतत्त्व के संचार से इस लोक को गोष्ठान कहा जाता है। इसी गोष्ठान की सामवेद के अनुसार गोसव संज्ञा है और पौराणिक परम्परा में गोलोक नाम है। गत्यर्थक व्रज धातु के संबंध से ही इसको व्रजधाम कहा जाता है। व्रजधाम में अंगिरा तथा भृगुधारा प्रवाहित होती हैं। जिनके द्वारा क्रमशः शब्द और अर्थ की सृष्टि होती है। दोनों धारायें क्रमशः सरस्वती तथा आम्भृणी कहलाती हैं। आम्भृणी को ही पौराणिक परम्परा में राधा कहा गया है।[4]

---

१. **न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।**

श्रीमद्भागवत महापुराण १०, ३१, ४।

२. भगवत्तत्व पृ० २१८।

३. वही पृ० २२०।

४. सांस्कृतिक व्याख्यानपञ्चक, श्रीमोतीलाल शर्मा पृ० २०७–२१०।

अभिमान का दलन करने वाले गोपिकावल्लभ श्रीकृष्ण की जय हो। यहीं पर प्रथम श्लोक की व्याख्या में यह बताया गया है कि रासपंचाध्यायी सर्वथा निवृत्तिपरा है और इसका प्रधान उद्देश्य श्रीकृष्ण का कामदेव पर विजय प्राप्त करना था।[१] फलतः सामान्यबुद्धि से विचार करके जो व्यक्ति रासलीला को कामविकार से सम्बन्धित लीला समझ लेते हैं, यह सर्वथा भ्रान्त धारणा है।[२] क्योंकि सर्वप्रथम तो भगवान् श्रीकृष्ण ने सात वर्ष की अवस्था में गोवर्धनधारणलीला की थी।[३] इस प्रकार आठ वर्ष की अवस्था में रासलीला हुई थी। अत्यन्त स्थूल भौतिक दृष्टि वाले व्यक्ति भी आठ वर्ष की आयु वाले बालक में कामवासना की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करते ।

योगमार्ग की परम्परा में जब योगी को कायव्यूह की सिद्धि प्राप्त हो जाती है तो वह एक साथ अनेक शरीरों का निर्माण कर सकता है और अनेक स्थानों पर भिन्न-भिन्न शरीरों द्वारा विद्यमान रहकर पृथक्-पृथक् कार्य सम्पादन करने की विलक्षण शक्ति से अधिजुष्ट हो जाता है।[४] इस प्रकार के अनेक उदाहरण संस्कृत तथा पाली साहित्य में प्राप्त होते हैं। जनवसभसुत्तन्त में ब्रह्म सनङ्कुमार ने तैंतीस देवताओं की सभा में अपने को प्रत्येक देवता के समीप के आसन पर प्रकट किया था और प्रत्येक देवता ने सनङ्कुमार की अपने निकट उपस्थिति का अनुभव किया था।[५] श्रीमद्भागवत महापुराण में भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में अनेक रूप धारण करने के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। रासाष्टक में श्रीविल्वमंगल द्वारा प्रस्तुत किये गए रास के सुन्दर वर्णन से भी यह स्पष्ट है कि प्रत्येक गोपी के पश्चात् श्रीकृष्ण की स्थिति और श्रीकृष्ण की प्रत्येक विग्रह-मूर्त्ति के पश्चात् गोपी की विद्यमानता थी।[६] रासलीला में श्रीकृष्ण अपनी योगशक्ति के द्वारा एक

---

१. **ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा।'**
तस्माद्व्रासक्रीडाविडम्बनं कामविजयख्यापनायेत्येव तत्त्वम्। किञ्च शृङ्गारकथापदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्यायी। श्रीमद्भागवत महापुराण १०, २९, १, श्रीधरस्वामी।

२. "What but an unclean mind can see aught that is impure in the child dancing as lover and beloved ? Let us turn from this, remembering that till the nineteenth century this story provoked only devotion and not ribaldry and it is only with the coming of the grosser type of western thought that you have these ideas put into the Bhagvat puran."
श्रीमती एनी बेसेन्ट, श्रीमद्भागवतादर्श में उद्धृत पृ० ४३४।

३. **क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम्। ततो नो जायते शंका व्रजनाथ तवात्मजे॥**
श्रीमद्भागवत महापुराण १०, २६, १४।

४. रासपञ्चाध्यायी, रासलीलारहस्य पृ० १६।

५. Le rituel de la devotion Krsnaite, Rasik Vihari Joshi, Introduction p. 1.

३. **अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।**
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥
हरिवंश, विष्णुपर्व २०, २५ पर नीलकण्ठ द्वारा उद्धृत।

इस प्रकार विभिन्न पुराणों के रासलीलाविषयक तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि रासलीला के सूक्ष्म तत्त्व हरिवंश पुराण, ब्रह्मपुराण तथा विष्णुपुराण में क्रमशः विकसित होते हुए श्रीमद्भागवत महापुराण में पूर्ण रूप में विकास को प्राप्त कर चुके थे। पद्मपुराण और ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में उत्तरकालीन प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है।

आधिभौतिक दृष्टि से विचार करने पर श्रीमद्भागवत महापुराण में उपवर्णित रासलीला के वर्णन की समीक्षा से यह प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण का रासलीला करने का प्रधान लक्ष्य एक तरफ परमहंसों, साधकों तथा भक्तों को साधनापद्धति का उपदेश करना था, तो दूसरी तरफ कामदेव का दर्प दलन करके उस पर विजयप्राप्ति के साथ अपने पूर्णावतार को प्रमाणित करना था।

श्रीमद्भागवत महापुराण के वक्ता थे जीवन्मुक्त तथा परमयोगी श्रीशुकदेव और श्रोता थे महाराज परीक्षित् तथा असंख्यात परमहंसश्रेणी के मुनिजन। कथाकाल में एक भी गृहस्थी विद्यमान नहीं था। केवल परीक्षित् ही एक गृहस्थी था किन्तु वह भी विप्राभिशाप के कारण सातवें दिन होने वाली अपनी मृत्यु की असंदिग्ध तिथि जानकर विरक्त कोटि में प्रवेश कर चुका था। इधर जिन श्रीशुकदेव ने उपनयन संस्कार के लिए गुरु के समीप जाने तक की प्रतीक्षा नहीं थी। उनके पीछे-पीछे विरह से आतुर 'पुत्र ! पुत्र !' कहकर श्रीव्यास जा रहे थे। प्रत्येक वृक्ष से गूंजती हुई पुत्र शब्द की प्रतिध्वनि उनके ज्ञान का उपहास कर रही थी।[1] जो शुकदेव गोदोहनकाल से अधिक किसी गृहस्थी के घर पर नहीं ठहरते।[2] जिनको स्त्री और पुरुष के भेद का ज्ञान नहीं था।[3] उनसे किसी मुमुक्षु के सामने शृंगारमयी कामभावनाओं के उपदेश का विचार करना अपनी बुद्धि को तिलांजलि प्रदान करना है।

श्रीमद्भागवत का दूसरा नाम 'पारमहंसी संहिता' है। यह प्रत्येक अध्याय के अन्त में "इति पारमहंस्यां संहितायां" से प्रमाणित हो जाता है। पारमहंसी शब्द का अर्थ है परमहंसों से सम्बन्धित संहिता।[4] इस प्रकार सम्पूर्ण रासपञ्चाध्यायी में परमहंसों को साधना से संबंधित अन्यान्य आध्यात्मिक अर्थों का ज्ञान होता है। परमहंसों के पक्ष में प्राप्त होने वाले अर्थों का संकेत हमने अपने प्रस्तुत 'श्रीरासपंचाध्यायी के सांस्कृतिक अध्ययन' में स्थान-स्थान पर स्पष्ट रूप में कराया है। विस्तार के भय तथा पुनरावृत्ति के संकोच से यहां भूमिका में पुनः विवेचन करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

श्रीधरस्वामी ने श्रीरासपंचाध्यायी की टीका के प्रारम्भ में मंगलाचरण के श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्मा आदि को जीतने के कारण कामदेव को अभिमान हो गया था। उस

---

१. **यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।**

श्रीमद्भागवत महापुराण १, २, २।

२. **स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्।** वही १, ४, ८

३. **तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥**

वही १, ४, ५।

४. **परमहंसानामियं पारमहंसी।**

तरफ प्रत्येक दो-दो- गोपी के बीच में प्रकट थे, तो दूसरी तरफ गोपियों के पतियों के पास भी गोपीरूप से उपस्थित थे।[1]

पौराणिक परम्परा में यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् थे।[2] श्रीकृष्ण की भगवत्ता तथा पूर्णावतारत्व के विषय में ब्रह्मा तथा इन्द्र को भी प्रारम्भ में सन्देह हुआ। ब्रह्मा ने गौओं तथा सखाओं का हरण कर लिया।[3] श्रीकृष्ण ने एक वर्ष तक स्वयं गौओं, गोवत्सों तथा सखाओं का रूप धारण किया।[4] ब्रह्मा के मन से सन्देह की निवृत्ति हुई और उसने श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानकर स्तुति की। इन्द्र ने भी संदिग्ध होकर मूसलाधार वर्षा प्रारंभ की,[5] तो श्रीकृष्ण ने गोवर्धन धारण करके अपने पूर्णावतार को प्रमाणित किया।[6]

इसी प्रकार कामदेव के मन में भी श्रीकृष्ण को पराजित करने के लिए अहंकार का भाव उत्पन्न हुआ क्योंकि कामदेव केवल गोवर्धनधारण आदि सामान्य घटनाओं से श्रीकृष्ण को पूर्णावतार तथा भगवान् मानने को प्रस्तुत नहीं था।[7] श्रीकृष्ण ने कामदेव के रणनिमन्त्रण के साथ-साथ उसकी सम्पूर्ण सन्धाओं को सहर्ष स्वीकार किया। शतकोटियूथ गोपिकाओं के रूप में एक दुर्ग की रचना हुई, जिसमें कामदेव प्रविष्ट हो गया। शारदी शुभ्र ज्योत्स्ना का काल चुना गया और जब सुधांशु, वसन्त, कालिन्दी का सैकत पुलिन, निकुंज तथा सुगंधित सुमनसमीर ये समस्त उपादान कामदेव के सहकारी के रूप में तैयार हो गये[8] तो मन्मथमन्मथ श्रीकृष्ण ने रासलीला करके कामदेव पर विजय प्राप्त की।

श्रीमद्भागवत महापुराण में वर्णित रासपंचाध्यायी के प्रथम श्लोक का प्रारम्भ ही 'भगवान्' शब्द द्वारा किया गया है। श्रीकृष्ण के लिए यह साभिप्राय विशेषण सिद्ध करता है कि श्रीशुकदेव को यह लीला साक्षात् परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण की लीला के रूप में ही अभिप्रेत थी। फलतः इसका अध्ययन भगवान् की लोकोत्तर लीला समझकर ही करना चाहिए। यहां श्रीकृष्ण के लिए जितने विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उन सब के द्वारा श्रीकृष्ण के पूर्णावतार

---

१. **मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः।**
श्रीमद्भागवत महापुराण १०, ३३, ३८।

२. **एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।** वही १, ३, २८।

३. **अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितुर्द्रष्टुं मञ्जु महित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान्।** वही १०, १३, १५।

४. **ततः कृष्णो मुदं कर्त्तुं तन्मातृणाञ्च कस्य च। उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः॥**
वही १०, १३, १८।

५. **स्थूलस्थूला वर्षधारा मुञ्चत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः। जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत नतोन्नतम्।**
श्रीमद्भागवत महापुराण १० २५, १९।

६. **दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः।** वही १०, २५, १९।

७. सांस्कृतिक व्याख्यान **पंचक,** श्री मोतीलाल शर्मा पृ०२१८–२०।

८. भगवत्तत्त्व, श्रीहरिहरानद सरस्वती पृ० २२४–२५।

होने का प्रमाण प्राप्त होता है। रमण करते समय श्रीकृष्ण को 'आत्माराम',[1] दर्शन देते समय 'मन्मथमन्मथ'[2] और रासलीला करते समय 'योगेश्वर'[3] कहा गया है। यदि रासलीला का सम्बन्ध कामवासना की भावना के साथ होता तो श्रीकृष्ण के लिए 'भोगेश्वर' अथवा 'कामेश्वर' विशेषण प्राप्त होता। श्रीकृष्ण ने तो गोपसुन्दरियों के साथ उसी प्रकार रमण किया था जिस प्रकार एक नन्हा-सा बालक जल में अथवा दर्पण में पड़े हुए अपने ही प्रतिबिम्ब के साथ क्रीड़ा करता है।[4] श्रीरासपंचाध्यायी के अन्तिम श्लोक से यह स्पष्ट है कि श्रद्धापूर्वक इसके वर्णन तथा श्रवण से काम-संस्कार का सर्वथा उन्मूलन हो जाता है। यही इस लीला का प्रधान प्रयोजन है। इसी के अनन्तर साधक भक्त को पराभक्ति की प्राप्ति होती है।[5]

--रसिकविहारी जोशी

---

१. श्रीमद्भागवत महापुराण १०, २९, ४२

२. वही १०, ३२, २।

३. वही १०, ३३, ३।

४. **रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।** वही १०, ३३, १७।

५. **भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।**
वही १०, ३३, ४०।

श्रीरासपञ्चाध्यायी

प्रथमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच[1]

भगवानपि ता रात्रीः[2] [3]शरदोत्फुल्लमल्लिकाः[4] ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन[5] शंतमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥२॥

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं[6] रमाननाभं[7] नवकुङ्कुमारुणम् ।
वनञ्च तत्कोमलगोभिरञ्जितं[8] जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्[9] ॥३॥

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः[10] ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः[11] स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः[12] ॥४॥

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥५॥

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्[13] ॥६॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥७॥

---

१. कल० २ । श्रीबादरायणिरुवाच ।
२. बम्ब० टि० विज० । तां रात्रिं ।
३. कल० २ । शारदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
४. बम्ब० टि० विज० । मल्लिकां ।
५. बम्ब० टि० विज० । ह्यरुणैश्च ।
६. बम्ब० टि० विज० । मुकुन्दस्त ।
७. मद्रा० । रामाननाभं ।
८. मद्रा० । तत्कोमलगोभिरंकितं ।
९. बम्ब० टि० विज० । मनोरमम् ।
१०. बम्ब० टि० विज० । निषक्त ।
११. बम्ब० टि० विज० । मलक्षिताशयाः ।
१२. कल० २ टि० । स यत्र कार्त्तस्वरलोल-कुण्डलाः ।
१३. मद्रा० । भाजनम् ।

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः[1] ॥८॥
अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥९॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥१०॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥११॥

राजोवाच[2]

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥१२॥

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥१३॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य[3] निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१४॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं[4] सौहृदमेव च[5] ।
नित्यं हरौ विदधतो[6] यान्ति तन्मयतां हि ते ॥१५॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे[7] ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विपर्ययः ॥१६॥
ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः ।
अवदद्वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्[8] ॥१७॥

---

१. **मद्रा०** । काश्चन । **बम्ब० टि० विज०** । योषितः ।
२. **कल० २; वृन्दा०** । श्रीपरीक्षिदुवाच ।
३. **कल० २ टि०** । अव्यक्तस्याप्रमेयस्य ।
४. **बम्ब० टि० विज०** । मोहं मैत्रीं ।
५. **कल० २ टि०** । मेव वा ।
६. **कल० २ टि०** । विदधते ।
७. **मद्रा०** । कार्योऽधोक्षजे भगवत्यजे ।
८. **मद्रा०** । उवाच ।
९. **बम्ब० टि० विज०** । वाचः पाशैः ।

श्रीभगवानुवाच

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः[1] ।
व्रजस्यानामयं[2] कच्चिद्ब्रूतागमनकारणम् ॥१८॥
रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता ।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥१९॥
मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः ।
विचिन्वन्ति[3] ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम् ॥२०॥
दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम् ।
यमुनानिललीलैजत्तरूपल्लवशोभितम्[4] ॥२१॥
तद्यात माचिरं गोष्ठं[5] शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः ।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च[6] तान् पाययत दुह्यत ॥२२॥
अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।
आगता ह्युपपन्नं वः[7] प्रीयन्ते मयि[8] जन्तवः ॥२३॥
भर्तुः शुश्रूषणं[9] स्त्रीणां परो[10] धर्मो ह्यमायया ।
तद्बन्धूनाञ्च कल्याण्यः[11] प्रजानाञ्चानुपोषणम् ॥२४॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी[12] ॥२५॥
अस्वर्ग्यमयशस्यञ्च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।
जुगुप्सितञ्च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥२६॥
श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्त्तनात् ।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥

---

१. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर० । करवाम ।
२. कालि०; त्रिचु० । व्रजस्थानां ।
३. बम्ब० टि० विज० । विचिन्वन्तो ।
४. बम्ब० टि० विज० । ऽनिलनीरैज ।
५. मद्रा० टि० मुनि० । कल २ । घोषं ।
६. मद्रा० । बाला वत्साश्च ।
७. मद्रा०; बम्ब० टि० विज० । तत् ।
८. मद्रा० टि० मुनि०; कल० २ । मम ।
९. मद्रा० । भर्तृ शुश्रूषणं ।
१०. मद्रा० । परमो । अस्मिन्पाठे छन्दोभङ्गः सम्पद्यते ।
११. बम्ब० टि० विज० । कल्याणं ।
१२. बम्ब० टि० विज० । लोके शुचिर-पातकी ।

श्रीशुक उवाच

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥२८॥
कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्-[1]
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं[2] लिखन्त्यः ।
अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुंकुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः[3] स्म तूष्णीम् ॥२९॥
प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्त्तितसर्वकामाः ।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥३०॥

गोप्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता भजस्व[4] दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते[5] मुमुक्षून् ॥३१॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे[6] त्वयीशे[7]
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥३२॥
कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये[8] पतिसुतादिभिरार्त्तिदैः किम् ।

---

१. **बम्ब० टि० विज०** । न्यक्कृत्य-वक्त्रवन-जान्यतितापशुष्यत् ।
२. **बम्ब ० टि० विज०** । महीं ।
३. **मद्रा०; बम्ब० टि० वीर०** । भराश्च ।
४. **कल० २ टि०** । भक्त्या अथवा भक्तान् ।
बम्ब० टि० विज० । भक्त्या भजेम ।
बम्ब० टि० वीर० । प्राप्ता भजस्व ।
५. **बम्ब० टि० वीर० वीज०** । भजतो ।
६. **बम्ब० टि० विज०** । अस्त्येव तत्तदपि देववरे त्वयीशे ।
७. **मद्रा०** । त्वयीश ।
८. **कल० २ टि०; बम्ब० टि० विज०** । नित्याप्रियैः ।

तन्नः प्रसीद परमेश्वर[1] मा स्म छिन्द्या[2]
आशां भृतां[3] त्वयि चिरादरविन्दनेत्र[4] ॥३३॥
चित्तं[5] सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला-
द्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥३४॥
सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥३५॥
यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग[6]
स्थातुं त्वयाभिरमिता[7] बत पारयामः ॥३६॥
श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-[8]
स्तद्वद्वयञ्च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥३७॥
तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः[9] ।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥३८॥

---

१. मद्रा०; कल २; बम्ब० टि० वीर० विज०। वरदेश्वर।
२. कल० २ टि०। छिन्द्यात्।
३. कल० २। धृतां।
४. बम्ब० टि० विज०। परामरविन्दनेत्र।
५. बम्ब० टि० विज०। चित्ते सुखेन।
६. मद्रा० टि० मुनि०। समक्षमञ्ज।
७. बम्ब० टि० विज०। त्वया विरहिता।
८. कल० २। उतान्यसुरप्रयासं।
बम्ब० टि० विज०। कृतोऽन्य।
९. त्रिचु०। वसतिस्त्व।

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री[1]-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः ॥३९॥
का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्छितेन[2]
सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः[3] पुलकान्यबिभ्रन् ॥४०॥
व्यक्तं भवान् व्रजभयार्त्तिहरोऽभिजातो[4]
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्त्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥४१॥

श्रीशुक उवाच

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्[5] ॥४२॥
ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ॥४३॥
उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः[7] ।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन्वनम् ॥४४॥
नद्याः पुलिनमाविश्य[8] गोपीभिर्हिमवालुकम्[9] ।
रेमे[10] तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना[11] ॥४५॥

---

१. कल० २ टि० । कुण्डलश्रि ।
२. वृन्दा०; कल २ । पदायतवेणुगीत ।
बम्ब० टि० विज० । पदामृतवेणुगीत ।
३. मद्रा० । द्रुमद्विजमृगाः ।
४. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर० । व्रजजनार्त्तिहरो हि जातो ।
५. कल० २ टि० । योगीश्वरेश्वरः ।
६. बम्ब० टि० विज० । न्यरीरमत् ।
७. मद्रा० । यूथपः ।
८. मद्रा० । मासाद्य ।
९. मद्रा० । हेमवालुकम् ।
१०. मद्रा० । जुष्टं ।
११. बम्ब० टि० वीर० । तत्तरलासङ्गिकुमुदामोदवायुना । बम्ब० टि० विज० । तत्तरलानन्दि ।

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-[1]
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः[2] ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-[3]
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥४६॥
एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः ।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं[4] भुवि[5] ॥४७॥
तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानञ्च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥४८॥

इति प्रथमोऽध्यायः

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे भगवतो रासक्रीड़ावर्णनं नामैकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

---

१. बम्ब० टि० विज०। करालकेली।
२. बम्ब० टि० विज०। कराग्र।
३. बम्ब० टि० विज०। क्ष्वेलावलोक।
४. बम्ब० टि० विज०। आधिक्याभ्यधिकं भुवि।
५. कल० २ टि०। ह्यधिकं भुवि।

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः ।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्[1] ॥१॥
गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः[2] ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥२॥
गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः[3] कृष्णविहारविभ्रमाः ॥३॥
गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता[4] विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम्[5] ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥४॥
दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः[6] ।
नन्दसूनुर्गतो[7] हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः[8] ॥५॥
कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नाग[9][10] चम्पकाः[11] ।
रामानुजो मानिनीनामितो[12] दर्पहरस्मितः ॥६॥
कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये[13] ।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥७॥

---

१. **मद्रा०** । यूथपं ।
२. **मद्रा०** । विभ्रमेक्षणैः ।
३. **बम्ब० टि० विज०** । नावेदिषुः ।
४. **मद्रा०** । सङ्गता ।
५. **बम्ब० टि० विज०** । विचेरु ।
६. **बम्ब० टि० विज०** । किंशुक ।
७. **बम्ब० टि० विज०** । नन्दसूनुरिहागात्कि सह हासावलोकनैः ।
८. **मद्रा०** । प्रेमहासविलोकनैः ।
९. **कल० २ टि०** । कुरुबकाशोक ।
१०. **मद्रा०; बम्ब० टि० वीर०** । नीपोदुम्बर-चन्दनाः ।
११. **बम्ब० टि० विज०** । चम्पक ।
१२. **बम्ब० टि० वीर०** । मानिनीनां गतो । **बम्ब० टि० विज०** । मानिनीनां दोग्धा नन्दस्य चात्मजः ।
१३. **मद्रा०** । गोविन्द चरणप्रिये । (अस्मिन् पाठे गोविन्दपदस्य सम्बोधनत्वेन नार्थ-सङ्गतिः) ।

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके[1] ।
प्रीतिं वो जनयन्यातः करस्पर्शेन माधवः ॥८॥
चूतप्रियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः[2] ।
येऽन्ये परार्थभवका[3] यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥९॥
किं ते कृतं क्षिति तपो[4] बत केशवांघ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यंघ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा
आहो वराहवपुषः[5] परिरम्भणेन ॥१०॥
अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन्दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो[6] वः ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुंकुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥११॥
बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥१२॥
पृच्छतेमा[7] लता बाहूनप्याश्लिष्टा[8] वनस्पतेः ।
नूनं तत्करजस्पृष्टा[9] बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥१३॥*

---

१. मद्रा०। जातियूधिके।
२. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर०। बकुलाम्र-कपारिजाताः।
३. कल० २ टि०। भविका।
बम्ब० टि० विज०। भविनः।
४. बम्ब० टि० विज०। शुभं।
५. बम्ब० टि० विज०। वपुषा।
६. बम्ब० टि० विज०। मीश्वरो वः।
७. बम्ब०। पृच्छते वा।
बम्ब० टि० विज०। पश्यतेह।
बम्ब० टि० वीर०। पश्यतेमा।
८. कल० २ टि०। श्लिष्या।
९. मद्रा०; बम्ब० टि० विज० वीर०। करजस्पर्शात्।
* कल० २ टि०। इतस्त्रयोविंशपर्यन्तं दशश्लोका विजयध्वजमध्ये नैव सन्ति।

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥१४॥
कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम् ।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम् ॥१५॥
दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् ।
रिङ्गयामास काप्यंघ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः[1] ॥१६॥
कृष्णरामायिते[2] द्वे तु गोपायन्त्यश्च[3] काश्चन ।
वत्सायतीं हन्ति[4] चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥१७॥
आहूय[5] दूरगा यद्वत्कृष्णस्तमनुकुर्वतीम्[6] ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥१८॥
कस्याश्चित्[7] स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु[8] ।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥१९॥
मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया[9] ।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम्[10] ॥२०॥
आरुह्यैका[11] पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरा[12] नृप ।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक्[13] ॥२१॥
तत्रैकोवाच[14] हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् ।
चक्षूंष्याशवपिदध्वं[15] वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥२२॥

---

१. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर०। निस्वनौ।
२. मद्रा० ' कृष्णरामयिते।
३. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर०। गोपवत्सायिताः पराः।
४. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर०। वत्सायितां गृहीत्वान्या भ्रामयित्वा न्यपातयत्। कृष्णायिता घ्नतीवान्या तत्रैका तु बकायतीम्।
५. कल० २ टि०। न्यपाच्चान्या।
६. मद्रा०। आहूयद्दूरगा।
बम्ब० टि० वीर०। आह्वयद्दूरगा।
७. कालि०; बम्ब०; कल २। तमनुवर्त्ततीम्।
८. कालि०; कल २; बम्ब०; वृन्दा०। कस्यांचित्।
९. मद्रा०। अनु।
१०. कल० २ टि०। हि वः।
११. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर०। वितत्यो-न्निदधेऽम्बरम्।
१२. कल० २। आरुह्यैकां।
१३. कल० २। शिरस्याहापरा।
१४. मद्रा०; बम्ब०। दण्डधृत्।
१५. मद्रा०; कल० २ टि०। तत्रैका चाह।
१६. मद्रा०। चक्षूंष्याशु पिदध्वं वो।

बध्नान्यया[1] स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले ।
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥२३॥
एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्[2] ।
व्यचक्षत[3] वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥२४॥
पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः ।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः[4] ॥२५॥
तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः ।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्त्ताः समब्रुवन् ॥२६॥
कस्याः[5] पदानि चैतानि यातायां नन्दसूनुना ।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः[6] करिणा यथा ॥२७॥
अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥२८॥
धन्या अहो ! अमी आल्यो गोविन्दांघ्रयब्जरेणवः ।
यान्ब्रह्मेशो[7] रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥२९॥
तस्या अमूनि न क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।
यैकापहृत्य[8] गोपीनां रहो[9] भुंक्तेऽच्युताधरम् ।३०॥
न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणांकुरैः ।
[10]खिद्यत्सुजातांघ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं स्त्रियः ॥३१॥*

---

१. मद्रा०; बम्ब०। बध्नन्त्येका स्रजा काञ्चित्त्वामद्योलूखले हरे। बध्नामि भाण्डभेत्तारं हैयङ्गवमुषं त्विति। (उभय त्राधिका द्वितीया पंक्तिः)।
२. कल० २। लतातरुन्।
३. बम्ब० टि० विज०। व्यचक्षन्त।
४. मद्रा०; बम्ब० टि० विज० वीर०। लतादिभिः।
५. मद्रा०। तस्याः।
६. कालि०। करेण्वाः।
बम्ब० टि० विज०। करिण्याः।
७. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर०। यान्ब्रह्मेशादयो देवाः दधुर्मूर्ध्न्यधनुत्तये। बम्ब० टि० विज०। यान्ब्रह्मेशौ रमा देवी दधुर्मूर्ध्ना तदूतये।
८. बम्ब० टि० विज०। एकापहृत्य।
९. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर०। धनं।
१०. मद्रा० टि० मुनि०। सीदत्।
* वृन्दा०। अतः परं त्रयस्त्रिंशच्छ्लोकस्यान्तिमपंक्तिद्वयमास्ते। तदनन्तरं द्वात्रिंशच्छ्लोकस्य प्रथमा पंक्तिस्त्रयस्त्रिंशच्छ्लोकस्य च प्रथमा पंक्तिरिति भेदः।

इमान्यधिकमग्नानि[1] पदानि वहतो वधूम् ।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः[2] ॥३२॥
अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना ।
अत्र प्रसूनावचयः[3] प्रियार्थे प्रेयसा कृतः ।
प्रपदाक्रमणे एते[4] पश्यतासकले पदे ॥३३॥
केशप्रसाधनं त्वत्र[5] कामिन्याः कामिना कृतम् ।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥३४॥

*

रेमे तया चात्मरत[6] आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन्दैन्यं स्त्रीणाञ्चैव दुरात्मताम् ॥३५॥
[7]इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो[8] विचेतसः ।
यां गोपीमनयत्कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥३६॥
सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं[9] सर्वयोषिताम् ।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥३७॥
ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् ।
न पारयेऽहं चलितुं[10] नय मां यत्र ते मनः ॥३८॥
एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति[11] ।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥३९॥
हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥४०॥

---

१. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर० । इमान्यधि-कलग्नानि ।
२. मद्रा०; कालि०; बम्ब० टि० वीर० विज० । भाराक्रान्तानि गामिनः ।
३. मद्रा०; कल० २ टि० । प्रसूनापचयः ।
४. मद्रा० । ह्येते ।
५. कल० २ टि० । ह्यत्र ।
६. कल० २ । स्वात्मरतः ।
७. मद्रा०; कालि०; बम्ब० टि० वीर० विज० । इत्येवं प्रलपन्त्यस्ताः ।
८. मद्रा० । गोप्यश्चेरुर्विचेतसः ।
९. कालि० । वरिष्ठां ।
१०. मद्रा० । चरितुं ।
११. मद्रा० । स्कन्धमारुह्यतामिति ।
* कालि० । श्रीशुक उवाच ।

*

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः ।
ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां[1] दुःखितां सखीम्[2] ॥४१॥
तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिञ्च माधवात् ।
अवमानञ्च[3] दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥४२॥
ततोऽविशन् वनं[4] चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते ।
तमःप्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः[5] स्त्रियः ॥४३॥
तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥४४॥
पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः ।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकांक्षिताः[6] ॥४५॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां श्रीभगवदन्वेषणं नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

---

* कल० २। श्रीशुक उवाच।
१. कल० २। विश्लेषान्मोहितां।
वृन्दा०; बम्ब० टि० विज०। विष्लिष्टां।
२. कल० २ टि०। सतीम्।
३. कल० २ टि०। अपमानञ्च।
४. बम्ब० टि० विज०। गत्वा वनाद्वनं।
५. मद्रा० टि० मुनि०। हरेर्निववृतुः।
६. बम्ब० टि० विज०। कांक्षिणीः।

तृतीयोऽध्यायः

गोप्य ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि[1] ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां[2] विचिन्वते ॥१॥

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥२॥

विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्[3] वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद्[4] विश्वतोभयाद्वृषभ[5] ते वयं रक्षिता मुहुः ॥३॥

न खलु[6] गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो[7] विश्वगुप्तये सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥४॥

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां[8] संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥५॥

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किङ्करीः[9] स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय[10] ॥६॥

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः ॥८॥

---

१. बम्ब० टि० विज० । साधु तत्र हि ।
२. बम्ब० टि० विज० । त्वा दिदृक्षतां त्वयि गतासवस्त्वा ।
३. बम्ब० टि० विज० । जलाशयाद्व्याल ।
४. बम्ब० टि० विज० । मयाद्भया ।
५. बम्ब० टि० विज० । मुखादृषभ ।
६. बम्ब० टि० विज० । स खलु ।
७. बम्ब० टि० विज० । सार्चितो ।
८. बम्ब० टि० विज० । वर्य ते शरण ।
९. बम्ब० टि० विज० । भवे किकरीः ।
१०. बम्ब० टि० विज० । दर्शयन् ।

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं[1] श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥९॥

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं[2] विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥१०॥

चलसि यद् व्रजाच्चारयन्पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः[3] सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥११॥

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
घनरजस्वलं[4] दर्शयन्मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥१२॥

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।
चरणपङ्कजं शन्तमञ्च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥१३॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥

अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते[5] त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम्[6] ॥१५॥

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः[7] ॥१७॥

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।
त्यज मनाक्च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम्[8] ॥१८॥

---

१. कल० २। शरणमङ्गलं।
२. कल० २। वीक्षितं।
३. मद्रा०। सिल।
४. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर० विज०। वनरजस्वलं।
५. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर०। त्रुटि युगायते।
६. बम्ब० टि० विज०। जडवदीक्षतां पक्ष्मनुर्दृशां।
७. मद्रा० टि० मुनि०। मुहुरतिस्पृहं मुह्यते मनः।
८. बम्ब० टि० विज०। भज।

यत्ते[1] सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि यद् व्यथते[2] न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमसि धीर्भवदायुषां नः ॥१९॥

इति तृतीयोऽध्यायः

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां गोपीगीतं नामैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

---

१. बम्ब० टि० विज० । अयं श्लोको नास्ति ।

२. मद्रा०; वृन्दा०; कल० २ । तद्व्यथते । कल० २ टि० । तेनाटवीं नमसि ।

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं[1] राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥१॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥२॥
तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः ।
उत्तस्थुर्युगपत्सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥३॥

*

काचित्कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा ।
काचिद्दधार[2] तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम्[3] ॥४॥
काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।
एका तदंघ्रिकमलं[4] संतप्ता स्तनयोरधात्[5] ॥५॥
एका भ्रकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।
घ्नन्तीवैक्षत्कटाक्षेपैः[6] संदष्टदशनच्छदा[7] ॥६॥
अपरानिमिषद्दृग्भ्यां[8] जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नातृप्यत्सन्तस्तच्चरणं यथा ॥७॥

---

१. **बम्ब०** । सुस्वरा ।
* **मद्रा०; कल० २; बम्ब०; वृन्दा०** । कृष्णस्य मुखलावण्यसुधां नयनभाजनैः । आपीयापीय नातृप्यन् सन्तस्तच्चरणं यथा । एतेषु संस्करणेष्वयं श्लोकोप्युपलभ्यते ।
२. **मद्रा०** । बभार ।
३. **कालि०; बम्ब०; कल० १** । भूषितम् ।
४. **बम्ब० टि० विज०** । युगलम् ।
५. **कल० २** । स्तनयोर्न्यधात् ।
६. **मद्रा०** । घ्नन्तीवैक्षत्कटाक्षेण । **बम्ब० टि० विज०** । प्रत्यवैक्षत । **गोरख०** घ्नतीवैक्षत् ।
७. **कल० २** । निर्दष्ट ।
८. **बम्ब० टि० विज०** । ऽनिमिषं दृग्भ्यां ।

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च ।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसंप्लुता[1] ॥८॥
सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः[2] ॥९॥
ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥१०॥
ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ।
विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम्[3] ॥११॥
शरच्चन्द्रांशुसंदोहध्वस्तदोषातमः शिवम् ।
कृष्णायाः[4] हस्ततरलाचितकोमलबालुकम् ॥१२॥
तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥१३॥
तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।
चकास गोपीपरिषद्गतोर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥१४॥
सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा[5] ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः[6] संस्तुत्य[7] ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥१५॥

गोप्य ऊचुः

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् ।
नोभयांश्च भजन्त्येक[8] एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते ।
न तत्र सौहृदं धर्मः[9] स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥१७॥

---

१. बम्ब० टि० विज० । निर्भरा ।
२. बम्ब० टि० विज० । जनः ।
३. बम्ब० टि० विज० । सुरतानिल ।
४. मद्रा० टि० मुनि० । कृष्णेहाहस्ततरला । कल० २ टि० । कृष्णेहायस्ततरला ।
५. बम्ब० टि० वीर० । विभ्रमद्भ्रुवः । कल० २ टि० । विभ्रमद्भ्रुवा ।
६. बम्ब० टि० विज० । संस्पर्शनोत्कांक-कृताङ्गहृच्छयं ।
७. मद्रा० । संस्तभ्य ।
८. मद्रा०; कल० २ । भजन्त्यन्य एतन्नो ।
९. कल० २ । स्वात्मानं । बम्ब० टि० विज० । स्वार्थं तद्वित्त नान्यथा ।

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा ।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदञ्च सुमध्यमाः ॥१८॥
भजतोऽपि न वै केचिद्भजन्त्यभजतः कुतः ।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥१९॥
नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये[1] ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद[2] ॥२०॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां[3] हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः[4] ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः[5] ॥२१॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं[6] विबुधायुषापि वः ।
या मा भजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः संवृश्च्य[7] तद्वः प्रतियातु साधुना[8] ॥२२॥

इति चतुर्थोऽध्यायः

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां गोपीसान्त्वनं नाम द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

---

१. **बम्ब० टि० विज०** । मनुवृत्तयो यथा ।
२. **बम्ब०; बम्ब० टि० विज०; कल० २ टि०; बृन्दा० विज०** ।
तथैव मत्तः फलसम्पदः स्युरुच्चावचाः कल्पतरोरिवार्थिनाम् ।
३. **कल० २ टि०** । मदर्थापितलोकवेद ।
४. **कल० २ टि०** । मय्यनुवृत्तयोऽबलाः ।
५. **बम्ब० टि० विज०** । सासूयितुं नार्हथ मां प्रियं प्रियाः ।
६. **मद्रा०** । सुसाधु ।
७. **मद्रा०** । संछिद्य ।
८. **बम्ब० टि० विज०** । यो मां भजेद्दुर्जरगेह श्रृंखलाः । संवृच्य वृद्धिं प्रतियातु सोऽधुना ।

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः[1] ॥१॥
तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीड़ामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥
रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥३॥
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः[2] ॥३॥
यं मन्येरन्[3] नभस्तावद्विमानशतसङ्कुलम् ।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम्[4] ॥४॥
ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः[5] पुष्पवृष्टयः ।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥५॥
वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनाञ्च[6] योषिताम् ।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥६॥
तत्रातिशुशुभे[7] ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो[8] यथा ॥७॥
पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।

---

१. बम्ब० टि० विज० । तत्सङ्गोप ।
२. बम्ब० टि० विज० । स्वनिकटस्त्रियः ।
३. कल० २ टि० । यं मन्येत ।
४. मद्रा० टि० मुनि० । औत्सुक्यनिभृतात्मनाम् । कल० २ । मत्यौत्सुक्यभृतात्मनाम् ।
५. बम्ब० टि० विज० । खात्पेतुः ।
६. वृन्दा० । किंकिणीणां ।
७. कल० २ टि०; बम्ब० टि० विज० । तत्रापि ।
८. कल० २ टि० । मारकतो ।

स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः[1] कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥८॥
उच्चैर्जगुर्नृत्यमानाः[2] रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥९॥
काचित्समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।
उन्निन्ये पूजिता येन[3] प्रीयता साधु साध्वति ।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानञ्च बह्वदात् ॥१०॥
काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका[4] ॥११॥
तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥१२॥
कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम्[5] ।
गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम्[6] ॥१३॥
नृत्यन्ती[7] गायती काचित्कूजन्नूपुरमेखला ।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं[8] श्रान्ताधात्स्तनयोः शिवम् ॥१४॥
गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां[9] गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ॥१५॥
कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म-
वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः ।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-
स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम्[10] ॥१६॥

---

१. कल० २। रसना।
२. बम्ब० टि० विज०। जगुः कृतमदाः।
३. त्रिचु०; कालि०; कल० १; कल० २। तेन।
४. बम्ब० टि० विज०। स्रवत्कबरमल्लिका।
५. मद्रा० टि० मुनि०। मण्डिते।
बम्ब० टि० विज०। भूषितम्।
६. वृन्दा०; कल० २। प्रादात्ताम्बूल।
७. वृन्दा०; कल० २। नृत्यती।
८. मद्रा० टि० मुनि०। पादाब्जं।
९. बम्ब० टि० विज०। स्म।
१०. कल० २ टि०। रासगोष्ठ्यः।

एवं [1]परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः[2] ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः[3] ॥१७॥

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः[4] केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं[5] व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाःकुरूद्वह[6] ॥१८॥

कृष्णविक्रीड़ितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः[7] ।
कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥१९॥

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतोर्गोपयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि[8] लीलया ॥२०॥

तासामतिविहारेण[9] श्रान्तानां वदनानि सः ।
प्रामृजत्करुणः[10] प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग ! पाणिना ॥२१॥

गोप्यः [11]स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्-
गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन[12] ।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि
पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥२२॥

ताभिर्युतः[13] श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-
घृष्टस्रजः[14] स[15] कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः ।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः
श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥२३॥

---

१. कल० १ । वराभिमर्श ।
२. त्रिचु० । स्निग्धोक्षणोद्दाम ।
३. बम्ब० टि० विज० । व्रजकामिनीभिर्यथा स्वतन्त्रः प्रतिघं विडम्बयन् ।
४. बम्ब० टि० विज० । प्रमदाकुलेन्द्रियाः ।
५. बम्ब० टि० विज० । त्यक्तुं पतिं वोढुमलं ।
६. मद्रा० । माल्याभरणाः ।
७. मद्रा०; कल० २ । व्युमुह्यन् । बम्ब० टि० विज० । व्यमुह्यन्त सुरस्त्रियः ।
८. मद्रा०; कल० २ । रराम भगवांस्ताभिः ।
९. मद्रा०; कल० २ । तासां रतिविहारेण ।
१०. मद्रा० टि० मुनि० । प्रामृक्षत् ।
११. बम्ब० टि० विज० । स्फुरन्मकरकुण्डल ।
१२. बम्ब० टि० विज० । सुरतहास ।
१३. बम्ब० टि० विज० वीर० । ताभिर्ययौ ।
१४. मद्रा० टि० मुनि० । मृष्ट ।
१५. कालि० । स्व । बम्ब० । सकुच ।

सोऽम्भस्यलं[1] युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः[2] प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग ।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥२४॥

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥२५॥
एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः[3] सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥२६॥

राजोवाच[4]

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥२७॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताभिरक्षिता ।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्[5] ॥२८॥
आप्तकामो[6] यदुपतिः कृतवान्वै जुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥२९॥

श्रीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्[7] ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥३०॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा[8] रुद्रोऽब्धिजं विषम्[9] ॥३१॥

---

१. बम्ब० टि० बिज० । सोन्तर्जले ।
२. मद्रा० । प्रेम्णोक्षितः । बम्ब० टि० विज० । प्रेमेक्षितप्रहसिताभिरभिष्टुताङ्गः ।
३. बम्ब० टि० बिज० । सौभगः ।
४. कल० २ । श्रीपरीक्षिदुवाच ।
५. कल० २ । मर्षणम् ।
६. कल० २ टि० । आत्मारामो ।
७. बम्ब० टि० विज० । साहसः ।
८. मद्रा०; बम्ब० टि० विज० वीर० । नश्यत्याश्वाचरन् । कल० २ टि० । विनश्येदाचरन् ।
९. बम्ब० टि० विज० । यथा रुद्रोपिबद्विषं । कल० २ टि० । यथा रुद्रो जुषन् विषम् ।

ईश्वराणां वचः सत्यं[1] तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत्[2] ॥३२॥

कुशलाचरितेनैषामिह[3] स्वार्थो[4] न विद्यते ।
विपर्ययेण वानर्थो[5] निरहङ्कारिणां प्रभो ॥३३॥

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥३४॥

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता[6]
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥३५॥

गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव[7] देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह[8] देहभाक् ॥३६॥

अनुग्रहाय भूतानां[9] मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः[10] श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥३७॥

नासूयन्खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥३८॥

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ॥३९॥

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।

---

१. कल० २ टि० । तथ्यं ।
२. मद्रा० । बुद्धिमानेतदाचरेत् । कल० २ टि० । बुद्धिमान्न तदाचरेत् ।
३. कल० २ टि० । कुशलाचरितैरेषां ।
४. मद्रा०; कल० २ । चार्थो ।
५. बम्ब० टि० विज० । चानर्थो ।
६. कल० २ टि० । निषेवदृप्ताः ।
७. मद्रा० । सर्वेषाञ्चापि । कल० २ । सर्वेषाञ्चैव । बम्ब० टि० विज० । सर्वेषामपि ।
८. मद्रा०; कल० २ । एष क्रीडनदेहभाक् ।
९. कल० २ । भक्तानां ।
१०. बम्ब० टि० विज० । तादृशीं क्रीड़ां यां ।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
[1]हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥४०॥

इति पञ्चमोऽध्यायः

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडावर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

१. मद्रा०; बम्ब० टि० वीर० । हृद्रोगमाशु विधुनोत्यचिरेण धीरः ।

श्रीरासपञ्चाध्यायी—सांस्कृतिक अध्ययन

पहला अध्याय

श्रीशुकदेव बोले

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥१॥

योगमाया का आश्रय लेकर भगवान् ने भी शरद् ऋतु की उन रात्रियों को देखकर रमण करने का मन किया जिन रात्रियों में मल्लिका के पुष्प खिले हुए थे ।

वास्तव में इस समय श्री शुकदेव भगवान् की वसुदेव के यहां जन्मग्रहण से प्रारम्भ करके बाललीलाओं का वर्णन कर रहे थे । अकस्मात् रासलीला का वर्णन प्रारम्भ करना उनकी अहैतुकी अनुकम्पा की प्रेरणा से हुआ । इस प्रेरणा के प्रति एकमात्र कारण परीक्षित् जैसे भगवत्कथाश्रवण में उत्तम अधिकारी का विद्यमान होना था । यद्यपि प्रश्न के अभाव में ज्ञान का उपदेश नहीं होता तथापि प्रिय शिष्य के प्रति गुरुजन परमरहस्य का स्वतः उद्घाटन करते हैं । यही नियम रास-लीला के प्रारम्भ का निमित्त था ।

प्रथम श्लोक में भगवान् शब्द द्वारा ऐश्वर्य प्रभृति ६ गुणों से अधिजुष्ट तथा ब्रह्मा और शंकर के द्वारा उपास्य लीलापुरुषोत्तम नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र अभिप्रेत हैं । ब्रह्मा ने भगवान् की पाद-पूजा के लिए जो जल अर्पण किया था, वही भगवान् के चरण-नखों से निकल कर भागीरथी के रूप में प्रवाहित हुआ । यही जल शंकर सहित सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है । अतः श्रीकृष्ण के अतिरिक्त भगवान् शब्द का क्या अभिप्राय हो सकता है ।[1]

'ताः रात्रीः" इस पद से यहां उन रात्रियों की ओर संकेत किया गया है जिन रात्रियों में रमण करने के लिए भगवान् ने गोपियों को कात्यायनी व्रत के पश्चात् वचन दिया था ।[2]

१—'अपि' शब्द यह भाव प्रकट करता है कि भगवान् ने भी रमण करने की इच्छा की । इस प्रकार यह संकेत गोपसुन्दरियों के पूर्व अनुराग को व्यक्त करता है । क्योंकि गोपियों के अंतः करण में भगवान् के साथ विहार करने की प्रबल कामना थी । यद्यपि इसी प्रकार का अनुराग भगवान् के हृदय में भी विद्यमान था किन्तु वे दो बातों की प्रतीक्षा कर रहे थे :

---

१. **अथापि तत्पादनखावसृष्टं जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः ।**
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात् को नाम लोके भगवत्पदार्थः ॥
श्रीमद्भागवत महापुराण १, १८, २१

२. **यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।**
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥ वही १०, २२, २७

(क) किशोर अवस्था।[1]

(ख) शरद् ऋतु की रात्रियें।

एक तरफ जब किशोर अवस्था में मुरलीवादनचातुरी अपनी चतुरता की चरम सीमा पर पहुंचती है तो दूसरी तरफ शरद्-ऋतु की विशेष रात्रियों के प्राकट्य की समता अन्यान्य सामान्य रात्रियों में सर्वथा असम्भव है। इसी अभिप्राय से 'ताः रात्रीः' पद का प्रयोग किया गया है।

यह तो सर्वशास्त्रसम्मत तथ्य है कि किशोरावस्था में माधुर्य रस अपने पूर्ण भाव के साथ प्रकट हो जाता है। यह किशोरावस्था भी अवस्था-भेद से तीन प्रकार की होती है।[2]

(अ) प्रारम्भ की किशोरावस्था।

(ब) मध्य की किशोरावस्था।

(स) अन्त की किशोरावस्था।

इन तीनों में मध्य की किशोरावस्था में दोनों ऊरू, भुजाओं तथा वक्षःस्थल की अद्भुत अनिर्वचनीय शोभा प्रकट होती है और मूर्त्ति इतनी मधुर हो जाती है मानों सम्पूर्ण अंग सौदर्य में लिपटे हुए हों।[3] विष्णु पुराण[4] तथा हरिवंश[5] पुराण के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भगवान् ने किशोरावस्था का आश्रय लेकर ही रासलीला का प्रारम्भ किया था। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि उस समय आठ वर्ष की अवस्था में भगवान् ने अपनी अखंड, अचिन्त्य, अनिर्वाच्य इच्छा-शक्ति से अपने दिव्य, अप्राकृत शरीर में मध्य की किशोरावस्था को अभिव्यक्त करके युवती गोपकन्याओं के साथ विहार करने की इच्छा की।

यहां यह सन्देह होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण तो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र थे। समस्त प्राणियों के मनोरथों को पूर्ण करने में समर्थ थे। फिर उन्होंने शरत्काल की उन रात्रियों को उद्दीपन

---

१. **तीन प्रकार की अवस्थाएं होती हैं। (१) कौमार, (२) पौगण्ड, (३) किशोर।**

(क) "वयः कौमारपौगण्डकैशोरमिति तत्त्रिधा"

हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, प्रथम लहरी ११९

इसमें कौमार अवस्था पांच वर्ष तक, पौगण्ड अवस्था १० वर्ष तक, और किशोर अवस्था १५ वर्ष तक मानी जाती है। किशोरावस्था के अनन्तर ही युवावस्था का प्रारम्भ होता है।

(ख) "कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि।
आषोडशाच्च कैशोरं यौवनं स्यात्तथा परम्॥" वही १२०

२. **आद्यं मध्यं तथा शेषं कैशोरं त्रिविधं भवेत्।** वही १२३

३. **ऊरूद्वयस्य बाह्वोश्च कापि श्रीरुरसस्तथा।**
मूर्त्तेर्मधुरिमाद्यञ्च कैशोरे सति मध्यमे॥ वही १२७

४. **सोऽपि कैशोरकवयो मानयन् मधुसूदनः।**
रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिताहितः॥ विष्णुपुराण ५, १३, ६०

५. **युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ संकाल्य कालवित्।**
कैशोरकं मानयन्वै सह ताभिर्मुमोद ह॥ हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व २०, १८

रूप से अनुभव करके रमण करने की इच्छा कैसे की ? इसका उत्तर है कि भगवान् का अभिप्राय आलम्बनस्वरूपिणी गोपबालाओं के दिव्य प्रेम का विशेष महत्त्व प्रकट करना था।

हरिभक्तिरसामृतसिन्धु के अनुसार जिसके द्वारा अथवा जिसमें रति का आस्वाद किया जाता है—उसे विभाव कहते हैं। यह विभाव दो प्रकार का होता है।

(१) आलम्बन विभाव।

(२) उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव—प्रस्तुत प्रसंग में भगवान् तथा भगवद्भक्त दोनों आलम्बन हैं। भगवान् रति के विषय हैं तो भक्त उनके आधार हैं। जिसके निमित्त से रति की वृद्धि होती है—उसकी संज्ञा विषय है और जिसमें रति की नित्य विद्यमानता है—उसकी संज्ञा 'आधार' है।[1] गोपियों को रति का आधार होने के कारण आलम्बन रूप से उपस्थित किया गया है।

उद्दीपन विभाव उसे कहते हैं जिससे भाव उद्दीपित हों।[2] इस प्रकार जिसके आश्रय का आलम्बन लेकर रति उत्पन्न होती है—उसे आलम्बन कहते हैं और जो उस आलम्बन का स्मरण कराकर भाव को उत्तेजित करता है उसे उद्दीपन कहते हैं। भगवान् पद का एक अर्थ यह भी संभव है कि भक्तों का भरण करने के कारण 'भः' और भक्तों के संग जाने के कारण "गः" और भक्तों के अंतःकरण में निवास करने के कारण "वः", इन तीनों पदों की वाच्यता को व्यक्त करने वाले तीनों गुण जहां प्रकट हों, उसे भगवान् कहते हैं।

२—"ताः" इस विशेषण द्वारा भगवान् के मन की चमत्कृति प्रकट होती है। क्योंकि उन रात्रियों को देखकर ही उनके हृदय में रमण करने की इच्छा प्रकट हुई थी।

रात्रियों के द्वितीय विशेषण "शरदोत्फुल्लमल्लिकाः" का प्रयोग भी यहां साभिप्राय है। इसके दो अभिप्राय थे—

(क) **प्रथम अभिप्राय**—वृन्दावन की अनिर्वचनीय अतिशय शोभा को प्रकट करना।

(ख) **द्वितीय अभिप्राय**—भगवान् की भगवत्ता के महिमामय चमत्कार को प्रकट करना। वास्तव में शरद् ऋतु में मल्लिका के पुष्प कभी नहीं खिलते। शरत्काल के साथ मल्लिका की उत्फुल्लता का संयोग सर्वथा अप्रसिद्ध है। किन्तु यहां भगवान् की लीला के प्रारम्भ में उनकी अपार महिमा के चमत्कार से मल्लिका अपने आप खिल गई थी। यहां यह भी स्मरणीय है कि मल्लिका का पुष्प तो केवल उपलक्षणमात्र है। लीला के प्रारम्भ में समस्त पुष्पों का खिलना ही यहां अभिप्रेत है।

यदि 'ताः' पद के साथ द्वितीया के बहुवचन "गोपीः" पद का अध्याहार करें तो यह अर्थ होगा कि भगवान् ने उन गोपियों को देखकर रमण करने की इच्छा की, जिन गोपियों ने उत्कट तपस्या की थी।

---

१. **तत्र ज्ञेया विभावास्तु रत्यास्वादनहेतवः। ते द्विधाऽऽलम्बना एके तथैवोद्दीपनाः परे॥**
कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्च बुधैरालम्बना मताः। रत्यादेर्विषयत्वेन तथाधारतयापि च॥
हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, प्रथम लहरी १५, १६

२. **उद्दीपनास्तु ते प्रोक्ता भावमुद्दीपयन्ति ये।**" वही ११४

वैष्णवपरम्परा में गोपियों[1] के तीन प्रधान भेद स्वीकार किये गये हैं।[2]

(१) **साधन-सिद्धा**—जो अपनी स्वयं की तपःसाधना से सिद्धावस्था में पहुंचती हैं। साधनसिद्धा गोपी के भी दो अवान्तर भेद हैं। (क) यौथिकी, (ख) अयौथिकी। यौथिकी का सम्बन्ध गोपियों के अथवा साधक गोपियों के किसी यूथ-विशेष से रहता है। यौथिकी श्रेणी की गोपियां भी दो रूप से शास्त्रों में अभिवर्णित हैं। (अ) ऋषिरूपा—जो ऋषि-मुनि पद्मपुराण के अनुसार गोपियों के रूप में प्रकट हुए थे।[3] (ब) श्रुतिरूपा—जो श्रुतियां पौराणिक परम्परा के अनुसार गोपीरूप से प्रकट हुई थीं। (ख) अयौथिकी गोपी का सम्बन्ध किसी यूथ-विशेष के साथ नहीं होता।

(२) **नित्यसिद्धा**—जो गोपियां किसी भी प्रयत्न के बिना नित्य सिद्धावस्था के परम आनन्द में डूबी रहती हैं। भगवती श्रीराधा तथा चन्द्रावली प्रभृति इस कोटि में आती हैं।

(३) **देवस्वरूपा**—जो देवयोनि की स्त्रियाँ श्रीकृष्ण के साथ अवतरित हुई थीं।[4]

पद्म-पुराण में चार प्रकार की गोपियों का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] यहां यह स्पष्ट बताया गया है कि गोपियां मानुषी कभी नहीं होती।

(१) श्रुतिरूपा : वेद की श्रुतियां।
(२) ऋषिजा : दण्डकारण्य में जिन ऋषियों की कन्याओं ने तीव्र तपस्या की थी।
(३) गोपकन्या : } जिन्होंने अपना सर्वस्व भगवदर्पण कर दिया था।
(४) देवकन्या : }

---

१. **गोपी शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है।**
(क) ब्रह्म गोपायति समावृणोतीति गोपी। ब्रह्म को समावृत करने के कारण गोपी कहा जाता है। इस पक्ष में गोपी का अर्थ माया है।
(ख) स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रमं नामरूपाभ्यां गोपायतीति गोपी। इस पक्ष में भी गोपी का अर्थ माया है।
इस प्रकार आध्यात्मिक पक्ष में श्रीकृष्ण को चैतन्य तथा गोपी को माया स्वीकार करके चैतन्य तथा माया का विलास ही रासलीला में उद्भूत माना गया है।

२. Early History of the Vaisnava Faith and Movement in Bengal, *S. K. De, Calcutta, 1942, p. 156*

३. **पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्रहम्॥**
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले। हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥
पद्मपुराण, उत्तरखण्ड २४५, १६४-१६५

४. **(क) जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः।** श्रीमद्भागवत महापुराण १०, १, २३
(ख) अवतार्य भवान्पूर्वं गोकुले तु सुराङ्गनाः।
क्रीडार्थमात्मनः पश्चादवतीर्णोऽसि शाश्वत॥ विष्णुपुराण ५, ७, ३९

५. **गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा गोपकन्यकाः। देवकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कथञ्चन॥**
पद्मपुराण, विशुद्धरसदीपिका में उद्धृत। श्रीमद्भागवतम् पृ० ६१६
(१०, २६, १) संपादक नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सम्वत् १९६४

वास्तव में शरत्काल की उन रात्रियों के दर्शन से भगवान् के मन में गोपियों की बात का स्मरण उत्पन्न हुआ। स्मरण के साथ ही गोपियों के विषय में रति प्रकट हुई। इसी अभिप्राय से रात्रियों को उद्दीपन तथा गोपियों को आलम्बन संज्ञा दी गई है।

इस विवेचन से यह बात सिद्ध होती है कि देश, काल और पात्र तीनों ही भगवान् के लिए परम सुखमय थे और प्रेमप्रधान सुख की तीनों पृथक्-पृथक् तथा सम्मिलित रूप से रचना कर रहे थे। इसका यह अर्थ है कि भगवान् के हृदय में विलास की इच्छा का प्रादुर्भाव केवल ह्लादिनी शक्ति के विलास का ही एक प्रकार था अथवा दूसरे शब्दों में भगवान् के विशिष्ट प्रेम का आयाम था। इसमें सामान्य मनुष्यों की तरह कामप्रधान मनोवृत्ति का लेशमात्र भी अंश नहीं था।

वैष्णव दर्शन में भगवान् की तीन प्रकार की शक्तियों का वर्णन किया गया है।

(१) **संधिनी।** जिस प्रकार घट में घटत्व रहता है, उसी प्रकार समस्त सत् वस्तुओं की प्रतीति के प्रति भगवान् निमित्त होते हैं। इस प्रकार स्वयं सत्स्वरूप से शास्त्रों में निर्दिष्ट भगवान् जिस शक्ति से नित्य सत्ता को धारण करते हैं और सबको धारण कराते हैं, उस समस्त देश, काल तथा द्रव्य को प्राप्त कराने वाली शक्ति को संधिनी कहते हैं।[१]

(२) **संवित्।** स्वयं ज्ञानस्वरूप भगवान् जिस शक्ति के बल से ज्ञान का अनुभव करते हैं और सबको अनुभव कराते हैं, उसे संवित् कहते हैं।[२]

(३) **ह्लादिनी।** स्वयं आनंदस्वरूप भगवान् जिस शक्ति से नित्य आनन्द का अनुभव करते हैं और सबको अनुभव कराते हैं, उसे ह्लादिनी कहते हैं।[३]

यहां यह स्मरणीय है कि संधिनी की अपेक्षा संवित् की तथा संवित् की अपेक्षा ह्लादिनी की श्रेष्ठता प्रकट की गई है।[४] इस प्रकार अपनी ह्लादिनी शक्ति के विस्तार से जब भगवान् को स्वयं अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति हुई तो समस्त संसार में उस आनन्द को वितरण करने के लिए उन्होंने लीला करने की इच्छा की।

रासपंचाध्यायी के अंतिम श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीशुकदेव को इस लीला की निवृत्तिपरता ही अभीष्ट थी।

योगमाया पद का प्रथम सामान्य अर्थ—

योगमाया पद का प्रथम सामान्य अर्थ है "जीवों को जगत् में मिलाने वाली माया"। इसी को अविद्या अथवा अज्ञान संज्ञा भी दी गई है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह अर्थ युक्तिसंगत

---

१. **सति घटानां घटत्वमिव सर्वेषां सतां वस्तूनां प्रतीतेर्निमित्तमिति क्वचित् सत्तास्वरूपेणाम्नातोऽप्यसौ भगवान् "सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्यत्र सद्रूपत्वेन व्यपदिश्यमानो यया सत्तां दधाति धारयति च सा सर्वदेशकालद्रव्यादिप्राप्तिकरी सन्धिनी।** भागवतसन्दर्भ पृ० १९१

२. **सम्विद्रूपोऽपि यया सम्वेत्ति सम्वेदयति च सा सम्वित्।** वही पृ० १९१

३. **ह्लादरूपोऽपि यया सम्विदुत्कर्षरूपया तं ह्लादं सम्वेत्ति सम्वेदयति च सा ह्लादिनी।** वही पृ० १९१

४. **अत्र क्रमादुत्कर्षेण सन्धिनीसम्विद्ह्लादिन्यो ज्ञेयाः।** वही पृ० १९१

प्रतीत नहीं होता। क्योंकि इस प्रकार की किसी भी माया का संबंध भगवान् में नहीं हो सकता। जिनकी दिव्य अप्राकृत लीलाओं से भक्तों के अंतःकरण अप्राकृत आनन्द रस में डूब जाते हैं—स्वयं उनमें इस प्रकार की अविद्या की स्थिति कैसे हो सकती है। अतः नीचे लिखे अर्थ उचित प्रतीत होते हैं।

भगवान् की लीला के योग के लिए जो माया है, उसी को योगमाया कहते हैं। वैष्णव दर्शन के अनुसार पूर्ण आनन्दस्वरूप भगवान् की शक्ति तीन प्रकार की है।

(१) अन्तरङ्ग शक्ति। (२) बहिरङ्ग शक्ति। (३) तटस्थ शक्ति।

१—अन्तरङ्ग शक्ति से ही भगवान् अपने स्वरूपनिष्ठ आनन्द का अनुभव करते हैं। जिस प्रकार मरीचिमाली अपनी मरीचियों से पृथक् नहीं हो सकता, उसी प्रकार भगवान् भी अपनी परमप्रिय अंतरङ्ग शक्ति से पृथक् नहीं हो सकते।

प्रस्तुत प्रसंग में योगमाया शब्द अन्तरङ्ग शक्ति के उस अंश को अभिव्यक्त करता है जो भगवान् की लीलाओं में सहायक बनता है। अन्तरङ्ग शक्ति को ही स्वरूप शक्ति भी कहते हैं। श्रीप्रिया भगवती राधा, चन्द्रावली, ललिता तथा विशाखा आदि गोपियां तथा रुक्मिणी, सत्यभामा और भगवती लक्ष्मी आदि इसी अन्तरङ्ग शक्ति की ही भिन्न-भिन्न वृत्तियां हैं।

२—बहिरंग शक्ति भगवान् के बाहर रहती है। इसी कारण इसे बहिरंग कहते हैं। इसके अन्य नाम अविद्या तथा अज्ञान हैं। इसी को मायावृत्ति भी कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है।

(क) गुणमाया से ही प्रकृति सम्बन्धी सृष्टि आदि समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं।

(ख) जीवमाया से जीव मोहित होकर संसार सागर के चक्र में घूमते रहते हैं।

३—तटस्थ शक्ति जीव के रूप में प्रकट होती है।

इन तीनों प्रकार की शक्तियों से भगवान् एक-एक प्रकार के विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं। इन्हीं शक्तियों को स्वरूप शक्ति, चित् शक्ति तथा परा शक्ति भी कहा जाता है।

योगमाया के आश्रय लेने का प्रधान अभिप्राय शतकोटियूथ गोपियों को मोहित करके एक स्थानविशेष पर बुलाने की भगवदिच्छा पर अवलम्बित था। इसी इच्छा की पूर्त्ति के लिए भगवान् ने योगमाया का आश्रय ग्रहण किया था।

द्वितीय सामान्य अर्थ—

योगमाया पद के द्वितीय सामान्य अर्थ में श्रीराधा के अर्थ का भाव व्यक्त होता है जिनको अन्तःकरण में धारण करके भगवान् ने रमण करने की कामना की थी। वैष्णव परम्परा के अनुसार राधा तथा कृष्ण में अभेद सम्बन्ध है।

तृतीय सामान्य अर्थ—

व्रजाङ्गनाओं के साथ विहार करने के लिए स्वयं भगवान् को भी स्वाधीना योगमाया का आश्रय लेना पड़ा। इस तृतीय सामान्य अर्थ से यह भाव प्रकट होता है कि जब भगवान् को भी विहार के लिए योगमाया का आश्रय लेना पड़ा तो साधारण मनुष्यों की विहार में पराधीनवृत्ति सर्वथा नैसर्गिक है।

चतुर्थ सामान्य अर्थ—

यहां योगमाया का अर्थ वंशी है। इस प्रकार भगवान् ने योगमाया स्वरूपिणी वंशी का आश्रय लिया, जिस वंशी के मधुर गान से भगवान् ने व्रजसुन्दरियों का आकर्षण किया था।

अपि का अर्थ यहां यदि 'च' अर्थात् 'और' स्वीकार किया जाय, तो 'ताः' पद की स्वतन्त्र व्याख्या होगी। क्योंकि चकारार्थक अपि के विद्यमान होने पर 'ताः' 'शरदोत्फुल्ल-मल्लिकाः' का विशेषण नहीं हो सकता। इस प्रकार 'ताः' पद से निम्नलिखित तीन अर्थ निकलेंगे :—

(१) वे गोपसुन्दरियां जिनका भगवान् के साथ साधन द्वारा तादात्म्य हो चुका था। इसका उदाहरण भ्रमरकीटन्याय द्वारा दिया जा सकता है, जिसके अनुसार भ्रमर एक साधारण कीट को भ्रमर बना लेता है। भ्रमर कीट को लाकर भीत पर अपने मृत्तिकामय स्थानछिद्र में बन्द कर देता है और यह कीट भय तथा उद्वेग से भ्रमर के रूप का चिन्तन करते-करते तद्रूपता को प्राप्त करता है।[1]

(२) वे गोपसुन्दरियां जो वास्तव में भगवान् से अभिन्न थीं किन्तु सागर तथा कल्लोल की भांति भिन्न-भिन्न प्रतीत होती थीं।

(३) वे गोपसुन्दरियां जो भगवत्स्वरूपा थीं।

इस प्रकार चकारार्थक अपि शब्द स्वीकार करने पर यह अर्थ होता है—

शरत्काल में खिली हुई मल्लिका पुष्पवाली रजनियों को तथा पूर्वोक्त तीनों प्रकार की व्रज-सुन्दरियों को देख कर भगवान् ने रमण करने का मन किया। भगवान् ने स्वयं परब्रह्म होकर भी योगमाया का आश्रय लेकर रमण करने की इच्छा की। यहां हमें निम्नलिखित इकतीस अर्थों की उपलब्धि होती है :—

प्रथम अर्थ—

योग के लिए अर्थात् अपने साथ गोपाङ्गनाओं का पूर्ण संश्लेष करने के लिए, माया अर्थात् कृपा का आश्रय लिया। इसका आशय है कि केवल कृपा के कारण ही भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। माया शब्द का कोश में कृपा अर्थ भी होता है।[2]

---

१. (क) **कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन्। संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम्॥**
श्रीमद्भागवतमहापुराण ७, १, २७

(ख) **"तिलचट्टा नाम के एक विशेष प्रकार के कीड़े को पकड़कर भौंरा अपने घर में ले जाता है, फिर उसके हाथ पैर तोड़कर उस पर चारों ओर 'भों-'भों' करता मँडराता रहता है। भयवश उस कीड़े की चित्तवृत्ति एकदम भ्रमराकार हो जाती है, और कुछ समय में वह भौंरा ही बन जाता है।"**
वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पटना १९६०, पृ० २२०

२. (क) **योगाय आत्मना सह तासां गोपीनां संश्लेषाय, मायां कृपां समाश्रित्य।**

(ख) **"माया दम्भे कृपायाञ्च।"**
विश्वप्रकाश, उद्धृत भागवतसन्दर्भ (भगवत्सन्दर्भ) पृ० ७४

द्वितीय अर्थ----

योगा=वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा की, माया---कृपा का आश्रय लिया।[1] भगवान् की अन्तरंग ह्लादिनी शक्ति श्रीराधा का वैष्णव दर्शन में भगवान् के साथ नित्य संश्लेष स्वीकार किया गया है। यहां यह तात्पर्य है कि भगवान् ने अपनी कृपा से रमण की इच्छा नहीं की बल्कि श्रीप्रिया राधा की कृपा ही एकमात्र कारण थी। क्योंकि व्रज की ललनाओं पर श्रीप्रिया की परम कृपा थी और श्रीप्रिया को प्रसन्न करना ही भगवान् का एकमात्र लक्ष्य था।

तृतीय अर्थ---

योग=अनन्य साधारण संबंध के लिए, माया---प्रवंचना का आश्रय लिया[2]। यहां माया पद का अर्थ है, भगवान् में लौकिक भावों का आरोप करना।

चतुर्थ अर्थ---

यदि यहां अयोगमाया पद माना जाय तो यह अर्थ होगा---

अयोग=सम्बन्ध के अभाव के लिए, माया---प्रवंचना का आश्रय लिया[3]। भगवान् के साथ उनका सम्बन्ध नहीं हो---इसी तात्पर्य से उन्होंने माया का आश्रय लिया।

पांचवां अर्थ---

योगा=श्रीराधा में, माया---कृपा का आश्रय लेकर रमण करने की इच्छा की।[4] अर्थात् श्रीराधा के हृदय में रास-लीला की इच्छा को पूर्ण करने के लिए व्रज-ललनाओं को देखकर रमण की इच्छा की।

छठा अर्थ---

योगमायां का यदि इस प्रकार पदच्छेद किया जाय---यः+अगमायां---तो यह अर्थ होगा---'अगमा = नित्य अचल महालक्ष्मीस्वरूपिणी श्रीराधा, उनमें अनुरक्त भगवान् ने रमण की इच्छा की। (वास्तव में रासलीला श्रीराधा की प्रसन्नता के लिए ही हुई थी, क्योंकि मधुर भाव की उपासना में भगवान् के समस्त क्रियाकलाप श्रीप्रिया की प्रसन्नता के लिए और श्रीप्रिया की क्रियाएं भगवान् की प्रसन्नता के लिए होती हैं।)

सातवां अर्थ---

योग का अर्थ है गोपबालाओं को रास का दिव्य आनन्द प्राप्त कराने का सम्बन्ध और माया का अर्थ है दया।

---

१. युज्यते = सर्वदा भगवता सह संश्लिष्यते इति योगा, = श्रीराधा, तस्या मायां कृपामाश्रित्य।
२. योगाय = अनन्यसाधारणसंबन्धाय, मायां प्रवंचनाम् आश्रित्य।
३. अयोगाय = सम्बन्धाभावाय, मायां = प्रवंचनाम् आश्रित्य।
४. युज्यते = आत्मना सह सदा संश्लिष्यते इति योगा, तस्यां या माया कृपा तामाश्रित्य।
५. न गच्छतीति अगा, अगा चासौ मा = महालक्ष्मीश्च इति अगमा तस्यां अगमायाम् उपाश्रितः।

आठवां अर्थ—

भगवान् स्वयं पूर्ण वैराग्यनिष्ठ और अखण्ड ब्रह्मचर्यसम्पन्न थे। उन्होंने केवल गोपियों की अभीष्ट कामना की पूर्ति के लिए माया द्वारा रमण करने की इच्छा प्रकट की। यह इच्छा वास्तविक नहीं थी। केवल गोपियों पर कृपा करने के हेतु कपटमात्र था।[1] यह वैष्णवों का स्वीकृत सिद्धान्त है कि भगवान् की रमणलीलाओं का एकमात्र उद्देश्य अपने भक्तों पर कृपा द्वारा अनुराग की वृष्टि करना है।

नवां अर्थ—

योगमाया भगवान् की उस अनन्यसाधारण शक्ति का नाम है जो असामान्य घटनाओं की क्रियाकारिता में निष्णात है और जिसके बिना व्रजमण्डलनिवासियों का संमोहन संभव नहीं होता।[2]

दशवां अर्थ—

अपनी प्रिय गोपबालाओं के साथ योग के लिए मायारूपिणी मुरली का आश्रय लिया।[3] अत्यन्त आश्चर्य सम्पादन करने वाली मुरली के बिना गोपबालाओं का मोहन संभव नहीं था।

ग्यारहवां अर्थ—

योग का अर्थ है उपाधियों का अध्यास। अयोग का अर्थ है उस अध्यास का अभाव। उसकी प्रमा का नाम अयोगमा है। इस प्रकार अयोगमा के लिए—उपाधिजन्य अध्यास से रहित परब्रह्म के साक्षात्कार के लिए, जो मोक्ष की इच्छा करनेवालों द्वारा आश्रित किये जाते हैं। उन्होंने रमण की इच्छा की।[4]

बारहवां अर्थ—

अयोग पद का अर्थ है उपाधियों के संसर्ग का सर्वथा अभाव। उसकी प्रमा अर्थात् साक्षात्कार के लिए, जो भगवान् मोक्षेच्छुओं द्वारा आश्रित होते हैं।[5]

तेरहवां अर्थ—

यः+अयोगा+मायां इस प्रकार तीन पद बनाने से यह अर्थ होगा : यहां माया का अर्थ अनुकम्पा है और अयोगा उस अनुकम्पा को कहते हैं जो भक्तों के अन्तःकरण की वृत्तियों को

---

१. **योगाय गोपाङ्गनाभीष्टयोगाय मायां कपटमाश्रितः।**

२. **नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।** श्रीमद्भागवत महापुराण १०, ३३, २८

३. **योगाय स्वप्रियगोपबालानां योगाय मायां मुरलीमाश्रित्य।**

४. **योगः=उपाधिनिष्ठाध्यासः, तस्याभावः अयोगः, तस्य प्रमा=साक्षात्कारः इति अयोगमा तामुपाश्रितः।**

वास्तव में वैशेषिक दर्शन के अनुसार यथार्थ अनुभव की ही संज्ञा प्रमा है। उदाहरण के लिए घट को घट के रूप से जानना।

"तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा।" यथा घटे घटोऽयमिति। घटत्ववति तस्मिन् घटत्वप्रकारकं हि तज्ज्ञानम्। कणादगौतमीयम्, श्रीविश्वनाथशास्त्री, अहमदाबाद, १९५३ पृ० ३९

५. **न युज्यते=उपाधि-संसर्गं नाधिगच्छति इति अयोगः तस्य प्रमायामुपाश्रितः।**

उसी प्रकार अपनी ओर खींचती है, जिस प्रकार चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है। इस प्रकार की कृपा अयोगमाया कहलाती है। उसका आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की।[1]

चौदहवां अर्थ--

यहां योगा तथा माया दो पद स्वीकार किये गये हैं। योगा पद का अभिप्राय गोपसुन्दरी से है और माया का अर्थ कृपा है। योगमाया का अर्थ है गोपियों के प्रति अपनी नैसर्गिक कृपा का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की।[2]

पंद्रहवां अर्थ--

जो भगवान् अगमा में उपाश्रित हैं उन्होंने रमण की कामना की। यहां अगमा पद से भगवती लक्ष्मी का तात्पर्य है जो भगवान् में सदा निश्चल रहती है।[3]

सोलहवां अर्थ--

जिन श्रीप्रिया राधा की सर्वाङ्गसुन्दरी वपुःसौन्दर्यलक्ष्मी सदा स्थिर रहती है उनका आश्रय लेकर (अर्थात् उन्हें बुलाकर) रमण करने की इच्छा की।[4]

सत्रहवां अर्थ--

जिन गोपियों की भगवान् के पास से एक क्षण के लिए भी पृथक् होने की लेशमात्र भी इच्छा नहीं थी, उन गोपियों के प्रति अपनी अनुकम्पा का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की।[5]

अठारहवां अर्थ--

जिस गोपी की बुद्धि भगवान् के चरणारविन्द से एक क्षण के लिए भी पृथक् नहीं होती, उसके प्रति अपनी कृपा का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की।[6]

उन्नीसवां अर्थ--

व्रजललनाओं के साथ भगवत्सम्बन्ध को अनुप्राणित करने वाली श्रीराधा ही योगमाया पद से अभिधेया हैं। उनका आश्रय लेकर रमण करने की इच्छा की।[7]

---

१. अयोवत् भक्तान्तःकरणवृत्तिं प्रति या गच्छति सा अयोगा, सा चासौ माया (कृपा च) अयोगमाया।

२. आत्मना सह युज्यन्ते इति योगाः (गोपललनाः) तासु या माया (कृपा) तामुपाश्रितः।

३. अन्यत्र गच्छन्ती अपि श्रीकृष्णात् न गच्छतीति अगमा, तस्यामुपाश्रितः।

४. न गच्छतीति अगा, अगा=स्थिरा च या मा=श्रीराधा, तस्याः श्रीराधायाः, सर्वाङ्ग-मनोरमा वपुःसौन्दर्यलक्ष्मीः तामुपाश्रितः।

५. स्वस्मात् न गच्छन्तीति अगाः, तासु मायां अनुकम्पामुपाश्रितः।

६. अगा=निश्चला या मा=धीः यस्याः सा अगमा तस्याम् उपाश्रितः सन्।

७. व्रजललनाभिः सह योगाय भगवत्सम्बन्धाय श्रीकृष्णाय मां मतिं यापयति=प्रापयति या सा योगमाया श्रीराधा तामुपाश्रितः।

बीसवां अर्थ--

भगवत्सम्बन्धरूप योग के लिए समस्त मुमुक्षुओं की बुद्धि को अनुप्राणित करनेवाली योगमाया (श्रीराधा) का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की।[१] मधुर सम्प्रदाय के अनुसार श्रीप्रिया की कृपा से ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

इक्कीसवां अर्थ--

इस पक्ष में योगमाया पद से शरद् ऋतु की शोभा से तात्पर्य है। यह शोभा ही भगवान् को व्रजसुन्दरियों के साथ रमण करने के लिए अनुप्रेरित करती है। उसी का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। यहाँ शरद् ऋतु की शोभा को उद्दीपन विभाव माना गया है।[२]

बाईसवां अर्थ--

योगमाया का अर्थ श्रीराधा है। जिनकी विच्छित्ति की छटा श्रीकृष्ण के साथ संयोग में ही होती है। उनका आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की।[३]

तेईसवां अर्थ--

जिस राधा के संयोग से भगवान् के सौन्दर्य की मधुरिमा निखर जाती है, उस राधा रूपिणी योगमाया का आश्रय लेकर रमण की इच्छा की।[४]

चौबीसवां अर्थ--

यहां 'योगाय' का अर्थ है व्रजगोपियों को रासलीला की सुखप्राप्ति कराने के लिए, और माया पद का अर्थ है भगवान् का ज्ञानात्मक सत्यसंकल्प। उसका आश्रय लेकर रमण की इच्छा की।[५]

पच्चीसवां अर्थ--

इस अर्थ में योगा का तात्पर्य है गोपियों की मनोकामनाओं की पूर्त्ति के लिए और माया का अर्थ दम्भ है। भगवान् ने केवल गोपियों के मनोरथ को पूर्ण करने के लिए ही कृत्रिम रमण करने की इच्छा की।[६]

---

१. **योगाय = भगवता सह सम्बन्धाय, मां = मुमुक्षूणां मतिं यापयति = प्रापयति या सा योगमाया तामुपाश्रितः।**

२. **योगाय = व्रजसुन्दरीभिः सह सम्बन्धाय, मां = बुद्धिं यापयति = प्रापयति या सा योगमाया = उद्दीपनविभावरूपिणी शरदर्त्तुशोभा तामुपाश्रितः।**

३. **योगे = कृष्णसंयोगे एव मा = कान्तिः यस्याः सा योगमा श्रीराधा तस्यामुपाश्रितः।**

४. **योगे = यस्याः राधायाः संयोगे एव मा = श्रीकृष्णस्य कान्तिः सा योगमा तस्यामुपाश्रितः।**

५. **योगाय--गोपीनां कृते रासलीलानन्दप्रापणाय, मायां = ज्ञानात्मकं सत्यसंकल्पम्, आश्रितः।**

६. (क) **"माया दम्भे कृपायाञ्च"**

विश्वप्रकाश--उद्धृत भागवतसन्दर्भ (भगवत्सन्दर्भ) पृ० ७४

(ख) **योगाय = गोपीनां मनोरथप्रपूरणाय मायां = दम्भम् उपाश्रितः।**

छब्बीसवां अर्थ—

इस अर्थ में अयोग तथा मा पद का विच्छेद होता है। एकाक्षरकोष के अनुसार अकार पद श्रीकृष्ण-विष्णु का बोधक है। उसके साथ संयोग करने के लिए जिनकी मा=मति है, वह योगमाया राधार्थप्रतिपादिनी है। उसका आश्रय लेकर रमण की इच्छा की।[1]

सत्ताईसवां अर्थ—

योग=समस्त प्राणीमात्र के साथ सम्बन्ध करने के लिए—मा=जिनकी कृपा है। उसको योगमा कहते हैं। उस योगमा श्रीराधा का आश्रय लेकर रमण की इच्छा की।[2]

अठाईसवां अर्थ—

यदि 'योगमायामुपाश्रितः' पद का इस प्रकार विच्छेद करें यः+अगमायाम्+उपाश्रितः तो यह अर्थ होता है कि जो भगवान् श्रीराधिकास्वरूपिणी महालक्ष्मी के साथ नित्य एकाकार रूप से स्थिर हैं, उनका आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की।[3]

उनतीसवां अर्थ—

प्रस्तुत अर्थ में असंभावित घटनाचक्रसंपादन करने के लिए[4] जो माया है उसे योग-माया कहते हैं। उपाश्रित पद का अर्थ है=समीप से आश्रय ग्रहण करके।

इस व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि योगमाया का भगवान् के साथ अविच्छेद्य साहचर्य है। इस साहचर्य के कारण वह स्वयं अपना कार्य सम्पन्न करती है। भगवान् ने योगमाया का आश्रय केवल सामीप्यविशेष के कारण लिया था। जिस प्रकार सुधांशु की रश्मियां उससे पृथक् नहीं रहतीं और सुधांशु को अपनी चन्द्रिका के विस्तार के लिए रश्मियों का आश्रय ग्रहण नहीं करना पड़ता। उसी प्रकार भगवान् ने स्वभावतः सन्नद्ध योगमाया का सन्निधिनिष्ठ आश्रय लेकर रमण की इच्छा की।

तीसवां अर्थ—

गोपसुन्दरियों के साथ योग के लिए (सम्बन्ध के लिए) वंशी का आश्रय लिया। इस अर्थ में वंशी का ही नाम योगमाया स्वीकार किया जाता है। क्योंकि वंशी में उन शब्दों की नित्य स्थिति मानी गई है जो गोपियों के साथ सम्बन्ध के लिए दिव्य शक्ति से संयुक्त हैं।[5]

---

१. (क) "अकारो विष्णुरुद्दिष्टः।" Sanskrit English Dictionary, *V.S. Apte.*
(ख) अकारेण वासुदेवेन सह योगाय सम्बन्धाय मा=मतिः यस्याः सा अयोगमा=श्रीराधा तामुपाश्रितः।

२. योगाय=प्राणिमात्रस्य श्रीकृष्णेन योगाय=सम्बन्धाय, मा=कृपा यस्याः सा योगमा तां राधामुपाश्रितः।

३. यः=अगमायां=न गच्छतीति अगा=नित्यैकाकाररूपेण भगवति संश्लिष्टा। अगा चासौ मा च=राधास्वरूपिणी महालक्ष्मीः इति अगमा तस्यां अगमायां।

४. (अ) योगाय=असंभावितघटनाचक्रसम्पादनात्मकयोगाय।
(ब) उपाश्रितः=उप=सामीप्येन आश्रितः इति उपाश्रितः।

५. योगाय=गोपसुन्दरीभिः सह सम्बन्धाय, मायः=शब्दः यस्यां सा योगमाया।

इकतीसवां अर्थ--

"मोक्षेच्छुक साधकों के इस पक्ष में, निम्नलिखित तीन अर्थों की प्रतीति होती है :

(१) जो भगवान् अगमा में उपाश्रित हैं उन्होंने रमण की इच्छा की। यहां अगमा पद का अभिप्राय कूटस्थ ब्रह्म की प्रमा शक्ति से है। कूटस्थ ब्रह्म को ही उसकी नित्य स्थिरता के कारण अग कहा जाता है। प्रमा का तात्पर्य साक्षात्कार से है। यहां अगमायां पदनिष्ठ सप्तमी का अर्थ है—जो अगमा में मोक्षेच्छुकों द्वारा आश्रित किया जाता है।[१]

(२) योग=स्वयं अपने में आत्मसात् करने के लिए जो माया अनुकम्पा है, उसका आश्रय लेकर।[२]

(३) योग—अपनी दिव्यलीलाओं के आनन्दसिन्धु में निमज्जित करने के लिए जो माया—कृपा।[३]

इस प्रकार इस श्लोक के निम्नलिखित तीन अर्थ निकलते हैं :

श्लोक का प्रथम अर्थ :

"भगवान् ने निशा के अन्धकार के समान अज्ञान से समावृत प्रजा को देखकर कल्याण करने की भावना से रमण करने की इच्छा की। यही प्रजा दुःखमयी व्यवहारभूमि में सुखवृद्धि करने वाली थी।"

"ताः"। प्रजा को देख कर।

"रात्रीः"। रात्रि के तुल्य प्रजा को देखकर। यहां जिस प्रकार रात्रि में अन्धकार का साम्राज्य रहता है, उसी प्रकार प्रजा अज्ञानान्धकार से समावृत मानी गई है।

शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। यहां इस पद को भी प्रजा का विशेषण मानना पड़ेगा। शरदा=सुख-दुःख-मोहात्मिका जाड्यप्रधान व्यवहारभूमि, उसकी खिली हुई मल्लिकाओं के समान सर्वाङ्गसुन्दर सुखबुद्धि करनेवाली प्रजाओं को देखकर।[४] (जबतक साधक सुख, दुःख तथा मोह के आवरण की स्थिति में रहता है और मन पर इस अज्ञान की चादर पड़ी रहती है, तबतक उसको भगवत्प्राप्ति नहीं होती क्योंकि परब्रह्मस्वरूप भगवान् सुख, दुःख, तथा मोह से ऊपर हैं। अतः साधक की अभिरुचि के अनुकूल ही प्राकृत लीलाओं का प्रजा की कल्याण बुद्धि से आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की)।

योगमायामुपाश्रितः। यहां 'अयोगमायां' ऐसा पदच्छेद स्वीकार करने पर निम्नलिखित तीन अर्थ होंगे :

---

१. न गच्छतीति अगः=कूटस्थं ब्रह्म, तस्य प्रमा=साक्षात्कारः इति अगमा, तस्यां मुमुक्षुभिः उपाश्रितः।

२. योगाय=स्वात्मनि आत्मसात्कर्त्तुं या माया=अनुकम्पा।

३. योगाय=स्वदिव्यलीलानन्दसिन्धौ निमज्जनाय या माया=कृपा।

४. शरदायां=सुखदुःखमोहात्मिकायां जाड्यप्रधानायां व्यवहारबुद्धौ, उत्फुल्लमल्लिकास्विव सुखबुद्धयः।

प्रथम अर्थ--

योग = चित्त की वृत्तियों का निरोध, अयोग = चित्तवृत्ति के निरोध का अभाव। अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोधस्वरूप परम कल्याणमय मोक्षसाधक साधनों से शून्य साधकों पर, मायां = कृपा का आश्रय लेकर रमण की इच्छा की।[1]

द्वितीय अर्थ--

अयोग = अयोग्य, उनमें माया = कृपा का आश्रय लेकर।[2] यहां अयोग्य पद से उन प्राणियों की ओर संकेत है जो अत्यन्त निम्न कोटि के हैं। उन पर भी कृपा करने के लिए भगवान् ने रमण की कामना की।

तृतीय अर्थ--

अयोग=जिन मनुष्यों की मनोवृत्तियां कभी भी भगवान् के चरणारविन्द में नहीं जातीं। ऐसे भगवान् के प्रति उन्मुख नहीं होनेवाले मनुष्यों के प्रति माया=कृपा का आश्रय लेकर।[3] (इस भाव से यह सिद्ध होता है कि रासलीला भगवान् ने अत्यन्त साधनविहीनों पर भी कृपा करने के लिए की थी)।

श्लोक का द्वितीय अर्थ :

"ताः"=भगवान् ने उन प्रजाओं को देखकर रमण की इच्छा की जो प्रजाएं मोक्ष की इच्छुक हैं।

रात्रीः। यह पद मोक्षेच्छुक प्रजा का विशेषण है। इसके दो अर्थ होते हैं। दोनों अर्थ में "रात्रीः" की व्युत्पत्ति दानार्थक 'रा दाने' धातु से मानी गई है।

(क) जो प्रजा दान-परायण है। यहां दान शब्द यज्ञादि समस्त वेदप्रतिपादित कर्म का उपलक्षण मानना चाहिए।

(ख) जो प्रजा भगवान् में अपना सर्वस्व देनेवाली है। यहां तक कि जो अपने नाम तथा स्वरूप को भी भगवान् के अर्पण करती है।[4]

शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। खिली हुई मल्लिकाओं के तुल्य समस्त सांसारिक सुख जिन मोक्षेच्छुक प्रजा का शर के समान खण्डन करते हैं।[5] (इसी अर्थ द्वारा प्रजा की पूर्ण मुमुक्षता सिद्ध होती है। जब साधक को सांसारिक सुख दुःख के तुल्य प्रतीत होने लगते हैं। जब सांसारिक सुख बाण के तुल्य छेद करने लगते हैं, तभी वह मुमुक्षु कहा जाता है)।

---

१. न योगः अयोगः = अयोगेषु चित्तवृत्तिनिरोधात्मकसाधनविरहितेषु साधकेषु या माया = कृपा तामाश्रित्य।

२. अयोगेषु = अयोग्येषु मायां कृपामाश्रित्य।

३. अयोगेषु = भगवति सर्वथा अयुज्यमानेषु मनुष्येषु मायां = कृपामुपाश्रितः।

४. भगवति श्रीकृष्णचन्द्रे आत्मनः स्वरूपेण सह सर्वस्वसमर्पणकर्त्रीः।

५. उत्फुल्लमल्लिकापदोपलक्षितानि यावन्ति सांसारिकसुखानि तानि शरवत् द्यन्ति अवखण्डयन्ति यासां ताः।

योगमाया मुपाश्रितः। योग=अपने साथ सम्बन्ध के अभाव का अभाव उत्पन्न करने के लिए माया का आश्रय लेकर अर्थात् मुमुक्षुजनों का अपने साथ अभेद स्थापित करने की कामना से रमण की इच्छा की।[1]

श्लोक का मुमुक्षुपक्ष में तृतीय अर्थ :

भगवान् ने मुमुक्षुरूपिणी प्रजा को देखकर रमण करने की इच्छा की। "ताः" पद प्रजा का विशेषण होने के कारण आश्चर्यरूपिणी प्रजा को लक्षित करता है। "रात्रीः" पद के दो अर्थ हैं।

(क) अन्धकार के समान आत्मज्ञान को ढकने वाले अज्ञान से समावृत प्रजा।

(ख) दाननिष्ठा प्रजा। द्वितीय अर्थ की संगति उस प्रजा के लिए है जो स्वयं विवेक-सम्पन्न है। यह अर्थ "रा दाने" धातु से निकलता है।

इस पक्ष में 'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः' पद का अर्थ होता है कि जिस प्रकार शरद् ऋतु में मल्लिका का स्वाभाविक विकास नहीं होने पर भी योगमाया के प्रभाव से स्वतः विकास हो गया था उसी प्रकार निष्काम उपासना द्वारा मुमुक्षु साधकों के अन्तःकरण के कमलकोश खिल गये हैं।[2]

विष्णुपुराण के वर्णन के अनुसार श्रीकृष्ण ने विमल नभोमण्डल, शरत्पूर्णिमा के चन्द्रमा की ज्योत्स्ना तथा दिशाओं को आमोदित करने वाली खिली हुई कुमुदिनी को देखकर गोपियों के साथ रमण करने का मन किया।[3]

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शंतमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥२॥

जिस प्रकार चिरकाल के पश्चात् मिलने वाला प्रेमी अपनी प्रियतमा के मुखकमल पर रक्तवर्ण की केशर का लेप करता है। उसी प्रकार चन्द्रमा भी उस समय समस्त मनुष्यों के संताप को दूर करता हुआ अपनी रश्मियों रूपी हाथों के लाल रंग से पूर्व दिशा के मुख पर लेप करता हुआ उदित हुआ।

पहला अर्थ--

(१) उडुराज पद का सामान्य प्रख्यात अर्थ चन्द्रमा के अर्थ में निष्ठ है। तारामण्डल के अधिपति होने के कारण[4] चन्द्रमा को उडुराज संज्ञा दी गई है। इस पद से यह ध्वनि भी

---

१. योगाय=आत्मना सह सम्बन्धाभावाभावाय मायामुपाश्रितः।

२. यथा शरदि उत्फुल्लाः मल्लिकाः सम्पद्यन्ते तथैव निष्कामोपासनया मुमुक्षूणां अन्तःकमल-कोशानां विकासः यासु प्रजासु ताः।

३. कृष्णस्तु विमलं व्योम शरच्चन्द्रस्य चन्द्रिकाम्।
तदा कुमुदिनीं फुल्लामामोदितदिगन्तराम्।
विलोक्य सह गोपीभिर्मनश्चक्रे रतिं प्रति॥ विष्णुपुराण ५, १३, १४-१५

४. (क) उडूनां तारागणां राजा इति उडुराजः॥
(ख) उडुषु राजते इति उडुराजः। "राजाहःसखिभ्यष्टच्"--पाणिनि ४, १, ९१

निकलती है कि चन्द्रमा अपने परिकरस्वरूप सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल के साथ उदित हुआ। उदयकाल में चन्द्रमा की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह अपने किरणरूपी हाथों में ली हुई लालिमा द्वारा प्राची दिशा के मुख पर लाल रंग का लेप कर रहा था। जिस प्रकार प्रियतमा के मुख पर मली हुई अरुणिमा सुन्दर प्रतीत होती है उसी प्रकार चन्द्रमा की लाल-लाल किरणों का प्रतिबिम्ब पूर्व दिशा के मुख पर प्रदीप्त होकर चित्ताकर्षक बन रहा था।

इस प्रकार यहां अधोनिर्दिष्ट तीन भाव प्रकट होते हैं।

(क) जिस प्रकार चन्द्रमा की शोभा तारामण्डल के मध्य में होती है उसी प्रकार भगवान् भी गोपसुन्दरियों के मध्य में शोभित हो रहे थे।

(ख) जो व्यक्ति स्वयं अनुरागपूर्ण होता है वही दूसरों को भी अनुरागपूर्ण बनाता है। लालिमा के इस लेप के व्याज से चन्द्रमा भी अनुरागपूर्ण होता व्यक्त किया गया है।

(ग) जब भी एक प्रेमी अपनी प्रियतमा के साहचर्य में पहुंचता है तो उसका मन तत्काल अनुराग से लबालब भर जाता है। यही स्थिति चन्द्रमा की भी हुई। प्राची चन्द्रमा की प्रेयसी थी, जिसके साहचर्य ने चन्द्रमा को अनुरक्त बना दिया था।

(२) दीर्घदर्शन पद का सम्बन्ध विशेषण के रूप में दो शब्दों के साथ संभव हो सकता है।

(क) चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध--

जब दीर्घदर्शन पद उडुराज चन्द्रमा का विशेषण स्वीकार किया जाता है तो अर्थ होता है कि जिसका अनेक रात्रियों के पश्चात् दर्शन होता है।[1] वास्तव में राकेश का अपनी प्रियतमा के साथ पूर्ण संयोग राका की रजनी में ही माना गया है।

(ख) प्रिय के साथ सम्बन्ध--

जब दीर्घदर्शन पद को प्रिय का विशेषण मानते हैं तो अर्थ होता है कि जिस नायक का दर्शन नायिका को चिरकाल के पश्चात् प्राप्त होता है। प्रियतम के करारविन्द के सहज स्नेहसंवलित संस्पर्श से प्रियतमा पुलकित हो जाती है और उसका मनकमल आनन्द से खिल जाता है। इस पक्ष में दीर्घदर्शन पद का अर्थ नीलेन्दीवरदल के तुल्य विशाल नेत्र वाला श्रीकृष्ण भी किया जा सकता है।[2] चिरकाल के पश्चात् मिलने पर उत्कण्ठा की प्रबलता को प्रकट करना ही इस पद का प्रधान लक्ष्य है।

(३) शुचो मृजन्। दोनों पक्ष के अनुसार इसका यह अभिप्राय है।

(क) शरद् ऋतु के सूर्य के ताप से उत्पन्न होने वाले दुःख को मिटाता हुआ।

(ख) अपने मन के विरहजन्य संताप को मिटाता हुआ।

दूसरा अर्थ--

जिस समय भगवान् के मन में गोपबालाओं के साथ रमण करने की इच्छा प्रकट हुई उसी समय वसन्त ऋतु उपस्थित हो गई। इस पक्ष में उडुराज पद वसन्त ऋतु का ही प्रतिनिधान

---

१. दीर्घम् अनेकासां रजनीनां पश्चात् दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः।

२. दृश्यते अनेन इति दर्शनं नेत्रम्। नीलेन्दीवरदलवत् दीर्घे दर्शने स्तः यस्य स दीर्घदर्शनः।

करता है।[1] कुंकुम पद द्वारा स्वर्गमण्डल तथा भूमण्डल में वसन्त की शोभा के चमत्कार की परिकल्पना प्रस्तुत की गई है।[2] इस पक्ष में दीर्घदर्शन पद वसन्त ऋतु का विशेषण बनता है। वास्तव में इस समय शरद् ऋतु का साम्राज्य था और वसन्त का दर्शन अत्यन्त विप्रकृष्ट था तथापि भगवान् की इच्छाशक्ति के लोकोत्तर चमत्कार से वसन्त भी वहां उपस्थित हो गया था।

वसन्त के प्रादुर्भाव से वहां एक नवीन विशेषता उत्पन्न हुई। चारों तरफ अनेक प्रकार के रंगबिरंगे पुष्प खिल गये और ऐसी प्रतीति होने लगी मानों लाल-लाल रंग के पुष्पों के व्याज से वसन्त ऋतु व्रजभूमि के मुख पर कुंङ्कुम का लेप कर रहा हो। यहां प्रिया का अर्थ व्रजभूमि के अर्थ में निष्ठ है और मुख का अर्थ प्रधान है।

तीसरा अर्थ—

जिस प्रकार नक्षत्रमण्डल का अधिपति उडुराज कुमुदबान्धव प्राणियों के ताप का नाश करता हुआ, अपनी अत्यन्त शीतल रश्मियों के छल से उदयकाल की अरुणिमा का पूर्व दिशा के मुख पर लेप करता हुआ उदित हुआ, उसी प्रकार चिरकाल के पश्चात् दर्शन देने वाले नन्दनन्दन भगवान् प्रिय श्रीकृष्य भी प्रियतमा वृषभानुनन्दिनी भगवती श्रीराधा के मुख पर अपने हाथ में लिए हुए कुंङ्कुम का लेप करते हुए और अन्यान्य गोपसुन्दरियों के शोकाश्रुकणों का प्रमार्जन करते हुए प्रकट हुए।

चौथा अर्थ—

आध्यात्मिक पक्ष के अर्थ की भावगरिमा इस प्रकार समझनी चाहिये।

(१) भजन के आनन्दामृत में डूबे हुए चन्द्रमा का उदय।

(२) चर्षणी का अर्थ कर्म तथा कर्मफल के जाल में फंसे हुए जीवों से है। उनके शोक का प्रमार्जन इस चन्द्रमा के उदय से होता है।

(३) जीव की प्रवृत्ति जब भजनोन्मुखी होती है तो समस्त ताप स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

(४) भक्ति की अनवच्छिन्न धारा ही इस चन्द्रमा की कान्ति मानी गई है।

(५) भगवन्नाम तथा भगवद्गुणानुवाद इस चन्द्रमा की शीतल किरणें हैं।

(६) प्राची पद का अर्थ यहां सात्त्विक बुद्धि से है। भक्ति की शीतल ज्योत्स्ना के आलोक के पहिले भक्त के अन्तःकरण में सात्त्विक बुद्धि का उदय होता है। यहां प्राची का अर्थ पहिले उत्पन्न होने वाली मानना चाहिये।

(७) सात्त्विक बुद्धि का प्रधान अंश एक विशेष अनुराग से ओतप्रोत हो जाता है। इसी भाव को प्रकट करने के लिए अरुण पद की कल्पना युक्तिसंगत बैठती है। अरुण का अर्थ अनुराग है, जिसके द्वारा सात्त्विक बुद्धि भगवान् के आकार में ढल जाती है।

---

१. उडुषु उडुत्तदृशेषु ऋतुषु राजते इति उडुराजः वसन्तः।

२. के स्वर्गे कौ पृथिव्यां भाति इति ककुभः।

(८) कुकुभ पद का अर्थ है कि भजन के आनन्द का सुख कुत्सित पुरुषों में भी समान रूप से शोभित होता है।[1]

(९) अपने-अपने चिदाकाश में इस चन्द्रमा के उदय की कल्पना सभी भक्तों को समानरूप से प्रिय है और इसका दर्शन त्रिकाल में अबाधित रहता है।

पांचवां अर्थ--

चन्द्रोदय से भगवान् को इस भाव की प्रतीति हुई कि जैसे चन्द्रमा यह उपदेश कर रहा हो कि जिस प्रकार चन्द्रमा रोहिणी आदि २७ प्रियाओं के साथ विहार करता हुआ भी इन्द्रभोग्या पूर्व दिशा के मुख पर अपने किरणरूपी हाथों से लाल-लाल केशर का लेप करने में नहीं सकुचाता, उसी प्रकार भगवान् को भी व्रज-सुन्दरियों को प्रसन्न करने में किसी प्रकार का संकोचभाव नहीं लाना चाहिए। यह विचार आते ही भगवान् के हृदय में चन्द्रबिम्ब के प्रति निम्नलिखित उत्प्रेक्षाएँ होने लगीं।

(१) यह चन्द्रमा नहीं है मानो यह तो कामदेव को जीतने के लिए नगाड़ा है।

(२) यह तो श्रीराधा का दर्पण प्रतीत होता है।

(३) यह तो श्रीराधा का कर्णाभरण है।

(४) यह तो श्रीराधा के धाम को आलोकित करने वाला दीपक है।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा करते-करते भगवान् वंशीवट पर पहुँच गये।

नारायणीय में केवल इतना ही वर्णन मिलता है कि उस समय चन्द्रमा के तेज से समस्त दिशायें शीतल हो गई थीं।[2]

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।
वनञ्च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥३॥

पूर्ण मण्डल वाले, भगवती महालक्ष्मी (रमा) के मुख के तुल्य आभा वाले, अभिनव कुंकुमराग के सदृश अरुण रंग वाले चन्द्रमा को तथा उसकी कोमल रश्मियों से अनुरञ्जित वन को देखकर भगवान् ने गोप-सुन्दियों के मन को हरण करने वाला मधुर गान किया।

इस श्लोक के वर्णन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस समय भगवान् ने यमुना तट पर चन्द्रमा की चन्द्रिका से अनुरंजित स्थान पर आकर अपनी मुरली की मधुर स्वरतन्त्री को निनादित किया था।[3]

---

१. **कं सुखं कुषु कुत्सितेषु भाति इति ककुभः।**

२. **सान्द्रेण चान्द्रमहसा शिशिरीकृताशे।** नारायणीय ६५, १
T. Ganapati Sastri, Trivandrum, 1912

३. **श्रीकृष्ण की मुरली की तान सुनते ही भ्रमर पुष्पों का मकरन्दपान करना छोड़ देते थे। पशु-पक्षी अर्द्धचर्वित अभिनव तृण को चबाना छोड़ देते थे। श्रीकृष्ण की मुरली की अमृततुल्य स्वरलहरी से आकर्षित हंस, पिक तथा मयूर निस्तब्ध हो जाते थे।**

'रमाननाभम्' पद से यह ध्वनि निकलती है कि यहां राधापदग्राह्य रमा शब्द का प्रयोग उस शक्ति के लिए किया गया है जिसके दर्शन मात्र से समस्त प्राणियों के हृदयकमल खिल जाते हैं। इस प्रकार भगवान् ने चन्द्रमा की कान्ति में श्रीप्रिया के मुखकमल की शोभा का स्मरण करके अव्यक्त मधुर गान प्रारम्भ किया।

चन्द्रबिम्ब में श्रीराधा के मुखारविन्द के स्वरूप की उत्प्रेक्षा का आधार निम्नलिखित तीन विशेषणों पर अवलम्बित था :—

(१) कुमुद्वन्तम्। यहां चन्द्रमा के लिए कुमुद्वान् शब्द का प्रयोग विशेष अभिप्राय को प्रकट करता है। समस्त संसार के कुमुद चन्द्र दर्शन से विकसित हो जाते हैं। इससे यह भाव प्रकट होता है कि उस समय सारे कुमुद खिल चुके थे।

श्रीप्रिया के मुखारविन्द के अर्थ में कुमुद शब्द का अर्थ है, कु=पृथिवी, मुद्=हर्ष। अर्थात् जिस मुख के दर्शन से समग्र पृथ्वी आनन्द से प्रकर्ष में उल्लसित हो जाती है। वह मुख 'कुमुद्वत्' कहलाता है। केवल रमास्वरूपिणी श्रीप्रिया के मुखारविन्द में ही समस्त भू-मण्डल को हर्ष विभोर करने की अचिन्त्य शक्ति है।

(२) अखण्डमण्डलम्। चन्द्रपक्ष में इसका अर्थ षोडशकलासम्पन्न चन्द्रबिम्ब से है तो मुखपक्ष में सर्वविधसौन्दर्यपरिमण्डित मुख से है।

(३) नवकुंकुमारुणम्। इसका चन्द्रपक्ष में नवीन कुंकुम के तुल्य अरुण वर्ण से तात्पर्य है तो मुखपक्ष में नवीन कुंकुम के राग से मुख पर लाल वर्ण की कान्ति का प्राकट्य है।

इस प्रकार इन तीनों विशेषणों से चन्द्र दर्शन के कारण भगवान् को श्रीराधा की मुखारविन्द मधुरिमा का स्मरण होता है जो लीला में एक विशेष क्रिया उत्पन्न करने का कारण बन जाता है। चन्द्रोदय के वर्णन से द्वितीय अभिप्राय रासलीला के लिए उपयुक्त समय का निर्देश करना भी था।

कोमलगोभिरंजितम्। वन के इस विशेषण से एक तरफ तो लीला के लिए उपयुक्त स्थान का संकेत होता है, दूसरी तरफ कोमल शब्द का प्रयोग चन्द्रोदय की प्रारम्भिक अवस्था को प्रकट करता है।

कलं। कल शब्द के एक साथ दो अर्थ होते हैं—(१) अव्यक्त (२) मधुर। प्रथम अर्थ की प्रतीति गोपियों के अनेक नामों को एक साथ वंशी में गाने के कारण होती है और द्वितीय अर्थ का ज्ञान मन को हरण करने की विशेष माधुरी के अनुपम संपुट के कारण होती है।

वामदृशां मनोहरम्। (क) जिन गोपबालाओं की भगवान् के प्रति वामदृष्टि थी उनके मन को हरण करने के लिए गान किया था। मन को इन्द्रियों का अधिष्ठातृदेव माना गया है। अतः मन के हरण से समस्त इन्द्रियों का भी आकर्षण स्वभावतः हो जाता है।

अवि प्रचुरलालसा मधु मधुव्रता नापिबन्, मुखात्तमपि नूतनं तृणचरास्तृणं नाचरन्।
मुरारिमुरलिस्वरामृतरसैकबद्धादरा, न हंसपिककेकिनः किमपि कूजितं चक्रिरे।

लोलिम्बराजकृतहरिविलास २, ८,

(ख) द्वितीय श्लिष्ट अर्थ में काम बीज के गान का भाव प्रकट होता है। तन्त्र-शास्त्र में दीर्घ ईकार के लिए वामदृक् संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। कल+ई (वामदृक्)। 'मनोहर' का अर्थ है मन को हरण करने वाला। 'मनः' शब्द में मन का अधिष्ठाता चन्द्रमा है। चन्द्रमा का अर्थ चन्द्रबिन्दु से है। चन्द्रबिन्दु अर्धमात्रा का प्रतिनिधान करता है। इस प्रकार ककार तथा लकार से अर्धमात्रा का हरण यहाँ अभिप्रेत है। फलतः कृल्+ईम्=क्लीं।

इसी बीज के गान द्वारा भगवान् ने सम्पूर्ण गोपियों का एककालावच्छेदेन आवहान कर लिया था।

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥४॥

अनङ्ग की वृद्धि करने वाले उस गान को सुनकर व्रजरमणियों का मन श्रीकृष्ण में आसक्त हो गया। परस्पर अन्यान्य गोपियों के चलने के प्रक्रम को नहीं जानती हुई वे उस स्थान पर पहुँचीं जहाँ प्रिय श्रीकृष्ण थे। इस समय वेग के कारण उनके कानों के कुण्डल चंचल हो रहे थे।

वास्तव में भगवान् ने मुरली में 'क्लीं' बीज का गान किया था। उसके अद्भुत प्रभाव से केवल उन्हीं गोपियों ने वंशी के गान को सुना जिनको बुलाना भगवान् को अभीष्ट था। यही कारण है कि किसी भी गोपी को यह पता नहीं लगा कि उसके साथ अन्यान्य सैकड़ों गोपियों के यूथ भी चल रहे हैं।

अनंगवर्धनम्। यहां अनङ्ग शब्द श्रीकृष्णविषयक अप्राकृत काम का बोधक है। श्रुतिस्वरूपा गोपियों के हृदयों में यही अप्राकृत काम पहले ही बीज रूप से विद्यमान था। उसी की वृद्धि इस गान से हुई। इस अप्राकृत काम के अंकुर पल्लवित होने पर साधक की वृत्तियां भगवद्दर्शन के लिए अत्यंत व्याकुल हो जाती हैं।

व्रजस्त्रियः। यद्यपि बहुवचनान्त यह पद व्रजमण्डल की समस्त स्त्रियों का सामान्य रूप से ग्रहण करता है किन्तु वास्तव में इस पद से केवल उन्हीं स्त्रियों का बोध होता है, जिनको बुलाना भगवान् को अभीष्ट था। केवल उन्हीं स्त्रियों को भगवान् का आकर्षक गीत सुनाई दिया था।

अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः। यहां चार भाव व्यक्त होते हैं।

(क) योगमाया के प्रभाव से किसी भी गोपी को अन्य गोपी के साथ चलने का ज्ञान नहीं हुआ।

(ख) गोपियां अपने समस्त गृहव्यापारों को त्याग कर इतनी शीघ्रता से जा रही थीं कि मन की अत्यधिक उत्कंठा के कारण किसी को भी नहीं देख रही थीं।

(ग) भगवान् के आकर्षण करने पर किसी भी गोपी का मन वश में नहीं रहा। मन के परवश होने पर बुद्धि भी अस्थिर हो गई। बुद्धि के अभाव में विचारशक्ति नहीं रही।

(घ) वंशीनाद की तन्मयता में गोपियों को यह ज्ञान नहीं रहा कि उनके साथ और गोपियां भी जा रहीं हैं।[1]

(५) आजग्मुः। इस क्रिया का अर्थ है "आने लगीं"। किन्तु यह असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि श्रीशुकदेव तो परीक्षित् के समीप थे। उनको यह कहना चाहिये था—"जाने लगीं"। इसके दो समाधान संभव हैं।

(क) भगवान् के एकान्त भक्त प्रत्येक काल में, प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक रूप में और प्रत्येक स्थान में अपने को भगवान् के समीप मानते हैं। इस प्रकार श्रीशुकदेव ने परीक्षित् के समीप रहते हुए भी रासलीला के काल में अपने को भगवत्सन्निधि में अनुभव करते हुए "आजग्मुः" पद का प्रयोग किया।

(ख) रासलीला के काल में भगवान् के पास आने का जो भाव गोपियों के मन में प्रकट हुआ था वही भाव श्रीशुकदेव के मन में गोपीभाव की उपासना के कारण प्रकट हुआ। फलतः 'आजग्मुः' कहते समय वे यह अनुभव कर रहे थे मानो स्वयं भगवान् के समीप गोपी-रूप से जा रहे हों।

कान्तः। कान्त शब्द द्वारा भगवान् के चित्ताकर्षक दिव्य सौन्दर्यविशिष्ट वपु तथा गुणों की प्रधानता सूचित होती है। जो गोपियों की स्पृहा के कारण थे।

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥५॥

कुछ गोपियां उत्सुकता की प्रबलता के कारण दुहती हुई दूध को छोड़कर भगवान् की तरफ चल दीं। कुछ अन्य गोपियां दूध को चूल्हे पर चढ़ाकर और हलुवे को उतारे बिना ही चली गईं।

(१) यहां परमहंसों को इस अर्थ की प्रतीति होती है कि जिस प्रकार गोपियों ने अपने समस्त सांसारिक कृत्यों की सर्वथा उपेक्षा करके भगवत्प्राप्ति के लिए तन्मयता की पराकाष्ठा प्राप्त की थी, उसी प्रकार जब तक संसार के किसी भी पदार्थ में साधक का लेश-मात्र भी ध्यान रह जायगा तब तक भगवत्प्राप्ति नहीं होगी।

(२) मुरली की अनोखी ध्वनि से गोपियां सुधबुध भूल गईं और वे अपने समस्त कृत्यों की उपेक्षा करके भगवत्सन्निधि में चल पड़ीं। यहां किस-किस गोपी ने किस-किस पदार्थ की उपेक्षा की इसका वर्णन किया गया है।

(३) समुत्सकाः। (क) इस पद से गोपियों के अन्तःकरण में भगवान् से मिलने

---

१. भगवान् की मधुर वेणुनादलहरी सुनकर गोपियां काष्ठनिर्मित पुत्तलिकाओं की भांति खिंची हुई वंशीवट पर चली आईं। वंशी की ध्वनि की सबसे प्रथम क्रिया यह हुई थी कि गोपियां स्तब्ध हो गईं और ऐसी प्रतीति हुई मानों वे चित्र में लिखी हुई किसी अद्भुत चित्रकार की कलात्मक कृतियां हैं।

"वेणुनादहृतचित्तवृत्तयश्चित्रवच्चलदृशोऽवतस्थिरे।"—हरिविलास २, १३

के हेतु अत्यंत प्रबल उत्कण्ठा का भाव प्रकट किया गया है। उनकी उत्कण्ठा इतनी बढ़ गई थी कि एक क्षण का भी विलम्ब असह्य था।

(ख) साधकपक्ष में यह अर्थ बताया गया है--जिस क्षण साधक को इतनी तीव्र उत्कण्ठा हो जाती है तो संसार के समस्त कार्य प्रपंच स्वतः छूट जाते हैं और तत्काल भगवान् के चरणों की सन्निधि प्राप्त हो जाती है।

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥६॥

कुछ गोपियां भोजन परोस रही थीं--उसे छोड़कर, कुछ अपने बच्चों को दूध पिला रहीं थीं--उसे छोड़कर, कुछ पतियों की सेवा कर रही थीं--उसे छोड़कर,और कुछ भोजन कर रही थीं--उसे छोडकर चल पड़ीं।

पंचम तथा षष्ठ श्लोक में यह बताया गया है कि स्त्रियों का सबसे प्रिय पदार्थ पुत्र तथा पुत्रों के हेतु दुग्ध होता है। भगवन्मिलन की उत्सुकता में उन्होंने इन दोनों का त्याग कर दिया। इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्ध में अपने सर्वप्रिय पदार्थों का त्याग बताया गया है। उत्तरार्ध में धर्मत्याग का निर्देश है और देह की अपेक्षा करने वाले पदार्थों के त्याग का संकेत किया गया है।

(१) शुश्रूषन्त्यः। कुछ गोपियां अपने पतियों की सेवा कर रही थीं। यहां सेवा से पति के चरणादिप्रक्षालन के हेतु जलानयन आदि से अभिप्राय है। यही स्त्री-धर्म का त्याग है।

(२) अश्नन्त्यः। कुछ भोजन कर रही थीं। भोजन देहयात्रा के लिए प्रधान साधन है। उन्होंने उसकी भी उपेक्षा की।

(३) परमहंसों को इस अर्थ की प्रतीति होती है कि जिस प्रकार गोपियां अपने समस्त क्रियाकलापों को अपूर्ण छोड़कर भगवान् की तरफ चल पड़ीं, उसी प्रकार जब भगवान् के दर्शन की कामना का वेग साधक के हृदय में उत्कट हो जाता है तो धर्म, अर्थ तथा काम के हेतु सम्पन्न होने वाले समस्त कार्यों के विधान ढीले पड़ जाते हैं।

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥७॥

कुछ गोपियां अङ्गराग का लेप कर रही थीं। कुछ गोपियां उबटन कर रही थीं, कुछ नेत्रों में कज्जल लगा रही थीं--[1]सब अपना-अपना कार्य छोड़कर

---

१. महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंबर के अवसर पर इसी प्रकार का वर्णन किया है कि एक स्त्री दाहिने नेत्र में कज्जल लगा रही थी। बांएं नेत्र में कज्जल लगाये बिना ही चल पड़ी।

"विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामलोचना। रघुवंश ७, ८

चल पड़ीं। इस प्रकार उलटे पुलटे वस्त्र तथा अलंकार धारण करके वे श्रीकृष्ण के समीप चल पड़ीं।

व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः। इस पद के तीन आशय निकलते हैं।

(१) इस विशेषण से प्रथम भाव यह प्रकट किया गया है कि गोपियों को भगवद्विषयक तल्लीनता के कारण अपने शारीरिक अवयवों का भी बोध नहीं रहा था। वस्त्रों तथा आभूषणों की अस्तव्यस्तता का यही प्रधान हेतु था। किसी गोपी ने हाथों के आभूषण पैरों में पहिन लिए थे और पैरों के आभूषण हाथों में पहिन लिए थे। यही स्थिति वस्त्रों के सम्बन्ध में भी थी। यह अस्तव्यस्तता स्पष्ट रूप से सिद्ध करती है कि गोपियों को इस समय अपने शरीर के अवयवों का अनुसन्धान नहीं था। साहित्य शास्त्र में इसको **विपर्यय भाव कहते हैं और इसका विभ्रम अनुभाव होता है।**[1] इसी प्रकार का वर्णन श्रीमद्भागवत में एक स्थान पर और प्राप्त होता है। जब भगवान् मथुरा गये थे तब वहां की नारियों की भी ऐसी ही अवस्था हुई थी। भगवद्दर्शन करने की शीघ्रता से किसी-किसी स्त्री ने अपने वस्त्र तथा आभूषण उलटे-पुलटे धारण कर लिये थे। कोई स्त्री केवल एक ही कुण्डल तथा एक ही कंगन पहन कर चल पड़ी थी। किसी ने एक ही कान में पत्राभूषण पहना था, तो किसी ने एक ही पैर में नूपुर धारण किया था। कोई रमणी एक नेत्र में कज्जल लगाकर, दूसरे नेत्र में कज्जल लगाये बिना ही चल पड़ी थी। कुछ भोजन कर रही थीं—वे भोजन छोड़कर चल पड़ीं। कुछ अंगराग का लेप कर रही थीं, वे स्नान किये बिना ही चल पड़ीं। कुछ सोती हुई-सुन्दरियां कोलाहल सुनकर उसी अवस्था में चल पड़ीं। कुछ अपने बच्चों को दुग्धपान करा रही थीं, वे बच्चों को छोड़कर कृष्णदर्शन की लालसा से खिंची हुई चल पड़ीं।[2] प्रस्तुत प्रसङ्ग से यह वर्णन बिल्कुल मिलता जुलता है।

(२) इस विशेषण से द्वितीय भाव यह प्रकट होता है कि गोपियों के अनुराग का आधिक्य अपने वस्त्र तथा अलंकार की अपेक्षा भगवान् के चरणारविन्दों में अधिक था।

(३) तृतीय अर्थ यह है कि जिन साधकों के हृदयों में भगवद्भक्ति मुखरित हो जाती है, जो इस प्रकार रागानुगा भक्ति में प्रवेश करने के कारण विधि से ऊपर उठ जाते हैं, उनकी क्रियाएं यथाविधि अनुष्ठित नहीं होने पर भी पूर्ण फलप्रदायिका होती हैं।

---

१. **वल्लभप्राप्तिवेलायां मदनावेशसंभवात्। विभ्रमो हारमाल्यादिभूषास्थानविपर्ययः।**
उज्ज्वलनीलमणि, अनुभाव, ३४, काव्यमाला ९५, बम्बई, १९३२

२. **काश्चिद्विपर्यग्धृतवस्तुभूषणा विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः।**
कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा नाऽक्त्वा द्वितीयं त्वपराश्च लोचनम्॥
अश्नन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवा अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः।
स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निःस्वनं निपाययन्त्योर्भमपोह्य मातरः॥
श्रीमद्भागवतमहापुराण, १०, ४१, २५-२६

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्त्तन्त मोहिताः ॥८॥

उन गोपियों के मन गोविन्द ने हर लिए थे। वे अत्यन्त मोहित हो उठी थीं। अत. अपने पतियों, पिताओं, भाइयों तथा बन्धुओं द्वारा रोकी जाती हुई भी निवृत्त नहीं हुई।

(१) यहां परमहंसों को दो अर्थ की प्रतीति कराई गई है।

(क) जिस प्रकार अपने परिवार के जनों द्वारा रोकने पर भी गोपाङ्गनाएं भगवान् के चरणानुराग से निवृत्त नहीं हुई, उसी प्रकार की दृढ़ता प्राप्त होने पर साधक को भगवत्प्राप्ति होती है।

(ख) जिस प्रकार तरंङ्गिणी अपने जल के अमन्द प्रवाह से मार्ग में प्रतिबन्धक प्रस्तर खण्डों को बहाती हुई महार्णव में जाकर लीन हो जाती है, वही स्थिति गोपियों की इस श्लोक में बताई गई है।

(२) मोहिताः। रात्रि के समय बाह्यगमन का परिवार-जनों द्वारा निषेध करने पर भी गोपियां नहीं रुकीं।

(क) इसका प्रथम कारण मोह की पराकाष्ठा थी। मोह के प्राकट्य में लज्जा तथा संकोच के भाव स्वतः शिथिल हो जाते हैं।

(ख) द्वितीय कारण यह था कि उनकी आत्मा का पूर्ण रूप से हरण हो चुका था। आत्मा शब्द का प्रयोग यहां "मन"—के अर्थ में किया गया है।

तरङ्गिणी के पक्ष में	गोपियों के पक्ष में
(क) वहां महार्णव में लीनता है।	(क) यहां श्रीकृष्ण ही महार्णव हैं।
(ख) वहां मार्ग में प्रतिबन्धक प्रस्तरादि खण्ड हैं।	(ख) यहां श्रीकृष्णप्राप्ति में पति, पिता, भाई, बन्धु ही प्रस्तरतुल्य प्रतिबन्धक हैं।
(ग) वहां महार्णव में जलप्रधानता है।	(ग) श्रीकृष्ण में आनन्दामृतजल-प्रधानता है।
(घ) महार्णव में अगाधता है।	(घ) श्रीकृष्ण में ज्ञानगंभीरता है।
(ङ) वहां बड़ी-बड़ी ऊर्मियां हैं।	(ङ) यहां प्रेम की कल्लोलें हैं।
(च) वहां मकरादि जन्तु निवास करते हैं।	(च) यहां भगवान् ने मकराकृति कुण्डल धारण कर रखे हैं।
(छ) वहां मछलियां हैं।	(छ) यहां मछलियों के तुल्य सुन्दर नयन हैं।
(ज) वहां रत्न हैं।	(ज) यहां अलंकारों में रत्न जड़े हुए हैं।
(झ) वहां प्रवाह-जन्य शब्द होता है	(झ) यहां मुरली का मधुर निनाद है।

(ञ) महार्णव के जल में मनुष्य डग-मगा जाता है।

(ट) वहां तरङ्गिणी है।

(ञ) यहां भक्त आनन्द के जल में विस्मृत हो जाता है।

(ट) यहां गोपियां हैं।

(३) अपहृतात्मानः। यदि यहां आत्मा शब्द का अर्थ मन नहीं मानकर जीवात्मा स्वीकार किया जाय तो इसका यह अभिप्राय होगा कि जब भगवान् ने गोपसुन्दरियों की जीवात्माओं का हरण किया तो फिर वे कैसे ठहर सकती थीं। जीवात्मा के अभाव में सभी का अपने शरीर से तत्काल वियोग हो जाता है।

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥९॥

कुछ गोपियां अपने प्रकोष्ठ के अन्दर थीं। उनको बाहर निकलने का मार्ग नहीं मिला। वे नेत्र बन्द करके श्रीकृष्ण की भावना से युक्त होकर श्रीकृष्ण का ध्यान करने लगीं।

प्रस्तुत श्लोक में साधनसिद्धा गोपियों की अवस्था का वर्णन किया गया है। ये अपने पतियों की सेवा करने के लिए अन्तर्गृह में थीं। साधनसिद्धावस्था में अनन्यता का वह भाव उदय नहीं होता जो नित्यसिद्धावस्था में होता है। फलतः पतियों द्वारा निवारण का निराकरण इनके लिए संभव नहीं हो सका। क्योंकि इनके शरीर सिद्ध नहीं थे।

दध्युः। जब उनको श्रीकृष्ण तक पहुँचने का कोई मार्ग नहीं मिला तो उत्कंठित अन्तःकरण से भगवान् का ध्यान करने लगीं।

गोपियों के इस ध्यान में निम्नलिखित पांच विशेषताएँ प्रकट हुईं :—

(१) पहली विशेषता "मीलितलोचनाः" पद से प्रकट होती है। उनके नेत्र बन्द थे, इसका एकमात्र कारण भगवान् के पास पहुँचने की असमर्थता से उत्पन्न होने वाली मनोवेदना की प्रबलता थी।

(२) अन्तःकरण में जब विप्रलम्भ के परम अनुराग की अनुभूति प्रारम्भ होती है तो तन्मयता की पराकाष्ठा में समस्त इन्द्रियां अपने बाह्य विषयों से पराङ्मुख हो जाती हैं।

(३) परमहंसों को यह अर्थ बताया जाता है कि इन्द्रियों की विषयों से पूर्ण पराङ्मुखता सिद्ध होने पर ही श्रीकृष्ण के स्वरूप-दर्शन में ध्यान की शक्तियां जम कर सजीव बनती हैं।

(४) परवशता में ध्यान का अभिप्राय यह भाव प्रकट करता है कि शरीर भले ही आपके चरणों में न जा सके किन्तु मन तो सदा आपके पास है।

(५) सामान्य नेत्रों द्वारा भले ही आपकी सौन्दर्यरसमाधुरी का पान न कर सकें किन्तु हृदयनेत्रों को कौन बन्द कर सकता है।

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥१०॥

प्रियतम के अत्यन्त असह्य विरह के तीव्र ताप से इस समय गोपरमणियों के समस्त पाप धुल गये थे और ध्यान की अवस्था में प्राप्त भगवान् श्रीकृष्ण के आलिङ्गन के सुख से उनके समस्त शुभ कर्म क्षीण हो गये थे ।

यहां यह बताया गया है कि जब तक शुभ तथा अशुभ प्रारब्ध कर्म की सत्ता रहती है तब तक मोक्ष नहीं होता अथवा भगवत्प्राप्ति नहीं होती । गोपियों के प्रसंग में अत्यन्त तीव्र विरह के दुःख से उनके समस्त अशुभ प्रारब्धों का तत्काल क्षय हो जाता है और ध्यान में प्रकट होने वाले भगवान् के त्रिभुवनकमनीय, त्रिभङ्गललित सुन्दर वपु के आलिङ्गन के सुख से उनके समस्त शुभ कर्मों का क्षय हो जाता है ।

(१) इन सभी श्लोकों से यह भाव स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि सभी प्रकार की गोपियों का श्रीकृष्ण के साथ सदा संयोग रहा । किसी का शरीर से, किसी का नेत्र से, किसी का ध्यान से और किसी का मन से ।

(२) साहित्य शास्त्र की दृष्टि से इस श्लोक में उपवर्णित गोपियों को 'विप्रलब्धा' की संज्ञा दी गई है । विप्रलब्धा उस नायिका को कहते हैं जो अपने प्रियतम से मिलन का संकेत प्राप्त होने पर भी भाग्यवश नहीं मिल सकती और अत्यन्त व्यथा का अनुभव करती है ।[1] यह भाव "दुःसहप्रेष्ठविरह" पद से अभिव्यक्त होता है ।

(३) श्लोक के पूर्वार्ध में दुःसह तथा तीव्र दोनों शब्दों द्वारा विरहजन्य संताप की उत्कटता का बोध कराया गया है और उत्तरार्ध में अच्युत तथा निर्वृत्ति शब्दों द्वारा मिलन की स्थिति के आनन्द की चरम सीमा का संकेत किया है । श्रीकृष्ण के लिए अच्युत शब्द का साभिप्राय प्रयोग यह बताता है कि जो श्रीकृष्ण कभी भी आनन्द से च्युत नहीं होते ।

(४) **"अशुभाः"**—(क) पूर्वार्ध में अशुभ शब्द का प्रयोग यह बताता है कि भगवत्प्राप्ति में अशुभ प्रारब्धों को सबसे पहले प्रतिबन्धक माना गया है । अतः साधक को सबसे पहले जन्मजन्मान्तर के पापकर्मों का क्षय दुःखभोग द्वारा करना पड़ता है ।

(ख) **"मंगलाः"**—उत्तरार्ध में मंगल शब्द से यह बताया गया है कि अशुभ प्रारब्धों के क्षय होने पर भी जब तक शुभ कर्म शेष रहते हैं और उनके सुख का भोग नहीं होता तब तक आत्मा अखण्ड ब्रह्म चैतन्य में लीन नहीं होती ।

(ग) मंगल शब्द से यह अर्थ भी निकलता है कि भगवान् के मिलन के आनन्द में सुख की उद्भूति परमानन्दमयी होती है ।

---

१. **कृत्वा संकेतमप्राप्ते दैवाज्जीवितवल्लभे । व्यथमानान्तरा प्रोक्ता विप्रलब्धा मनीषिभिः ।**
—उज्ज्वलनीलमणि, नायिकाभेद, ८२–८३ काव्यमाला ९५, बम्बई, १९३२

(५) साधकपक्ष में यह अर्थ है कि शुभ तथा अशुभ दोनों प्रवृत्तियों के भोग से ऊपर उठने पर ही भगवत्प्राप्ति होती है।

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥११॥

उसी परमात्मा श्रीकृष्ण को जारबुद्धि से भी प्राप्त होने वाली गोपियों के समस्त बन्धन तत्काल क्षीण हो गये और उन्होंने गुणमय शरीर का त्याग कर दिया।

(१) यहां प्रथम प्रश्न यह होता है कि गोपियों ने तो श्रीकृष्ण को परमात्मभाव से नहीं भजा था। उनकी तो श्रीकृष्ण के प्रति जारबुद्धि[1] थी। फिर उनको तत्काल भगवत्प्राप्ति कैसे हो गई? वास्तव में जिस वस्तु का जो प्रभाव होता है, जो गुण होता है वह प्रभाव तथा गुण उस वस्तु के सेवन से तत्काल प्रकट हो जाता है। चाहे उसका सेवन उसके गुणों के ज्ञान के साथ किया जाय अथवा ज्ञान के बिना किया जाय। उदाहरण के लिए अग्नि को लिया जाता है। अग्नि का गुण है जलाना तथा प्रकाश करना। यदि किसी बालक को अग्नि की दाहकत्वशक्ति का परिचय नहीं है तो क्या अग्नि उसके लिए शीतलता को प्रकट करेगी? इसी प्रकार दुग्ध, घृत, विष अथवा अमृत आदि पदार्थों का यदि किसी अन्य वस्तु के भ्रम से भक्षण किया जाय तो भी वे वस्तुएं सर्वदा अपना ही गुण प्रकट करेंगी। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुशक्ति कभी भी बुद्धिसापेक्ष नहीं होती। अतः यद्यपि गोपियों की जारबुद्धि थी तथापि भगवत्सान्निध्य के कारण उनको उसी प्रकार का फल प्राप्त हो गया।

(२) द्वितीय प्रश्न है कि कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रथम तो प्रारब्धों के नाश के पूर्व गुणमय देह का नाश नहीं हो सकता। फिर गोपियों की इच्छा के नाश के पूर्व गुणमय देह का नाश कैसे हुआ? इसका समाधान "सद्यः" पद से किया गया है। भगवत्सान्निध्य के प्रभाव से तत्काल उनके समस्त बन्धन क्षीण हो गये थे। दशवें श्लोक में स्पष्ट रूप से बता चुके हैं कि श्रीकृष्ण के विरह के दुःख की अग्नि से उनके समस्त अशुभ प्रारब्ध तत्काल क्षीण हो गये थे और ध्यान में प्रकट होने वाले श्रीकृष्ण के आलिंगन के सुख से शुभकर्मों की इतिकर्त्तव्यता हो चुकी थी। इस प्रकार पाप तथा पुण्य के बंधन टूटते ही उनके गुणमय शरीर छूट गये।

---

१. **यदि जार शब्द से यह अर्थ स्वीकार किया जाय कि जो कामवासना को जीर्ण करने वाला है, तो किसी भी प्रकार की असङ्गति ही उपस्थित नहीं होती।**

"जरयति कामवासनामिति जारः।"

विशुद्धरसदीपिका, श्रीमद्भागवतम्, प० ६२-
(१०, २९, १) सं० नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी,

(३) गुणमयं देहम् । गुणमय शब्द यहां देह का विशेषण है। गुण शब्द से विकारार्थ में मयट् प्रत्यय लगाया गया है। इस प्रकार इसका अर्थ होता है—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण का विकार शरीर है। जब शरीर को तीनों गुणों का विकार मानते हैं तो केवल स्थूल देह से ही तात्पर्य होता है क्योंकि कारणशरीर तथा लिंगशरीर में गुणों का स्पर्श नहीं होता।

यहां एक शंका होती है कि केवल "देहं" कहने से ही इस अर्थ का बोध हो जाता है कि देह गुणों का विकार है। फिर यहां "गुणमयं" पद की क्या आवश्यकता थी? जिस प्रकार "शर्करा" शब्द के उच्चारण से ही शर्करागत माधुर्य की स्वतः प्रतीति हो जाती है उसके लिए पृथक् मधुर विशेषण की अपेक्षा नहीं होती। जिस प्रकार अग्निस्फुलिङ्ग कहने से अग्नि की दाहकत्वशक्ति का स्वतः ज्ञान हो जाता है, उसके हेतु पृथक् "दाहक" विशेषण की अपेक्षा नहीं होती। उसी प्रकार "देहं" कहने से ही गुणों के विकार का ज्ञान हो जायगा, पुनः "गुणमयं" पद की क्या आवश्यकता है?

वास्तव में गुणमय शब्द का प्रयोग उन गोपियों की दृष्टि से किया गया है जिन्होंने रासलीला में नहीं पहुंचने के कारण, केवल ध्यान की तीव्र स्थिति में सगुण देह का त्याग किया था। उनको तत्काल निर्गुण देह की प्राप्ति हो गई थी। उसी निर्गुण देह से वे भगवत्सन्निधि में पहुंची थीं।

इस प्रकार गुणमय देह यह भाव प्रकट करता है कि भगवान् के अप्राकृत गुणों के आविर्भाव के कारण गोपियों के समस्त मूलप्रकृति सम्बन्धी प्राकृत गुण ही शान्त हो गये थे और उन्होंने अप्राकृत राज्य में प्रवेश प्राप्त कर लिया था। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि जब भक्ति मार्ग में एक तरफ तन्मयता के कारण भगवान् की वास्तविक स्वरूपशक्ति का भक्त को बोध नहीं होता तो दूसरी तरफ भगवान् की अचिन्त्य शक्तियां स्वतः ही भगवान् के गुणों का आलोक भक्त के हृदय में कर देती हैं।

यह समाधान भी संभव है कि जिन गोपियों को रासक्रीड़ा में प्रविष्ट होने का अधिकार प्राप्त हुआ था उनके देह उस समय सत्त्वादि तीनों गुणों से पृथक् हो चुके थे।

अथवा यहां "गुण" शब्द का अर्थ षड्गुण के अर्थ में है और मयट् प्रत्यय का विधान प्रचुर अर्थ में है। अतः 'गुणमय' का अर्थ होगा—मनोगत षड्गुणों की प्रचुरता। भगवत्सन्निधि के काल में सभी प्रकार के मानसिक गुण उपक्षय को प्राप्त करते हैं।

(४) कोई गोपकन्या जगत् के कारण परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण का चिन्तन करती हुई मूर्च्छित होकर मुक्त हो गई क्योंकि श्रीकृष्णचिन्तन के विमल आह्लाद से उसकी पुण्यराशि तत्काल क्षीण हो गई थी और श्रीकृष्ण की अप्राप्ति के दुःख से समस्त पाप विलीन हो गये थे।[1]

---

१. **तच्चित्तविमलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा। तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका॥**
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्। निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका॥
विष्णुपुराण ५, १३, २१–२२

परीक्षित् बोले

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥१२॥

हे मुने ! गोपियां तो श्रीकृष्ण को केवल कान्तभाव से जानती थीं। उनकी बुद्धि श्रीकृष्ण के प्रति ब्रह्मपरक नहीं थी। फिर गुणों में उनकी बुद्धि की वृत्तियां लगने पर भी उनमें गुणों के प्रवाह कैसे शान्त हो गये ?

(१) इस प्रसंग में हमें दो पाठ प्राप्त होते हैं।

(क) परीक्षित् उवाच।

(ख) राजोवाच।

प्रथम पाठ के पक्ष में परीक्षित् शब्द की दो प्रकार की व्युत्पत्तियां संभव हैं। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्णरूप से पाप का नाश करने के कारण परीक्षित् कहते हैं।[1] द्वितीय परिभाषात्मक व्युत्पत्ति भागवत में मिलती है जिसके अनुसार गर्भावस्था में देखे हुए भगवान् का स्मरण करते हुए उन्हें समस्त प्राणियों में ढूंढते रहने के कारण परीक्षित् कहा जाता है।[2] इससे यह भाव व्यक्त होता है कि यद्यपि परीक्षित् समस्त प्राणियों के अन्तर्भावों का ज्ञान प्राप्त करने की अद्भुत शक्ति से सम्पन्न थे तथापि भगवान् तथा भगवद्विषयों के सम्बन्ध में सन्देहयुक्त हो जाना मानव की स्वाभाविक अल्पज्ञता का चिह्न है। अल्पज्ञत्वावच्छिन्न चैतन्य-स्वरूप जीव का सर्वज्ञत्वावच्छिन्न चैतन्यस्वरूप ब्रह्म के विषय में संशययुक्त होना सर्वथा स्वाभाविक होता है।

द्वितीय पाठ के पक्ष में राजन् शब्द यह भाव प्रकट करता है कि यद्यपि राजा प्रजा के दुःख तथा सुख को जानता है तथापि उसका ज्ञान सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं। इस प्रकार जब राजा अपनी प्रजा के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञानवान् नहीं हो सकता तो भगवान् के विषय में उसका आश्चर्ययुक्त होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

(२) कान्तं। यह तो एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है। किन्तु जब तक किसी पदार्थविशेष में ब्रह्मभाव उदित नहीं होता तब तक उस पदार्थ में ब्रह्मभाव के फल देने की शक्ति भी नहीं होती। जिस प्रकार माता के प्रति, पिता के प्रति, पति के प्रति और पुत्र, मित्र, कलत्रादि के प्रति ब्रह्मबुद्धि के अभाव में भगवत्प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार गोपियों की भी श्रीकृष्ण के प्रति केवल कान्तपरायण बुद्धि थी फिर उनके गुणों के प्रवाह किस प्रकार शान्त होकर मोक्ष के कारण बन सकते हैं ? यह स्मरणीय है कि श्रीकृष्ण को गोपियों ने केवल "कान्त" रूप से जाना था। कान्त पद के दो अर्थ हैं।

---

१. **परि सर्वतोभावेन क्षीयते हन्यते दुरितं येन स परीक्षित्। परि+क्षि+क्विप्**
शब्दकल्पद्रुम, भाग ३ पृ० ६९

२. **स एष लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः। गर्भ दृष्टमनुध्यायन्परीक्षेत नरेष्विह ॥**
श्रीमद्भागवतमहापुराण १, १२, ३०

(क) अपने विशिष्ट गुणों द्वारा मनोहर।

(ख) अत्यन्त प्रेमास्पद।

(३) यहां प्रथम प्रश्न यह है कि जो ब्रह्म के निर्गुण रूप की आराधना करते हैं उनको तो निर्गुण स्वरूप के दर्शन की क्षमता प्राप्त हो जाती है किन्तु जो भक्तिमार्ग में ब्रह्म के सगुण रूप में अपने मन की वृत्तियां दृढ़ करते हैं, उनके अन्तःकरण में तो भगवान् के सगुण रूप का ही प्रादुर्भाव हुआ करता है। जिस समय सगुण रूप का प्राकट्य होता है उस समय भगवान् के समस्त अप्राकृत गुण भी भक्तों में स्वतः उदित हो जाते हैं। इस प्रकार सगुणोपासना में जब अप्राकृत गुणों का आविर्भाव माना जाता है तो फिर गोपियों के हृदय से गुणों का उपराम कैसे हो सकता है?

द्वितीय प्रश्न यह है कि गोपियों ने श्रीकृष्ण को केवल कान्तरूप से जाना था। सर्व-व्यापक रूप पर उनकी बुद्धि नहीं थी। फिर भगवान् का आविर्भाव उनके प्रकोष्ठों में ध्यान में भी कैसे हुआ? भगवदाश्लेष के बिना विरह की तीव्रता का उपशम नहीं हो सकता। भगवत्संयोग के बिना गुणों का उपराम नहीं हो सकता?

इन दोनों प्रश्नों का समाधान 'ब्रह्मतया' पद से दिया जाता है।

(४) ब्रह्मतया। ब्रह्मरूप से गोपियों ने श्रीकृष्ण को नहीं देखा था। यहां ब्रह्म शब्द असंदिग्ध रूप से अपने निर्गुण रूप को प्रकट करता है। ब्रह्म की निर्गुणभावनिष्ठता के कारण गोपियों की बुद्धि भगवान् के सगुण भाव पर केन्द्रित अनुलक्षित होती है। यह अर्थ "कान्त" पद से निकलता है। इस प्रकार जब गोपियों की बुद्धि गुणविशिष्ट मान ली जाती है तो यह भी मानना पड़ता है कि भगवान् में रहने वाले गुणों की परम्परा सर्वथा अप्राकृत है। भगवान् के अप्राकृत गुणों में ही गोपियों के अन्तःकरण बंध गये थे। यही गुणनिष्ठ बुद्धि की विशेषता को प्रकट करता है।

(५) मुने। श्रीशुकदेव के लिए मुनि शब्द का प्रयोग यह बताता है कि उन्होंने समस्त शास्त्रों का मनन द्वारा मन्थन कर लिया था और वे वेदादि शास्त्रों के गूढ़ तत्त्वज्ञान को अच्छी तरह जानते थे।[1]

श्रीशुकदेव बोले

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥१३॥

तुम्हें मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जिस प्रकार हृषीकेश से द्वेष करके भी चेदिराज शिशुपाल ने सिद्धि को प्राप्त कर लिया था, तो अधोक्षज की प्रियाओं के सम्बन्ध में क्या आश्चर्य है?

---

१. मुनिः = **मन्तारो वेदशास्त्रार्थतत्त्वावगन्तारो मुनयः**। देखिये "मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च" श्लोक पर सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका, पृ० १।

(१) इस श्लोक द्वारा महाराज परीक्षित् के प्रश्न का समाधान किया गया है। इसका अभिप्राय है कि भारतीय दर्शनशास्त्र के अनुसार यद्यपि प्रत्येक जीव ब्रह्म का अंश है।[१] तथापि जीव को इन्द्रियाधीन माना जाता है। इस प्रकार जब जीव की सम्पूर्ण ज्ञानराशि इन्द्रिय-परतन्त्र हो जाती है तो उसमें रहने वाला ब्रह्म का अंश भी इन्द्रियों के बल से ढक जाता है। अथवा अज्ञान के परदे में छुप जाता है।[२] किन्तु श्रीकृष्ण के ज्ञान का आधार इन्द्रियसापेक्ष नहीं होता। यही भाव इस श्लोक में दो विशेषणों द्वारा बताया जाता है।

(क) हृषीकेश, (ख) अधोक्षज।

हृषीकेश पद का अर्थ है हृषीक=इन्द्रियां, ईश=स्वामी। जो संसार के समस्त प्राणियों की इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं। यह विशेषण बताता है कि श्रीकृष्ण का ब्रह्मत्व किसी भी प्रकार इन्द्रियपरतन्त्र नहीं माना जा सकता।

अधोक्षज का अर्थ है जिसने इन्द्रियजन्य ज्ञान को तिरस्कृत कर दिया है।[३] यह विशेषण भी बताता है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान की परिधि के बाहर श्रीकृष्ण की स्थिति है।

(२) द्विषन्नपि। श्रीकृष्ण के प्रति अहर्निश शत्रुभावमय चिन्तन करने पर भी शिशुपाल को दिव्यगति प्राप्त हो गई थी। वैरपूर्वक भी अनुध्यान से, वैरशून्य चिन्तन से, भय, स्नेह अथवा काम द्वारा भी जब किसी का भगवान् के साथ नित्ययोग स्थापित हो जाता है तो पारस्परिक तादात्म्यसत्ता प्रकट होती है।[४] इस प्रकार के अनेक उदाहरण पौराणिक परम्परा में उपलब्ध होते हैं कि भावभिन्नता होने पर भी अनेक व्यक्तियों ने दिव्यगति प्राप्त की थी।[५] इस सम्बन्ध में प्रायः अप्राकृत कामभावना की प्रचुरता से गोपियों की, भय की भावना से चिन्तन द्वारा कंस की और द्वेषभावना से शिशुपाल की दिव्यगति का उदाहरण दिया जाता है।[६] वास्तव में शत्रुभाव से भी जब चिन्तन अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेता है तो अन्तःकरण की वृत्तियां पूर्ण ध्याननिष्ठ हो जाती हैं। भगवत्पदार्थ के साकार रूप में वृत्तियों का तदाकार से ढलना ही भगवत्प्राप्ति में अन्यतम कारण स्वीकार किया जाता है। यही कारण है कि वैरभावना का तीव्र अनुबन्ध विद्यमान होने पर भी शिशुपाल तथा दन्तवक्त्र अच्युत श्रीकृष्ण के साथ एकात्मभाव को प्राप्त करके पार्षद कोटि में पहुँच गये थे।[७] इस

---

१. **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।** श्रीमद्भगवद्गीता १५, ७।

२. **अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।** वही ५, १५।

३. **अधःकृतम् अतिक्रान्तम् अक्षजम् इन्द्रियजं ज्ञानं येन स अधोक्षजः।**
भागवतसन्दर्भ (भगवत्सन्दर्भ), पृ० १९७।

४. **तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा। स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक्॥**
श्रीमद्भागवतमहापुराण ७, १, २५

५. **आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः।** वही, ७, १, २९।

६. **गोप्यः कामाद् भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।** वही, ७, १, ३०

७. **वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम्।**
नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ॥ वही, ७, १, ४६

प्रकार जब द्वेषभाव से भी वृत्तियों की एकतानता को भगवत्प्राप्ति में फलाधायिका के रूप में स्वीकार किया गया है तो परमानुरागवती गोपसुन्दरियों की श्रीकृष्ण के आकारचिन्तन, नामचिन्तन, लीलाचिन्तन तथा गुणानुवादचिन्तन में ढली हुई अनुरागवृत्ति को भगवत्प्राप्ति के प्रति आधायिका के रूप से स्वीकार करना सर्वथा युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१४॥

हे राजन्! अव्यय अप्रमेय निर्गुण गुणात्मा भगवान् की अभिव्यक्ति केवल मनुष्यों के निःश्रेयस कल्याण के हेतु होती है।

(१) इस श्लोक में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि भगवान् का अवतार केवल मनुष्यों के कल्याण के लिए होता है। उनको सामान्य मनुष्यों के समान मानना भ्रमात्मक है।

(२) नृणाम्। मनुष्यवाचक नृ शब्द यहां जीवमात्र के अर्थ में उपलक्षण है। इसका यह आशय है कि जब भगवान् का आविर्भाव जीवमात्र के कल्याण के लिए होता है तो भगवान् के प्रति परमानुरागसम्पन्न गोपसुन्दरियों का कल्याण क्यों नहीं होता?

(३) निःश्रेयस्। कल्याण का अभिप्राय यहां भगवान् की अप्राकृत लीलाओं के आनन्द-महार्णव में निमज्जन करने से है।

(४) भगवतः। इस प्रकार भगवान् के आविर्भाव का उद्देश्य प्राणिमात्र का कल्याण करना स्थिर होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु शक्तिसम्पन्नता द्योतित करने के भाव से ही भगवान् पद का प्रयोग किया गया है। यह स्मरणीय है कि षडैश्वर्यसम्पन्न सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कर्त्तुं अकर्त्तुं अन्यथाकर्त्तुं समर्थ ईश्वर ही सबका कल्याण कर सकते हैं।

(५) इस श्लोक में श्रीकृष्ण के लिए चारों विशेषणों का प्रयोग विशेष अभिप्राय से किया गया है। इनका प्रधान उद्देश्य भगवान् की भगवत्ता बताना है।

(क) **अव्यय**। जिनका कभी भी व्यय अर्थात् नाश नहीं होता और जिनमें जन्म-मरण का विकार नहीं रहता। ये अपनी कल्याणशक्ति से नित्य भक्तगणों का कल्याण करते हैं।

(ख) **अप्रमेय**। यह विशेषण उनकी सर्वव्यापकता को बताता है। जो प्रमा अर्थात् बुद्धि का विषय नहीं हो सकता उसे अप्रमेय कहते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण देशतः, कालतः तथा वस्तुतः, अपरिच्छिन्न हो जाते हैं जो ब्रह्म का लक्षण है।[1]

(ग) **निर्गुण**। गुणों से रहित हैं। यहाँ गुण शब्द से माया के गुणों का ग्रहण किया गया है। माया को नश्वर माना गया है। इस प्रकार निर्गुण होने से भगवान् को माया से पृथक् मानने पर उनमें चिरन्तनता का आदर्श प्रकट होता है।

(घ) **गुणात्मा**। जो माया के गुणों को भी स्वयं प्रवृत्त करते हैं। सुप्तावस्था के करुणा आदि गुणों को जागृत करना भगवान् की भगवत्ता का धर्म है।

---

१. **अनन्ते देशतः कालतो वस्तुतो वापरिच्छिन्ने**। शाङ्करभाष्य, श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५, १

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥१५॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य अथवा सौहार्दभाव किसी को भी भगवान् हरि में नित्य स्थापित करने वाले भगवन्मय हो जाते हैं।

(१) काम। काम शब्द से यहां केवल अनुरागप्रधान धीवृत्ति से तात्पर्य है जो गोपाङ्गनाओं में थी। इस वृत्ति में वासना का लेश भी नहीं होता।

(२) क्रोध। यह शब्द द्वेषमूलक है। इसका उदाहरण चेदिराज शिशुपाल दिया जा सकता है।

(३) भय। भीति की अवस्था में मनुष्य अहर्निश भय के कारण का चिन्तन करता है। जैसे कंस।

(४) स्नेह। इसका सबसे अच्छा उदाहरण गोपियों अथवा पाण्डवों के रूप में स्वीकार किया जाता है।

(५) ऐक्य। जिस प्रकार योगी समाधि की स्थिति में ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार की एकता के भाव का उदय यहां ऐक्य पद से अभिप्रेत है। ऋथ तथा कैशिक इस भाव की साधना के प्रतीक हैं।

(६) सौहृद। मित्रभाव से। जैसे अर्जुन।

इसका तात्पर्य है शत्रुभाव अथवा मित्रभाव किसी भी भाव से भजने पर भगवान् जीवों का परम कल्याण करते हैं और अपने स्वरूप को प्रदान करते हैं। सिद्धान्तपक्ष में भय तथा द्वेष भक्तिमार्ग में ग्राह्य नहीं हैं। ऐक्य भी भक्तिमार्ग में स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि उस स्थिति में भगवान् के माधुर्यादि गुणों की स्फूर्ति का रसास्वाद भक्तों को नहीं हो सकता।

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥१६॥

जिसके प्रभाव से सम्पूर्ण जगत् मुक्त हो जाता है। उस अज, योगेश्वरों के ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विस्मय मत करो।

(१) भवता। यहां परीक्षित् के लिए साक्षात 'भवत्' के प्रयोग से यह भाव निकलता है कि संसार के सामान्य व्यक्ति भगवान् की अचिन्त्य अनन्त महिमा से अनभिज्ञ होकर भले ही उनके कार्यों के प्रति आश्चर्य तथा सन्देह करें। किन्तु तुमको इस प्रकार का सन्देह करना कदापि युक्ति-संगत व विचार-संगत नहीं माना जा सकता क्योंकि तुम उनकी अद्भुत कृपा का और विलक्षण शक्ति का अनुभव गर्भावस्था में ही कर चुके हो। जब भगवान् ने तुम्हारी रक्षा की थी।[1]

---

१. अन्तस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः। स्वमायया ऽऽवृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥
यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम्। वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह ॥
श्रीमदभागवत महापुराण १, ८, १४–१५

(२) अज। जिसका कभी भी जन्म नहीं होता। जो केवल भक्तों पर अपने दिव्य अनुराग की वर्षा करने के लिए कभी-कभी स्वयं अपने को प्रकट कर देते हैं।

(३) योगेश्वरेश्वर। यहां श्रीकृष्ण को योगेश्वरों का ईश्वर माना गया है। यह विशेषण बताता है कि श्रीकृष्ण में समस्त पारस्परिक विरुद्ध धर्मों की एक साथ स्थिति मानी जाती है और समस्त आश्चर्यप्रधान पदार्थों की निष्ठा विद्यमान रहती है।

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।
अवदद्वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन् ॥१७॥

बोलने वालों में श्रेष्ठ भगवान् ने व्रजरमणियों को अपने निकट आता हुआ देखकर, वाणी के कोमल विलास से मोहित करते हुए बोलना आरम्भ किया।

(१) पेशैः। पेश शब्द वाणी के कोमल विन्यास को बताता है। यह दो प्रकार का होता है।

शब्दनिष्ठ वाग्विन्यास। इसमें ललित पदविन्यास और माधुर्य का सन्निवेश होता है। भगवान् ने मन्दहास्यमण्डित मुखारविन्द द्वारा कोमलकान्तपदावली से युक्त मधुरवाणी से बोलना प्रारम्भ किया।

अर्थनिष्ठ वाग्विन्यास। अर्थनिष्ठ वाग्विलास वक्ता के आन्तरिक भावों से सम्बद्ध होता है। इसके चार भेद शास्त्रों में माने गये हैं।

(क) उपेक्षाभंङ्गिमय = भङ्गिक्रम से वार्त्ता की उपेक्षा करना।
(ख) प्रार्थनाभङ्गिमय = भङ्गिक्रम से प्रार्थना करना।
(ग) युगलार्थस्थापनामय = उपेक्षा तथा प्रार्थना दोनों एक साथ करना।
(घ) वास्तविकार्थमय = वास्तविक कथा का सहनिर्देश करना।

प्रस्तुत प्रसंग में इसका आशय है कि जिस समय गोपियों को भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दनिष्ठ वाग्विलास के साथ वास्तविक कथा का सहनिर्देश प्राप्त होता था, उनके अन्तःकरण की वृत्तियां खिंच जाती थीं। किन्तु जिस समय वार्त्ता की उपेक्षा का बोध होता था और उपेक्षा तथा प्रार्थना के समन्वय का ज्ञान होता था तो उनके विवेक की आधारशिला हिल जाती थी। यहां यह स्मरणीय है कि अर्थनिष्ठ वाग्विलास में उपेक्षा की सत्ता का प्रयोग वास्तविक उपेक्षाभाव के हेतु नहीं किया गया है। बल्कि गोपियों की मानसिक उत्सुकता तथा अनुराग की दृढ़ता को बढ़ाने की दृष्टि से किया गया है। क्योंकि रासपंचाध्यायी के प्रथम श्लोक में ही यह स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया जा चुका है कि भगवान् ने रमण की इच्छा की। अतः यहां केवल अपनी वाणी के विलास का चमत्कार प्रदर्शन करने के लिए ही उन्होंने उपेक्षाप्रधान वाणी का आश्रय लिया था।

(२) वदतां वरः। भगवान् के लिए यह विशेषण भी यही भाव बताता है कि उनकी वाक्शक्ति अत्यन्त विलक्षण थी। इसीलिए उन्होंने शब्दनिष्ठ तथा अर्थनिष्ठ विलास द्वारा,

वचन तथा मन से क्रमशः उपेक्षा द्वारा उत्कण्ठा की वृद्धि और प्रार्थना द्वारा आकर्षण का अद्‌भुत चमत्कार वाणी में प्रकट किया था।

प्रथम तो गोपियों की श्रीकृष्णानुरागपरायणता स्वतःसिद्ध है। फिर उनका रास के हेतु विशेष रूप से आकर्षण किये जाने के कारण उनमें प्रेम का अतिशय प्रकट हो चुका है। फिर अत्यन्त समीप होने के कारण भगवान् के साक्षात्कार का रसपान कर रही हैं। इन गोपियों से वार्त्तालाप शुरू करने के हेतु लीलारहस्यवेत्ता श्रीकृष्ण ने शब्दमधुरिमा के आकर्षण के साथ भावकठोरता से विकलता उत्पन्न करते हुए अपनी अद्‌भुत वाक्पटुता का परिचय दिया है।

श्रीभगवान् बोले

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ॥१८॥

हे महाभागिनियो! तुम्हारा स्वागत है। तुम्हारा क्या प्रिय करें? व्रज में तो सब कुशल हैं? अपने आने का कारण कहो।

(१) महाभागाः। भगवान् ने गोपियों को सबसे प्रथम "महाभागा" सम्बोधन से पुकारा है। महाभागा का अर्थ होता है परम मांगलिक सौभाग्य से सम्पन्न होना। यह अर्थ स्वीकार करने पर "प्रियं किं करवाणि वः", इस पद का अर्थ होगा कि भला मैं तुम्हारा क्या प्रिय कर सकता हूँ, तुम तो स्वयं परम भाग्यशालिनी हो। अथवा तुम परम भाग्यवती हो, कृपा करके मुझे बताओ कि तुम्हारा क्या प्रिय करूँ। क्योंकि भाग्यशाली व्यक्तियों के प्रिय-सम्पादन का सौभाग्य भी व्यक्तिविशेष के भाग्योत्कर्ष का सूचक होता है।

(२) इस श्लोक में यद्यपि भगवान् का प्रधान लक्ष्य गोपियों की भर्त्सना करना था, किन्तु पूर्वार्ध में उन्होंने मधुर वचन से उन गोपियों का स्वागत किया जो पूर्ण अनुराग-मयी थीं और कुशल मंगल पूछा। उत्तरार्ध में व्रज के मंगल समाचार पूछकर चतुर्थ चरण में उनके आने का कारण पूछा है। अन्तिम चरण में गर्वयुक्ता गोपियों के प्रति रूखेपन का प्रयोग आरम्भ किया गया है।

(३) भगवान् के इस प्रश्न के तीन अभिप्राय थे।

(क) भगवान् ने गोपियों को नाम ले लेकर बुलाया था। वंशी में कामबीज के प्रभाव से प्रत्येक गोपी ने केवल अपने ही नाम का श्रवण किया था। और प्रत्येक गोपी को यही प्रतीति हुई थी कि केवल उसी को भगवान् ने बुलाया है। इस प्रकार किसी भी गोपी को यह ज्ञान नहीं था कि उस समय शत-कोटि यूथ गोपियों का आह्वान हुआ था।[१] इस श्लोक में भगवान् ने "महाभागाः" तथा "वः" इन दोनों का बहुवचन में प्रयोग करके गोपियों को अन्यान्य गोपियों की उपस्थिति का बोध कराया है।

---

१. **आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः।** —श्रीमद्‌भागवत महापुराण १०,२९ ²

(ख) रासलीला का विन्यास भगवान् ने कामदेव पर विजय प्राप्त करने के हेतु किया था। अतः गोपियों को स्वयं बुलाकर उनको पूछने लगे कि तुम्हारे आने का क्या प्रयोजन है। जो व्यक्ति कामभावपरायण होता है वह कभी भी अपनी दत्तसंकेता नायिका से इस प्रकार के प्रश्न नहीं पूछता। इस प्रश्न द्वारा कामदेव को यह प्रतीति कराई गई है कि मेरा मन काम के प्रभाव से असंस्पृष्ट है।

(ग) गोपियों को यह बताया गया कि इस दिव्य चन्द्रिकापरिमण्डित रजनी के निर्जन विलास में मेरे सदृश योगी के पास तुम स्त्रियों के इस समय आने का क्या प्रयोजन हैं? फिर तुम सभी महाभागा हो अर्थात् यौवनादिसौभाग्यसम्पत्तिसम्बद्धा हो।

"प्रियं किं" पद से गोपियों को बताया कि फिर भी तुम आई हो तो कहो क्या प्रिय करूँ!

अंतिम पद से यह भाव प्रकट किया कि जो कुछ तुम्हारे मन में है वह लज्जा तथा संकोच छोड़कर मुझे कहो।

(४) परमहंसों को यह बताया गया कि जब भगवान् के चरणों की सन्निधि का काल आता है तो लज्जा तथा संकोच का स्थान नहीं रहता। सब कुछ उनके चरणों पर अर्पण करने से ही प्राप्ति होती है।

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥१९॥

हे सुमध्यमाओ! यह रजनी भयंकर रूप वाली है। भयंकर पशुओं से सेवित है। अतः तुम व्रज को लौट जाओ। स्त्रियों को यहां नहीं ठहरना चाहिए।

(१) (क) घोररूपा। रात्रि के विकराल रूप की कल्पना वन की निर्जनता के कारण की गई है। ऐसी रात्रियों में कुलीन स्त्रियों को घरों के बाहर रहना कभी शोभा नहीं देता।

(ख) घोरसत्त्वनिषेविता। यदि यह कहा जाय कि यह रजनी भयोत्पादक नहीं है, यहां तो आज पूर्णिमा के चन्द्र की अद्भुत चांदनी छिटकी हुई है। तो यह दूसरा विशेषण रखा कि बड़े-बड़े जंगल तथा वन्य पशुओं से आक्रान्त होने के कारण वन भयास्पद हैं।

(२) सुमध्यमाः—इस सम्बोधन से तीन भाव प्रकट होते हैं।

(क) तुम्हारा कटिप्रदेश क्षीण होने के कारण अत्यन्त सुन्दर है। इस अर्थ में गोपियों को यह बताया गया कि तुम तो असंख्यात हो। अतः मैं एकाकी भला तुम्हारा क्या प्रिय कर सकता हूं।

(ख) तुम्हारी तो कटि ही अत्यन्त क्षीण है। तुम्हें भय होना स्वाभाविक है। अतः व्रज में लौट जाओ।

(ग) लोक नियम यह है कि बालिकाओं तथा वृद्धाओं के साथ एकान्त में रहने पर दोष नहीं माना जाता किन्तु तुम तो सभी सुमध्यमा हो—परम सुन्दरी तथा युवतियां हो।

अतः तुम्हारा यहां ठहरना ठीक नहीं। श्लेषालंकार द्वारा यहां सर्वथा विपरीत अर्थ का बोध होता है।

(३) (क) "व्रजं न प्रतियात" और "इह स्थेयम्" इस प्रकार सन्धिविच्छेद करने से यह भाव निकलता है कि तुम व्रज को मत जाओ, यहीं ठहरो। १८ वें श्लोक में जैसे ही भगवान् ने उनके आने का कारण पूछा तो कुछ परमस्वाभिमानसम्पन्न गोपियां तत्काल लौटने लगीं। उन्हीं को ठहरने के अर्थ का बोध कराया गया है।

(ख) इस अर्थ में परमहंसों को यह अर्थ बताया गया है कि अपनी अभीष्ट सिद्धि के मार्ग में कितना ही भय हो, कितनी ही बाधाएँ हों किन्तु उनसे कभी भी पीछे नहीं हटना चाहिए।

(ग) घोर शब्द के भयंकर अर्थ में तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। किन्तु श्लिष्ट अर्थ में यह भाव गोपियों को बताया गया कि इस प्रकार के भयंकर समय में, भयंकर जन्तुओं की उपस्थिति में और इस निर्जन स्थान में किसी भी अन्य मनुष्य के आने की संभावना नहीं है। अतः सब प्रकार की आशंका का त्याग करके तुम यहां मेरे पास ठहरो।

(४) सन्धिविच्छेद द्वारा यहां दो भिन्न पद बन सकते हैं।

(क) अघोररूपा। राका की रजनी का सौन्दर्य बिखरा पड़ा है। रूप की कोई सीमा नहीं है। अंधकार तथा तम की निराकृति से शान्ति का साम्राज्य प्रकट हो रहा है।

(ख) अघोरसत्त्वनिषेविता। वृन्दावन के माहात्म्य से यहां के सभी प्राणी अघोर हैं। पारस्परिक मित्रता के भाव में डूबे हुए हैं। कभी भी किसी के मन में किसी को दुःख अथवा हानि पहुँचाने का विचार नहीं आता।

(ग) अघोर। जिस प्रकार घोर शब्द के श्रवण से मनुष्यों के हृदय में स्वतः भय का संचार हो जाता है। उसी प्रकार अघोर के साथ अभय का नैसर्गिक सम्बन्ध माना जाता है।

(५) गोपियों को वहां ठहरने के हेतु अंतिम कारण यह बताया गया कि प्रथम तो तुम स्त्री हो, फिर सुमध्यमा = परम सुन्दरी हो। अतः मेरे पास ठहरो। रात्रि के समय वन में इधर-उधर घूमना उचित नहीं है।

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम् ॥२०॥

तुम्हारे माता, पिता, पुत्र, भाई तथा पति तुम्हें नहीं देखते हुए ढूंढ रहे हैं। बान्धवों के भय को उत्पन्न मत करो।

(१) जब भगवान् ने गोपियों को व्रज में लौट जाने का आदेश दिया तो कुछ गोपियों के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि आप तो स्वयं नरशार्दूल हैं, प्रचण्ड-पराक्रम-युक्त हैं। आपके तुल्य व्यक्ति के रहते हुए फिर किस प्रकार के भय की शंका हो सकती है। तो

लौटने के हेतु दूसरा कारण बताया गया है। ढूंढने वालों में यहां पांच व्यक्तियों का निर्देश किया गया है :

(क) माता। (ख) पिता। (ग) पुत्र। (घ) भाई। (ङ) पति।

इनमें से प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ तो कुमारियों की दृष्टि से कहे गये हैं। तृतीय तथा पंचम विवाहिताओं की दृष्टि से रखे गये हैं।

(२) दूसरा अर्थ यह है कि जब पांच प्रकार के व्यक्ति तुम्हें रात्रि में ढूंढ रहे हैं तो यह भी संभव प्रतीत होता है कि कोई ढूँढते-ढूँढते इधर आ जाय। यदि कोई यहां आ गया और तुम्हें मेरे साथ चांदनी रात में इसी प्रकार एकान्त स्थान में देख लिया तो बड़ी कठिनता होगी। हम सभी को लज्जा, संकोच तथा अवधीरणा का सामना करना होगा। अतः तुम्हारा तत्काल लौट जाना ही श्रेयस्कर है।

(३) यदि कहा जाय कि गोपियां तो अनेक बार श्रीकृष्ण के साथ व्रज में रही हैं फिर उन्हें यह शंका क्यों हुई। तो इसका उत्तर स्थान की एकान्तता तथा रजनी के समय के कारण दिया गया है कि ऐसे काल में तुम लोगों के साहचर्य से मेरे यश में अपयश की संभावना है।

(४) वास्तव में भगवान् का अभिप्राय गोपियों के अन्तःकरण में माता, पिता, पति, आदि की आशंका से भीति का संचार करके और दूर ले जाने का था।

(५) श्लेषालंकार से यह अर्थ निकलता है कि माता, पिता आदि से किसी भी प्रकार के भय की आशंका मत करना। क्योंकि प्रथम तो वन ही घोर है। फिर रजनी का काल है। अतः तुम्हारा कोई भी बन्धु यहां कदापि नहीं आ सकता। अतः निश्चिन्त होकर तुम मेरे पास ठहरो।

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरूपल्लवशोभितम् ॥२१॥

तुमने फूलों से खिले हुए वन को देख ही लिया है जो पूर्णिमा के चन्द्रमा की किरणों से अनुरञ्जित है और जो यमुना के पवन के लीलाविलास से कम्पित वृक्षों के पल्लवों से शोभित है।

भगवान् के इस प्रकार के कठोर तिरस्कारपूर्ण वचन सुनकर गोपियों ने क्रोध से मुंह फेर लिया। अथवा इस प्रकार के वचन सुनकर गोपियों को बड़ी निराशा हुई। क्योंकि वे भगवान् के अनुग्रह की आशा से वहां आई थीं। इन्हीं आशयों को लेकर इस श्लोक के भाव भरे गये हैं।

(१) गोपियों ने क्रोध, क्षोभ तथा दुःख से जब मौन धारण कर लिया। श्रीकृष्ण के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया, तो भगवान् स्वयं ही भिन्न-भिन्न उत्प्रेक्षा करते हुए उनके आने के प्रयोजनों को बताने लगे।

(क) शायद तुम वृन्दावन की शोभा देखने आई हो। यह उत्प्रेक्षा करके स्वयं बताते हैं कि वन में फूल चारों तरफ खिले हुए हैं।

(ख) प्रथम उत्प्रेक्षा सुनकर ज्यों ही गोपियों ने वन की शोभा देखना प्रारम्भ किया तो भगवान् ने दूसरी उत्प्रेक्षा की कि यह वन पूर्णिमा के चन्द्र की किरणों से अनुरंजित है।

(ग) दूसरी उत्प्रेक्षा सुनते ही गोपियों ने चन्द्रमा को देखना शुरू किया तो श्रीकृष्ण ने तीसरी उत्प्रेक्षा की कि कालिन्दी के शीतल जल का स्पर्श प्राप्त करके मन्द-मन्द पवन के झोंके चल रहे हैं।

इस प्रकार उत्प्रेक्षाओं के व्याज से भगवान् ने गोपियों को यह बताया कि तुम्हारी वन की शोभा देखने के हेतु यहां आने की अभिलाषा तो पूर्ण हो गई, अब तुम अपने-अपने घर चली जाओ।

(२) श्लेष द्वारा यह भाव प्रकट किया गया है कि यहां किसी भी प्रकार का भय नहीं है। किसी भी सम्बन्धी बान्धव के आगमन की शंका नहीं है। फिर सुख तथा भोग के सभी साधन जुट गये हैं। अतः व्रज में मत लौटो। यहीं रहो।

(३) यहां यह भाव भी प्रकट होता है कि श्लोक के चारों चरणों में भगवान् ने स्वयं भ्रमण करते हुए गोपियों को क्रमशः वृन्दावन की शोभा का रसास्वाद कराया और अंतिम चरण के साथ कालिन्दी के तट पर आ गये।

(४) **अन्य अर्थ--**

(क) पुष्प खिले नहीं हैं मानों तुम्हारा उपहास कर रहे हैं कि ये कैसी कुलवन्ती नारियां हैं जो रात्रि के समय एकान्त वन में एकाकिनी पर पुरुष के समीप हैं।

(ख) यमुना की वीचियां तथा वृक्षों के पल्लव भी धीरे-धीरे हिलने के छल से गोपियों को उनके घर लौटने के लिए संकेत करते हुए से प्रतीत होते हैं।

तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पायय दुह्यत ॥२२॥

अतः हे पतिव्रताओ! तत्काल अपने घरों को चली जाओ। अपने पतियों की सेवा करो। गौओं के बछड़े और तुम्हारे बालक रो रहे हैं। उन्हें दूध पिलाओ और गौओं को दुहाओ।

(१) मा चिरम्। शीघ्रता से जाओ। क्योंकि तुम पतिव्रता हो। पतिव्रताओं को एकान्त में पर पुरुष के साथ रात्रि में बहुत देर तक रहना उचित नहीं है।

(२) (क) वत्साः बालाश्च। यदि यह कहा जाय कि आप ही जगत्पति हैं। हम तो सांसारिक पतियों का त्याग करके आपके चरणों में आ गई हैं। अब कहीं जाने की कामना शेष नहीं है। तो भगवान् ने गौओं के बछड़ों के रोने तथा बच्चों के क्रन्दन की स्मृति दिलाई और गोपियों के हृदय में करुणा भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया।

(ख) परमहंसों को यह अर्थ बताया गया है कि भगवत्प्राप्ति के पूर्व प्रत्येक प्रकार के संग तथा आसक्ति का त्याग अपेक्षित होता है। किसी भी प्रकार के मोह का बन्ध संसार में नहीं होना चाहिए। इसकी पूर्णरूप से परीक्षा की जाती है।

(३) बालाश्च। रासलीला के समय गोपियों के हृदयों में इतना प्रेम तथा अनुराग भरा था कि वे दूसरों के बच्चों को दुग्धपान करा देती थीं। इसी अभिप्राय से माता तथा पुत्र का प्रयोग किया गया है। यही भाव "पाययन्त्यः शिशून् पयः" (भागवत १०, २९, ६) से निकलता है। यहां भी बालकों को दूध पिलाने का ही भाव है। स्तनपान कराना नहीं लिखा गया है। अन्यथा रासलीला में रसाभास हो जायगा। सभी गोपसुन्दरियां नवीन सुकुमार अवस्था-सम्पन्न थीं। इस प्रकार वास्तव में सब पति माया के कारण प्रतीत होते थे और सभी बालक गौण थे।

(४) श्लेष से निम्नलिखित अन्य अर्थ की प्रतीति होती है।

इस पक्ष के प्रथम आशय में "मा" का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ माना जाता है।

(क) तत् मा यात=अतः अभी घर मत जाओ।

(ख) पतीन्मा शुश्रूषत=इन कृत्रिम पतियों की सेवा मत करो।

दूसरा आशय यह है कि समस्त धर्मों का त्याग करके केवल मेरी शरण को प्राप्त करो। यही श्रेयस्कर पथ है।[1]

अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥२३॥

अथवा यदि तुम सब मेरे प्रति परम अनुराग के कारण यन्त्र से आकर्षित अन्तःकरण वाली होकर यहां आई हो, सो उपयुक्त है। क्योंकि मेरे में समस्त प्राणी अनुराग करते हैं।

(१) इस श्लोक में भगवान् ने उत्प्रेक्षा करते हुए कहा कि यदि आप सब वन की शोभा देखने के अभिप्राय से इस समय नहीं आई हो तो संभवतः मेरे प्रति स्नेह के कारण आना ही आपके आगमन का कारण होना चाहिए। यहां गोपियों के आने में केवल सामान्य स्नेह ही कारणत्वेन उपस्थित किया गया है। इससे भगवान् ने गोपियों के प्रति अपनी तटस्थ भाववृत्ति को अभिव्यक्त किया है। क्योंकि सम्पूर्ण प्राणिसमूह भगवान् में स्वतः स्नेहसम्पन्न होता है। फिर गोपियों का स्नेह करना भी स्वाभाविक सामान्यधर्म की श्रेणी में जायगा। सामान्यस्नेह के लिए विशेष कृपा नहीं होती।

(२) भवत्यः। यहां स्पष्ट रूप से आप शब्द का प्रयोग किया है जो तटस्थता बताता है। जहां प्रीति का परिपाक होता है वहां आप कहने से रसभङ्ग हो जाता है।

(३) अभिस्नेहात्। स्नेह शब्द के पूर्व अभि उपसर्ग सम्यक्प्रकार से मन की समस्त वृत्तियों के एकात्म स्नेहभाव को प्रकट करता है।

(४) परमहंसों को यह भाव बताया गया है कि सामान्य रूप से समस्त प्राणी

---

१. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ श्रीमद्भगवद्गीता १८, ६४।

भगवान् की ओर स्वभावतः आकृष्ट होकर स्नेह करते हैं। किन्तु जो अनन्य चित्त से संसार के समस्त विषयादि पदार्थों से वृत्तियों का प्रत्याहार करके भगवच्चरणों में मन को एकनिष्ठ करते हैं, उन्हीं पर पूर्ण भगवत्कृपा होती है। वे ही भगवान् को अत्यन्त प्रिय होते हैं।

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनाञ्च कल्याण्यः प्रजानाञ्चानुपोषणम् ॥२४॥

हे कल्याणियो! किसी भी प्रकार के कपट के बिना पति की और पति के बन्धुओं की सेवा करना तथा पुत्रादि का पोषण करना स्त्रियों का परम धर्म है।

(१) यहां प्रथम पक्ष में गोपियों को यह बताया है कि यद्यपि मेरे प्रति आकर्षित होकर स्नेहाधिक्य के कारण तुम लोग मेरे समीप चली आई हो किन्तु वास्तव में अपने पतियों की सेवा करना ही पतिव्रता स्त्रियों के लिए परमधर्म धर्मशास्त्रों में स्वीकार किया गया है। अतः अपने-अपने घरों को लौट जाओ।

(२) कल्याण्यः। प्रथम पक्ष के आशय को पुष्ट करने के लिए ही इस सम्बोधन का प्रयोग किया गया है। तुम कल्याणमयी हो। अर्थात् पातिव्रत्यधर्मसम्पन्ना हो। अतः केवल मेरे प्रति स्नेहाकर्षण के कारण धर्म का त्याग करना युक्तिसंगत नहीं है।

(३) द्वितीय पक्ष में यह बताया गया है कि परमेश्वर ही सबका भर्त्ता अर्थात् पालक होता है। उसी की सेवा करना परम धर्म है। इस प्रकार परमेश्वर को अप्राकृत भर्त्ता मानकर, प्राकृत भर्त्ता में अज्ञानबुद्धि की उपेक्षा द्वारा गोपियों को यह बताया कि मैं ही वास्तव में तुम सबका पति हूं। मेरी सेवा करो। यह भाव नित्यसिद्धा गोपियों के पक्ष में है। जिन्हें वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार चिद्घनानन्द स्वरूप माना गया है।

(४) परमहंस के अर्थ में यह भाव व्यक्त होता है कि जिस प्रकार एक पति के स्नेह में असामान्य रूप से आकृष्ट पतिपरायणा स्त्री रात दिन पति की सेवा में लगी रहती है; उसकी मन की वृत्तियों का एक क्षण के लिए भी पति के ध्यान से विराम नहीं होता। उसी प्रकार जब साधक की वृत्तियां जगत्पति के चरणों से पृथक् नहीं होतीं तभी भगवत्प्राप्ति होती है।

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥२५॥

इस लोक तथा परलोक की कामना करने वाली स्त्रियों को दुष्ट स्वभाव वाले, दुर्भाग्ययुक्त, वृद्ध, मूर्ख, रोगी अथवा निर्धन पति का भी त्याग नहीं करना चाहिए, यदि वह पातकी नहीं है।

(१) (क) दुःशीलः। जिस व्यक्ति का शील अत्यन्त भ्रष्ट है। यहां शील से चरित्र के साथ-साथ दैनिक व्यवहार का भी ग्रहण किया जाता है।

(ख) दुर्भगः। जो अत्यन्त मन्दभागी है। जिसे परिश्रम से उद्योग करने पर भी यथेष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती।

(ग) जड़ः। जो मूर्ख होने के कारण जड़ वस्तु के तुल्य है। जिस प्रकार जड़ पदार्थ में अर्थ-क्रियाकारिता नहीं होती, उसी प्रकार मूर्ख भी सांसारिक कार्य-सम्पादन में असमर्थ होता है।

(घ) अपि। अपि शब्द का सम्बन्ध दुःशील प्रभृति प्रत्येक शब्द के साथ किया जाता है। अर्थात् इन पांच प्रकार के दुर्गुणों में से किसी भी दुर्गुण की उपस्थिति में पति त्याज्य नहीं है।

(२) सम्पूर्ण श्लोक का यह आशय निकलता है कि जब इतने दुर्गुणों से युक्त पति का त्याग करना भी शास्त्रनिषिद्ध है तो तुम्हारे पति जो व्रजमण्डल के निवासी होकर दिव्य गुण सम्पन्न हैं, उनका त्याग करना तुम्हारे जैसी सतीत्वपरायण रमणियों को कदापि शोभा नहीं देता।

(३) लोकेप्सुभिः। यह स्त्रियों का विशेषण है। जो स्त्रियां पति का त्याग करती हैं, उनकी सेवा से विमुख होती हैं, उनको इस लोक तथा परलोक में सुख की प्राप्ति नहीं होती।

(४) श्लेष द्वारा यह भाव बताया गया है कि जब सामान्य पति दुःशीलत्वादि दोषयुक्त भी त्याज्य नहीं है तो मेरे तुल्य जगत्पति सर्वगुणनिधान को छोड़कर तुम्हें जाना उचित नहीं है।

अस्वर्ग्यमयशस्यञ्च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितञ्च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥२६॥

कुलीन स्त्रियों के लिए उपपति का भाव स्वर्ग से गिराने वाला, अपकीर्त्ति सम्पादन करने वाला, तुच्छ, कष्टदायक, भय देने वाला और सर्वत्र निन्दनीय होता है।

(१) इस श्लोक में उपपति का भाव उत्पन्न होने में ६ दोष बताये गये हैं।

(क) अस्वर्ग्य। यह स्वर्ग से च्युत करने वाला है।

(ख) अयशस्य। केवल स्वर्ग से गिराने वाला ही नहीं है बल्कि इस लोक में भी अपयश देता है। दोनों कारण मिलकर इस लोक तथा परलोक से अधोगति का संकेत करते हैं।

(ग) फल्गु। यदि यह कहा जाय कि गोपियों को लोक-परलोक में यश-अपयश की परवाह नहीं है, तो तृतीय दोष दिया जाता है कि यह तुच्छ है। इसमें स्थिरता का आदर्श सन्निहित नहीं रह सकता। उपपति का मिलन सदा अस्थिर होता है।

(घ) कृच्छ। यदि यह कहा जाय कि भगवत्सम्बन्ध तो सदा स्थिर होते हैं, तो चतुर्थ दोष की कल्पना आती है कि यह अत्यन्त कष्टसाध्य है।

(ङ) भयावह। भगवान् के सान्निध्य में तो कष्ट भी आनन्द में परिणत हो जाता है। इस अभिप्राय को समझकर पंचम दोष दिया है कि यह लोकद्वय में भीति को उत्पन्न करता है।

(च) जुगुप्सित। भगवान् की सन्निधि में भीति कहां ?—तो अंतिम दोष है कि यह मार्ग निन्दनीय है। यदि यह कल्पना की जाय कि भगवान् की प्राप्ति के लिए हमें निन्दा की भी परवाह नहीं, तो कहते हैं कि कुलीन स्त्रियों के लिए कुल पर कलंक लगाना सबसे अनुचित कृत्य कहा जाता है। अतः उपपति के भाव का त्याग करके तुम्हें लौट जाना ही उचित है।

(२) औपपत्य। इसके दो अर्थ निकलते हैं।

(क) उप=समीप है पति जिसका। पति के सामीप्य के कारण यदि इस प्रकार पूर्वोक्त ६ दोष की संभावना है तो वह पति त्याज्य होता है। ऐसे पति की सेवा करना धर्म नहीं है, अतः हमारी सेवा करो।

(ख) समस्त संसार के अप्राकृत रूप से भगवान् ही पति हैं। उनसे अन्य की पतिभाव से सेवा को ही औपपत्य कहा है।

श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्त्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥

श्रवण, दर्शन, ध्यान तथा कीर्त्तन से मेरे प्रति जैसा भाव उत्पन्न होता है, वैसा समीप की सन्निधि से नहीं होता। अतः घर को लौट जाओ।

(१) गोपियों ने गर्ग द्वारा भगवान् के अद्भुत गुणानुवाद तथा दिव्य महिमा का श्रवण किया था।[1] फलतः उनके मन में श्रीकृष्ण के प्रति ब्रह्मभाव प्रकट हो चुका था। ब्रह्मत्व के ज्ञान के पश्चात् साधक की वृत्तियों में ब्रह्मसन्निधि की तीव्र उत्कण्ठा होती है। यही सोचकर भगवान् ने इस श्लोक में सन्निधि के प्रति अपने औदासीन्य को अभिव्यक्त किया है। वास्तव में वियोग में विप्रकृष्ट होने पर जिस उत्कण्ठा का आविर्भाव होता है, वैसी उत्कण्ठा संयोग में सन्निकृष्ट होने पर नहीं होती।

(२) परमहंसों को यह बताया गया है कि जब साधक अपने भावों के दिव्य उत्कर्ष की कल्पना करता है तब भी उसमें न्यूनता की संभावना हो सकती है। इस प्रकार गोपियों को उनके भावों की चरम उत्कृष्टता में दोष का संकेत किया गया है। परमहंसों को श्रवणादि के महत्त्व पर बल का निर्देश किया गया है।

यहां निम्नलिखित पांच अवस्थाओं का क्रमपूर्वक विन्यास किया गया है।

(क) श्रवण। जब भगवान् के साकार रूप में अनुराग उत्पन्न होता है तो भगवद्-गुणानुवादश्रवण में, भगवल्लीलाश्रवण में तथा कथाश्रवण में रुचि होती है।

---

१. श्रीमद्भागवत महापुराण १०,८,१३-१६,; १०,२६, १६-२२

(ख) दर्शन। द्वितीय अवस्था में भगवद्विग्रह के दर्शनों में मन डूब जाता है।

(ग) ध्यान। विग्रह के दर्शन करते-करते जब मन एकनिष्ठ होता है तो ध्यान में प्रवेश होता है।

(घ) कीर्त्तन। जब ध्यान में भगवत्साक्षात्कार की झलक मिलती है और ध्यानभंग होते ही भगवद्वियोग की अनुभूति प्रारम्भ होती है तो भगवन्नाम तथा भगवल्लीला का कीर्त्तन प्रारम्भ होता है।

(ङ) न तथा सन्निकर्षेण। इस पद से यदि "न" का "प्रतियात" क्रिया पद के पूर्व अन्वय करें, तो यह अर्थ होगा कि घर मत लौटो। इस अर्थ में हमें पांचवीं अवस्था स्वीकार करनी पड़ेगी। तो "सन्निधि" कहलायगी।

श्रीशुकदेव बोले

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्।
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥२८॥

गोविन्द के इस प्रकार के अप्रिय वचन सुनकर गोपियां अत्यन्त व्याकुल हुईं। उनके संकल्प भग्न हो गये और उन्होंने दुरत्यय चिन्ता को प्राप्त किया।

(१) गोविन्द शब्द का अर्थ है—जो उपनिषद्वाक्यों को प्रमाणरूप में प्राप्त करता है।[१]

(२) विप्रियं। गोपियों के मन में श्रीकृष्ण के अंग-संग की उत्कण्ठा अत्यन्त प्रबल थी। श्रीकृष्ण के वचनों में दो भाव थे। किन्तु अपनी स्वयं की उत्कण्ठा के कारण गोपियों को अप्रिय उपेक्षाभाव की ही प्रतीति हुई। किसी भी मनुष्य को जब तक स्वाभिलषित वस्तु की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक उसका अन्तःकरण आशंकित रहता है। साथ ही "विप्रियं" भाषितं का विशेषण है। अर्थात् श्रीकृष्ण के वचन अप्रिय थे।

(३) (क) विषण्ण। इस शब्द का अर्थ है विषादयुक्त होना अथवा सन्तप्त होना।

(ख) भग्नसंकल्प। दुःख के संताप का जब अतिशय होता है तो सभी मनोरथ नष्ट हो जाते हैं। गोपियों के मन में भगवान् के अंग-स्पर्श प्राप्त करने का मनोरथ था किन्तु जब

---

१. (क) **गां, भुवं, धेनुं, स्वर्गं, वेदं वा विन्दतीत्यर्थे गो+विद्लृ+श "गवादिषु विन्देः संज्ञायाम्"**—वार्त्तिक ३, १, १३८।

(ख) **गाः उपनिषद्वाक्यः प्रमाणतया विन्दतीत्यर्थः**—बालमनोरमा। सिद्धान्तकौमुदी पृ० ५०१ सं० शं० चन्द्रशेखर शास्त्री, त्रिच्चिनाप्पल्लि, १९११।

(ग) **विष्णुपुराण की परिभाषात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार भगवान् को गोविन्द संज्ञा इन्द्र द्वारा उपलब्ध हुई थी। वहां इन्द्र ने श्रीकृष्ण से कहा है कि गौओं के वचनानुसार मैं आपका उपेन्द्र पद पर अभिषेक करूंगा और आप गौओं के इन्द्र होने के कारण गोविन्द होंगे।**

स त्वां कृष्णाभिषेक्ष्यामि गवां वाक्यप्रचोदितः।
उपेन्द्रत्वे गवामिन्द्रो गोविन्दस्त्वं भविष्यसि ।—विष्णुपुराण, ५, १२, १२।

उनका स्वागत ही अप्रिय शब्दों से हुआ और उन्हें तत्काल पतियों तथा पुत्रादि बान्धवों के समीप लौट जाने का आदेश मिला तो उनके समस्त मनोरथ नष्ट हो गये।

(४) चिन्ता। जब अपना अभीष्ट पदार्थ प्राप्त नहीं होता तो दुःख में उस वस्तु के कारण उसी वस्तु का ध्यान करना चिन्ता कहलाता है। प्रस्तुत प्रसंग में गोपियों ने सोचा कि इस स्थिति में अब उनका क्या कर्त्तव्य है। इस किंकर्त्तव्यविमूढ अवस्था में निम्नलिखित पांच विचार उनके मन में प्रकट हुए।

(क) श्रीकृष्ण तो स्वभाव से ही नवनीत से भी मसृण हैं। हमारे प्रति इस प्रकार के कठोर वचनों का प्रयोग अवश्य ही हमारी मन्दभाग्यता का प्रतीक है।

(ख) इस समय इनके चरणों में गिरकर इनकी प्रार्थना करनी चाहिए अथवा नहीं।

(ग) इनके प्रश्नों का उत्तर देना भी उचित है अथवा अनुचित।

(घ) इतने समीप आकर और ज्योत्स्ना के इस उज्ज्वल आलोक को छोड़कर घर लौट जावें अथवा यहीं ठहरें।

(ङ) इस प्रकार के घोर तिरस्कार के पश्चात् भी क्या हमारा जीवित रहना शोभास्पद है? यदि नहीं तो क्या यमुना के जल में प्राण त्याग कर दें।

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्-
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुंकुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥२९॥

शोक के श्वासों से सूखते हुए बिम्बफल के तुल्य अधरों वाले मुखों को गोपियों ने नीचा कर लिया। चरणों से पृथ्वी को खोदने लगीं। कज्जल मिले हुए आंसुओं से स्तनों के कुङ्कुम को धोने लगीं और तीव्र दुःख के भार से मौन हो गईं।

प्रस्तुत श्लोक में गोपियों की स्थिति का अद्भुत वर्णन किया गया है। वर्णन के अधोलिखित पांच प्रधान अंग हैं।

(१) मुख को नीचा करके खड़ा होना।

(२) शोक के दीर्घ तथा उष्ण निःश्वासों से होठों का सूखना।

(३) चरण से पृथ्वी को खोदने की क्रिया।

(४) नेत्रों में लगे हुए कज्जल में मिली हुई अश्रुधारा द्वारा स्तनों के कुङ्कुम का धुलना।

(५) तीव्र दुःख के भार से गोपियों का मौन हो जाना।

चरणेन। यहां चरण पद वाम चरण का बोधक है। जब कोई व्यक्ति दुःख की

पराकाष्ठा का अनुभव करता है तब पृथ्वी को खोदने की क्रिया का प्रारम्भ सर्वदा वाम चरण के अंगुष्ठ से ही होता है। यह क्रिया तीन भाव प्रकट करती है।

(क) अपनी स्वयं की असहाय स्थिति।

(ख) पृथ्वी के विदीर्ण होने की प्रार्थना।

(ग) गोपीपक्ष से श्रीकृष्ण द्वारा किए हुए गोपियों के निरादर की कथा का पृथ्वी पर लेख द्वारा उल्लेख। जो कालान्तर में किसी लेखक की लेखनी का आधार बन सके।

श्वसनेन। शोक के निःश्वास दो प्रकार के होते हैं।

(क) इनमें दीर्घता स्वाभाविक रूप से सन्निहित रहती है। दीर्घता के कारण निःश्वासों का स्वतः अधरों तक पहुंचना स्वाभाविक क्रिया से हो जाता है।

(ख) दीर्घता के साथ-साथ उष्णता भी नैसर्गिक होती है। इसके कारण अधर सूख जाते हैं।

मृजन्त्यः। स्तनों पर लगे हुए कुङ्कुम को गोपियां अविरल बहने वाली अश्रुधारा से धो रही थीं। इससे यह स्पष्ट है कि उनके मुख नीचे की ओर थे और आंसू लगातार गिर रहे थे। इस पद से यह भाव भी प्रकट होता है कि यद्यपि आंसुओं द्वारा नेत्रगत कज्जल का अपाकरण तथा स्तननिष्ठ कुङ्कुम का प्रमार्जन किया गया है तथापि धारा की निर्बाध गतिशीलता नहीं थी क्योंकि संतापाग्नि द्वारा साथ-साथ अन्तःशोष प्रकिया भी चल रही थी।

मुखानि अवकृत्वा। भगवान् के इस प्रकार के वचन सुनकर गोपियों ने अपने-अपने मुख नीचे कर लिये थे। मुख नीचा करके खड़े होने में निम्नलिखित चौबीस कारण संभव प्रतीत होते हैं।[1]

(१) श्रीकृष्ण द्वारा किया गया गोपियों का तिरस्कार ही उनके मुख नीचा करके खड़े होने में प्रथम निमित्त था।

(२) पति, पुत्र तथा बान्धवादियों का परित्याग करने पर भी जब उनके मनोरथों की पूर्त्ति नहीं हुई तो उन्होंने लज्जा से अपने मुख नीचे कर लिये।

(३) भगवान् ने अपनी वंशी में कामबीज का गान किया था। इसके प्रभाव से प्रत्येक गोपी का नाम ध्वनित हुआ था। इस प्रकार नाम ले लेकर बुलाने के पश्चात् लौटाने का आदेश ही मुख नीचा करने का निमित्त बना।

(४) जब तक भगवान् ने गोपियों का स्वागत करने के लिए बहुवचन का प्रयोग[2] नहीं किया था तब तक किसी भी गोपी को अन्यान्य गोपियों के आगमन तथा उपस्थिति का ज्ञान नहीं था।[3] जब उन्होंने यह देखा कि वहां तो असंख्यात गोपियां एकत्रित हैं तो प्रत्येक गोपी ने पारस्परिक लज्जा तथा संकोच के कारण अपना मुख छिपाने के आशय से नीचा कर लिया जिससे कोई उसे पहचान न सके।

---

१. **विशेषार्थ के हेतु देखिये परिशिष्ट संख्या एक।**

२. **स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।** श्रीमद्भागवत महापुराण १०, २९, १८।

३. **आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः।** वही, १०, २९, ४।

(५) गोपियां इस आशा के साथ आई थीं कि श्रीकृष्ण उन्हें देखकर आनन्दित होंगे किन्तु इसके सर्वथा विपरीत क्रिया से उनके मुख स्वतः नीचे हो गये।

(६) जिन मुखों का उनके प्रियतम ने इस प्रकार तिरस्कार कर दिया उनको अब किसी को भी कैसे दिखाया जा सकता है।

(७) हमारे सूखते हुए अधर, अश्रुपूर्ण नेत्र तथा मुरझाए हुए मुखों की खिन्नता देखकर श्रीकृष्ण को भी दुःख होगा। अतः मुखों का नीचा कर लेना ही उचित है।

(८) गोपियों की अपने हृदय में स्वयं अपने प्रति उत्पन्न होने वाली ग्लानि आठवां निमित्त बनी। जिस श्रीकृष्ण के स्नेहसूत्र से खिचकर रात्रि के समय एकान्त में चली आई थीं, उसी के द्वारा निरादर की प्राप्ति ग्लानि का कारण था।

(९) अपने किसी अज्ञात अपराध तथा दोष की कल्पना के विचार से उनके मुख नीचे हो गये थे। उन्होंने सोचा कि श्रीकृष्ण तो दया के सागर हैं। उनके द्वारा लौटने का उपदेश अवश्य ही किसी हमारे दोष के कारण किया गया है।

(१०) यहां गोपियां का आशय है कि हम तो तुम्हारी शरण में हैं। चाहे स्वीकार करो अथवा तिरस्कार। एक बार भगवच्चरणप्राप्ति के पश्चात् हम यहां से कहीं नहीं जा सकतीं।

(११) वाग्बाण से व्यथित करना सर्वथा निरर्थक है। हम तो मस्तक झुकाकर आपके सामने खड़ी हैं। जो चाहो कर सकते हो। प्रत्येक प्रकार का दण्ड हमको सहर्ष स्वीकृत है।

(१२) यहां गोपियों को यह अनुभव हुआ कि संभवतः उनका मुखसौन्दर्य न्यून हो गया है। सौन्दर्यहीन मुखों को देखकर ही श्रीकृष्ण को अरुचि हो गई है। फलतः लौटने का आदेश दे रहे हैं। इस भावना से उन्होंने अपने मुख छिपाने के हेतु नीचे कर लिये। जिससे श्रीकृष्ण की अरुचि कम हो।

(१३) गगनमण्डल में विमानों में बैठी हुई देवाङ्गनाएं रासलीला का अवलोकन कर रही थीं। गोपियों ने सोचा कि कहीं देवांगनाओं के मन में हमारे कारण क्षोभ तो उत्पन्न नहीं हो रहा है। संभवतः इनके मन में हमारे विषय में निर्लज्जता का भाव होगा कि श्रीकृष्ण गोपियों को लौट जाने को कह रहे हैं और ये यहीं अटकी हुई हैं। इसी भाव से गोपियों के मख नीचे हो गये।

(१४) श्रीकृष्ण के तिरस्कार से गोपियों को यह प्रतीति हुई कि संभवतः उन्होंने कुलीन स्त्रियों की मर्यादा के अनुरूप कार्य नहीं किया। फलतः अकार्यसम्पादन से उत्पन्न होने वाली लज्जा से उनके मुख नीचे हो गये।

(१५) जब श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से यहां से लौट जाने का निर्देश कर चुके तो इन्हें अपना मुख क्या दिखायें।

(१६) एक चन्द्रमा के उदय होने से समस्त संसार के कमल संकुचित हो जाते हैं। इस समय शतकोटि यूथ गोपियों के मुखरूपी चन्द्रमा के उदय से भगवान् के दोनों नेत्ररूपी कमल बन्द हो गये हैं। श्रीकृष्ण को "पुण्डरीकाक्ष" कहते हैं। नेत्रों के बन्द हो जाने से हमें पहचान नहीं सके हैं। इसीलिए लौट जाने को कह रहे हैं। मुखों को नीचा करने से इनके नेत्र खुल जावेंगे, तो हमें पहचान लेंगे।

(१७) गोपियों के हृदय में स्वाभिमान का भाव प्रकट हो गया था कि जब हमने त्रिकाल में भी कभी श्रीकृष्ण पर किसी भी दोष का आरोप नहीं किया तो ये हम पर क्यों दोषारोपण कर रहे हैं। यही स्वाभिमान क्षोभ का कारण था।

(१८) मुख नीचा करने से उनकी दृष्टि सीधी पृथ्वी पर पड़ रही थी। जिसका आशय था कि भगवान् ने तो हमें दोषी ठहरा ही दिया है। अब क्या हमारे जैसी दोषी आत्माओं का भार सहन करने में तुम समर्थ हो।

(१९) मुख नीचा करके उन्होंने अपनी दृष्टि भगवान् के चरणों पर स्थिर कर दी थी। इस अर्थ में परमहंसों को यह बताया गया है कि साधक को केवल भगवान् के चरणों का ही ध्यान तथा चिन्तन करना चाहिए।

(२०) गोपियां सोचने लगीं कि क्या हम वही श्रीकृष्ण-प्रियायें हैं जिनके प्रति श्रीकृष्ण के स्नेह की आनन्दमन्दाकिनी निरन्तर बहा करती थी। उस स्नेह की मन्दाकिनी के सूखने में क्या कोई अज्ञात नूतन दोष का उद्भव कारण बना है। उसी दोष का अन्वेषण करने के लिए उन्होंने मुख नीचे कर लिये।

(२१) गोपियों ने विचार किया कि शोक के उष्णोष्ण निःश्वासों से सूखे-सूखे अधरों के लिए श्रीशुकदेव ने बिम्बफल की उपमा दी। बिम्बफल को बुद्धि का हरण करने वाला स्वीकार किया गया है।[1] अतः संभवतः बिम्बाधरों के दर्शन से श्रीकृष्ण की बुद्धि कुछ विकृत हो गई है। हमें पहचान नहीं रहे हैं। इन अधरों को नीचा करके छिपा लेना चाहिये, जिससे पुनः हमारे बुलाने की स्मृति भगवान् के मन में जगे।

(२२) गोपियों ने कभी भी भगवान् के ऐसे कठोर वचन नहीं सुने थे। ऐसे वचन सुनने से उत्पन्न होने वाले शोक के प्रखर ताप से उनके हृदय में असह्य वेदना होने लगी। इस वेदना से गोपियों को यह भय हुआ कि कहीं उनके हृदय तो विदीर्ण नहीं हो गये। यही देखने के अभिप्राय से उन्होंने मुख नीचे कर लिये।

(२३) गोपियों ने सोचा कि क्या हमारे हृदय में अनुराग का लेशमात्र भी शेष नहीं रहा, जिस कारण से भगवान् हमें लौटने की आज्ञा दे रहे हैं। इस प्रकार अपने-अपने हृदय में भगवान् के प्रति अनुराग का अन्वेषण करने के अभिप्राय से प्रत्येक गोपी ने मुख नीचा कर लिया।

(२४) गोपियों ने यह सोचा कि श्रीकृष्ण ने तो हमारा सर्वथा त्याग कर दिया किन्तु कहीं ये हमारे हृदय से नहीं निकल जावें। यही देखने के लिए उन्होंने मुख नीचे कर लिये।

उपात्तमषिभिः। नेत्रों में लगाये हुए कज्जल को घोलकर, उसकी काली स्याही बनाकर, जब आँसुओं की धारा बहने लगी, तो ऐसी प्रतीति होती थी मानो कामदेव ने गोपियों के शरीर पर काले डोरे से दो रेखायें खींच दी हों। जिस प्रकार कोई शिल्पकार काष्ठ के तख्ते काटने के पूर्व काले डोरे से रेखा खींचता है, उसी प्रकार गोपियों ने यह भाव प्रकट

---

१. **सद्यो बुद्धिहरी बिम्बा**। भावभावविभाविका में उद्धृत :

श्रीमद्भागवतम् पृ० १०१५ (१०,२९,२९)

किया कि हे श्रीकृष्ण ! रेखाऐं तो खिंच गई हैं। अब शीघ्र ही करौती चलने वाली है। अतः हम तुम्हें पूर्व सूचना देती हैं। क्योंकि अभी भी यदि तुमने हमें स्वीकार नहीं किया तो इतनी गोपरमणियों की मृत्यु का पाप आपको लगेगा।

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्त्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥३०॥

श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के अभिप्राय से गोपियों ने अपनी समस्त कामनाएं निवृत्त कर दी थीं। वे श्रीकृष्ण में पूर्णरूप से अनुरक्त थीं। अतः उन्होंने अत्यन्त प्रिय श्रीकृष्ण को अप्रिय के समान बोलते हुए देखकर रुदन से अधिक्रान्त दोनों नेत्रों को पोंछकर, कुछ क्रोध के कारण गद्गद् वाणी से बोलना प्रारम्भ किया।

(१) यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब श्रीकृष्ण ने गोपियों के अत्यन्त प्रिय होकर भी उनकी पूर्वोक्त प्रकार से स्पष्ट रूप में अवहेलना की तो गोपियों ने अपने चित्त को श्रीकृष्ण से निवृत्त क्यों नहीं किया। इस प्रश्न के दो समाधान हो सकते हैं।

(क) गोपियों ने अपनी समस्त कामनाएं निवृत्त कर ली थीं। उन कामनाओं की निवृत्ति का उद्देश्य श्रीकृष्ण की प्राप्ति का लक्ष्य था। इस प्रकार श्रीकृष्ण के अतिरिक्त समस्त वासनाओं का त्याग करने पर मन को निवृत्त करने की शक्ति का भी सर्वथा अभाव था।

(ख) श्रीकृष्ण ने सभी गोपियों के मन का आकर्षण कर लिया था। जो प्राणिमात्र के मन का आकर्षण करने की शक्ति से सम्पन्न है उनके चरणों से मन को निवृत्त करना कैसे संभव है।

(२) नेत्रे प्रमृज्य। नेत्रों से आँसू पोंछने के तीन कारण थे।

(क) श्रीकृष्ण की दिव्य रूपमाधुरी की छटा के आस्वादन में आंसुओं का व्यवधान था। श्रीकृष्ण द्वारा अपनी अवधीरणा जानकर उन्होंने सोचा कि अब प्राण त्याग तो करना ही पड़ेगा फिर भगवद्दर्शन में अश्रुजल क्यों व्यवधान बनें ?

(ख) इस समय गोपियों के अन्तःकरण क्रोध तथा शोक की सन्धि पर खड़े थे। अतः नेत्र पोंछने से कुछ करने का अभिप्राय लक्षित होता है।

(ग) श्रीकृष्ण के प्रति परम अनुराग के कारण गोपियां एक तरफ गद्गद थीं। किन्तु उनकी अवहेलना के कारण कुछ क्रोध भी उत्पन्न हो गया था। जब क्रोध का कुछ अंश उत्पन्न होता है तो वहां विषाद की सत्ता रहती है। इस अवस्था में जब भी बोलने की इच्छा प्रबल होती है तो सबसे पहले आंसुओं को पोंछने की क्रिया का प्रारम्भ होता है।

गोपियां बोलीं

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥३१॥

हे विभो ! आप इस प्रकार नृशंस वचन कहने के योग्य नहीं हैं। समस्त विषयों का परित्याग करके आपके चरणों में प्राप्त होने वालियों का त्याग मत करो। हे स्वच्छन्द ! जिस प्रकार आदि पुरुष मुमुक्षुओं पर कृपा करते हैं उसी प्रकार तुम हमें स्वीकार करो।

(१) इस समय समस्त गोपियां भगवान् के चारों तरफ चार दलों में बंटकर खड़ी थीं। इन चारों दलों का प्रतिनिधान करने वाली चार प्रधान गोपियों ने इस श्लोक के चार वाक्यांशों को कहा था। प्रस्तुत श्लोक के चारों चरणों का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र अभिप्राय इस प्रकार प्रतीत होता है।

(क) आपको इस प्रकार के कठोर वचन कहना शोभा नहीं देता। यहां गोपियों का भाव है कि पति की सेवा का त्याग करने से हमें किस दोष का भागी बनना पड़ेगा यह तो भविष्य की बात है किन्तु इस समय तो तुम स्वयं दोषी हो। हमें नाम ले लेकर बुलाकर इस प्रकार तिरस्कार कर रहे हो। अतः तुम्हें कठोर वचन कहना युक्ति-संगत तथा विचार-संगत नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम चरण से १८ वें श्लोक के प्रथम चरण का उत्तर दिया गया है।[१] भगवान् ने सर्वप्रथम गोपियों का स्वागत किया था। उसी के उत्तर में गोपियां कह रही हैं कि स्वागत करके ऐसे कठोर वचन कहना उचित नहीं है।

(ख) द्वितीय चरण से अठारहवें श्लोक के द्वितीय चरण का उत्तर दिया है।[२] अठारहवें श्लोक में भगवान् ने स्वागत करके गोपियों को पूछा था कि तुम्हारा क्या प्रिय करूं ? इसी का उत्तर गोपियों ने यहां द्वितीय चरण में दिया कि हमारा त्याग मत करो। इससे बढ़कर कोई प्रिय पदार्थ हमारे लिए नहीं है।

(ग) द्वितीय चरण से ही अठारहवें श्लोक के तृतीय चरण से बाईसवें श्लोक तक भगवद्वाक्यों का उत्तर है। यहां गोपियों ने बताया है कि तुम हमें पति, पिता, भाई, बन्धु आदि के लिए लौटने को कहते हो सो हमने तो समस्त विषयों का एक साथ ही परित्याग करके तुम्हारे चरणों का आश्रय लिया है।[३] यहां यह भी संकेत है कि तुमने रात्रि के घोर

---

१. **स्वागतं वो महाभागाः** । श्रीमद्भागवतम् । १०, २९, १८ ।
२. **प्रियं किं करवाणि वः** । वही १०, २९, १८ ।
३. **व्रजस्यानामयं कच्चित्** । श्रीमद्भागवतम्, १०, २९, १८ से २२ ।

रूप का वर्णन करके हमें डरा कर लौटाने का यत्न किया है।[1] वह भी निरर्थक है क्योंकि तुम्हें छोड़कर अपनी देहरक्षा के निमित्त भी हम नहीं लौटेंगी।

(घ) चतुर्थ चरण से अठारहवें श्लोक के चतुर्थ चरण का उत्तर दिया गया है। अठारहवें श्लोक के अन्त में भगवान् ने पूछा था कि अपने-आने का कारण बताओ। यहां गोपियों ने कहा कि हमारे आने का एकमात्र कारण है कि तुम हमें स्वीकार करो।[2]

(२) विभो। इसके दो अर्थ हैं।

विभु का अर्थ है व्यापक। जो व्यापक होता है वह सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी होता है। इस सम्बोधन से गोपियों ने यह भाव प्रकट किया है कि तुम तो हमारे हृदयस्थ भावों से अच्छी तरह परिचित हो। अतः ऐसा कहना उचित नहीं।

(३) मा। श्लोक का प्रारम्भ निषेधार्थक 'मा' पद से किया गया है। इसके दो आशय हैं।

(क) अतिशय वेदना तथा व्याकुलता को प्रकट करना।

(ख) तुम्हारा इस प्रकार के वचन कहना तो दूर रहा, ऐसे वाक्यों को मन में प्रकट रूप से विचार करना भी हमारे लिए कठोर है।

(४) गदितुं। "गद" धातु का अर्थ है=व्यक्त रूप में कहना।[3] अर्थात् इस प्रकार के कठोर वचन स्पष्ट रूप से हमारे सामने ही कहना किसी भी प्रकार ठीक नहीं है।

(५) भजते मुमुक्षून्। यदि यहां भजते तथा अमुमूक्षून्, इस प्रकार संधिविच्छेद किया जाय तो 'अमुमुक्षून्' पद का अर्थ होगा वे "भक्त" जो मोक्ष की कामना नहीं करते। भक्ति मार्ग में भक्त मोक्ष नहीं चाहता बल्कि भगवान् के पार्षदों में स्थिति से निरन्तर भगवान् की सेवा में रहता हुआ आप्राकृत निकुञ्जलीला की माधुरी का आस्वादन चाहता है।

(६) पादमूलं। यह पद गोपियों के अन्तःकरण की अत्यन्त दीन मनोवृत्ति को बताता है। भगवत्तिरस्कार से गोपियां व्याकुल हो गई थीं। अतः पादपद्मं न कहकर पादमूलं के द्वारा उन्होंने यह बताया कि हम तो तुम्हारे चरणों के आश्रित हैं।

प्रथम अर्थ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विभु का अर्थ व्यापक है। इस प्रकार गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति यह भाव व्यक्त होता है कि हमारी निरन्तर तुम्हारे चरणों का चिन्तन करने की प्रक्रिया का तथ्य तुम्हें अपने विभुत्व के कारण स्वतः असंदिग्ध रूप से ज्ञात है। साथ ही तुम स्वयं यह कह चुके हो कि जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं उसे उसी भाव से अङ्गीकार कर लेता हूं।[4]

---

१. **रजन्येषा घोररूपा।** श्रीमद्भागवतम्, १०, २९, १९।
२. **ब्रूतागमनकारणम्।** श्रीमद्भागवतम्, १०, २९, १८।
३. **गद व्यक्तायां वाचि।** सिद्धान्तकौमुदी धातुसंख्या, ५२।
४. **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ श्रीमद्भगवद्गीता, ४, ११।

(७) दुरवग्रह । इसका अर्थ है जो अत्यन्त कठिनता से ग्रहण किया जा सके । यहां गोपियों ने इस सत्य की तथ्यता को स्वीकार करते हुए भी अपनी अनन्यगतिकता की ओर संकेत किया है । फलतः हम गोपियों के परित्याग से तुम्हें अवश्य दोषी बनना पड़ेगा क्योंकि स्वयं आदि पुरुष नारायण भी मुमुक्षुओं को अपनी कृपा से स्वीकार करते हैं ।

यदि यह कहा जाय कि जब तुम्हें इस प्रकार का तत्त्वज्ञान है तो वैषयिक सुख का विकार मन में किस प्रकार शेष रह गया। गोपियों ने इस प्रश्न की कल्पना करके उसके समाधान के अभिप्राय से कहा कि हमने तो समस्त विषयों का पूर्णरूप से परित्याग कर दिया है। हमारे मन में तो केवल ब्रह्मसन्निधि के सुख की लालसा का विषय ही शेष है।

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥३२॥

हे अङ्ग ! धर्म के ज्ञाता तुमने जो पति, पुत्र तथा मित्रों की अनुवृत्ति करना स्त्रियों के लिए स्वधर्म बताया है, यह उपदेशपरायण ईश्वर स्वरूप तुम्हारे सम्बन्ध में ठीक होगा क्योंकि आप निश्चित रूप से आत्मा हो और शरीर धारण करने वालों के परमप्रिय बन्धु हो ।

इस श्लोक में इन साथ अर्थों की स्फूर्ति होती है ।

(१) (क) "उपदेशपद" पद में पद शब्द विषयार्थक है। इस प्रकार उपदेश करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को ही गोपियां उपदेश का विषय सिद्ध करती हैं । श्रीकृष्ण के लिए दूसरा विशेषण "ईश" लगाया गया है। ईश का अर्थ ईश्वर है । सभी प्रकार के उपदेशों की इतिकर्त्तव्यता ईश्वर में होती है। इस प्रकार पति, पुत्र, मित्र, बान्धव आदि की सेवा का उपदेश भी ईश्वरस्वरूप श्रीकृष्ण में ही पर्यवसित हो जाता है ।

(ख) श्रीकृष्ण को पूर्वार्ध में ईश्वर के रूप में प्रतिपादित करके उत्तरार्ध में साक्षात् आत्मा कहा गया है। आत्मा ही ईश्वर होता है। यही संसार के समस्त पदार्थों का जीव द्वारा भोग करता है। इसी प्रकार के ईश्वर-आत्मा का प्रतिनिधान करने वाले श्रीकृष्ण को गोपियां अपना परमप्रिय बन्धु स्वीकार करती थीं । अतः श्रीकृष्ण के पति, बान्धवादि की सेवा में लौट जाने वाले उपदेश का उत्तर गोपियों ने श्लोक के अन्तिम चरण में दिया है कि हमारे तो परमप्रिय बन्धु तुम्हीं हो । तुम्हारी ही सेवा, शुश्रूषा हमें अभीष्ट है ।

(२) द्वितीय अर्थ में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि "उपदेशपद" पद का अर्थ यह माना जाय कि श्रीकृष्ण तो गोपियों को स्त्रीधर्म का उपदेश कर रहे थे । वे धर्म के तत्त्व को पूर्ण रूप से जानते थे । फिर गोपियों ने उस उपदेश का पालन करते हुए व्रज लौटने की क्रिया में शिथिलता क्यों की ? इसका उत्तर श्लोक के चतुर्थ चरण में "आत्मा" पद द्वारा

दिया गया है। यहां "आत्मा" पद के श्रीकृष्ण के लिए प्रयोग द्वारा गोपियों ने यह बताया है कि श्रीकृष्ण धर्म के उपदेशक ही नहीं हैं बल्कि वे तो स्वयं आत्मा हैं। आत्मा धर्म का उपदेश नहीं करती। वह तो धर्माचरण के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले लक्ष्य का प्रतिनिधान करने वाला पदार्थ बनती है। इस प्रकार जब गोपियों ने धर्म के आचरण की समस्त विधियों के फलस्वरूप श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लिया है तो फिर किस उपदेश की अपेक्षा रह जाती है? धर्माचरण का प्रधान प्रयोजन तो भगवत्प्राप्ति में पर्यवसित होता है। फिर उपदेशश्रवण तथा उपदेश के अनुष्ठान के लिए जीवन में स्थान ही कहां शेष रहता है?

(३) तृतीय अर्थ की ध्वनि श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त "ईश" पद से होती है। इस भाव को प्रकट करने के हेतु काकुवक्रोक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। यहां "ईश" का आशय स्वामी से है। यहां गोपियों का भाव है कि जब हमने तुम्हें अपना स्वामी स्वीकार करके तुम्हारी आराधना प्रारम्भ की है, तो तुम्हारा इस प्रकार का उपदेश करना कदापि युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता।

(४) चौथे अर्थ की स्फूर्त्ति में गोपियों ने अद्वैत वेदान्त की धारा का समाश्रयण करके यह सिद्ध किया है कि श्रीकृष्ण का पति, पुत्र, बन्धु की सेवा करने के उपदेश का तात्पर्य भी श्रीकृष्ण की ही सेवा की ओर संकेत करता है। अद्वैत वेदान्त में सीप में रजत की भ्रान्ति अथवा रस्सी में सांप की भ्रान्ति का उदाहरण सामान्य रूप से दिया जाता है। यहां सीप अथवा रस्सी में जिस समय भ्रान्ति होती है, उस समय इन्हीं दोनों वस्तुओं को भ्रमात्मक पदार्थविशेष का अधिष्ठान मान लिया जाता है। यह भी इस सम्बन्ध में स्मरणीय तथ्य है कि जिस व्यक्ति को रस्सी तथा सीप की वास्तविक स्वरूप-स्थिति का निश्चयात्मक ज्ञान है, उसको आरोपित पदार्थ का भ्रमात्मक ज्ञान नहीं होता। अद्वैत की इसी धारा को दृष्टि में रख कर गोपियों ने श्रीकृष्ण को उत्तर दिया है कि तुम ईश्वर हो। ईश्वर संसार के समस्त प्राणियों का अधिष्ठान होता है। इसी अर्थ की पुष्टि के अभिप्राय से "आत्मा" पद रखा गया है। इस प्रकार जब तुम पति, पुत्र, बन्धु सबके अधिष्ठान होने के कारण सभी के स्वरूपों का प्रतिनिधान अपने में करते हो तो तुम्हारी सेवा में एकनिष्ठता द्वारा तुम्हारे उपदेश के पालन की क्रिया बन जाती है।

(५) पांचवें अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए श्लोकनिष्ठ दो विशेषणों का अवलम्बन किया जाता है।

(क) तनुभृतां प्रेष्ठः। शरीरधारण करने वाले समस्त प्राणियों के परमप्रिय।

(ख) आत्मा। आत्मस्वरूप।

संसार का साधारण नियम है कि कोई भी मनुष्य तथा कोई भी प्राणी कभी भी वास्तव में किसी से प्रेम नहीं करता। प्रत्येक प्राणी के प्रेम के पीछे उसके अपने स्वार्थ की पूर्त्ति तथा अपनी अतृप्त वासना की पूर्त्ति का भाव अन्तर्हित रहता है। पत्नी पति से तभी तक प्रेम करती है जब तक उसके स्वार्थ की पूर्त्ति होती रहती है। पुत्र पिता से तभी तक प्रेम करता है जब तक उसे उससे कुछ लाभ होता है। जिस समय व्यक्तिविशेष द्वारा अन्य व्यक्ति के स्वार्थ में व्याघात हो जाता है तो तत्काल उस प्रेम की कड़ी टूट जाती है। यह

भाव उपनिषद् परम्परा में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।[1] वास्तविक प्रेम तो केवल परमात्मा के प्रति होता है। जहाँ किसी भी प्रकार की उपाधि तथा प्रियता के आधारविशेष का स्थान नहीं होता। इस प्रकार समस्त शरीरधारियों के लिए परमप्रिय होने के कारण श्रीकृष्ण को परमात्मा सिद्ध किया गया है। दोनों विशेषणों को मिलाने से जब श्रीकृष्ण ही ईश्वर तथा परमात्मा के रूप में ढल जाते हैं तो फिर उनकी सेवा की अपेक्षा पति, पुत्र, मित्र, बन्धु की सेवा करना गोपियों को तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।

(६) छठे अर्थ का भाव "ईश" पद पर स्थित है। जब ईश का अर्थ स्वामी करते हैं तो श्रीकृष्ण समस्त गोपाङ्गनाओं के स्वामी हो जाते हैं। स्वामी शब्द का अर्थ है—आश्रय। इस प्रकार जब श्रीकृष्ण समस्त गोपियों के आश्रय बन जाते हैं, तो आश्रय लेने वाले को धर्म तथा अधर्म के आचरण व अनाचरण की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि धर्मनिष्ठ तथा अधर्मनिष्ठ क्रियाओं के ही परिणामस्वरूप भगवत्संयोग अथवा भगवद्वियोग की संभावना बनती है। यहां जब स्वतः गोपियों को भगवत्सन्निधि मिल चुकी तो फिर उपदेशश्रवण तथा उपदेशगत आचार के पालन के लिए अवकाश कहां रहता है?

(७) (क) इस अर्थ में गोपाङ्गनाओं ने व्यंग्योक्ति का आश्रय लेकर श्रीकृष्ण को खूब आड़े हाथों लिया है। उनका अभिप्राय है कि जब कोई उपदेशक किसी मार्गविशेष, पद्धतिविशेष, विधिविशेष, तथा क्रियाविशेष का उपदेश करता है तो उस उपदेश में तभी पूर्ण बल प्रकट होता है जब कि उपदेश करने वाला व्यक्ति स्वयं उस उपदेश पर क्रियात्मक रूप से अपने जीवन को ढाले। उपदेश करने वाले के उस आचारविशेष में ढले हुए जीवन का ही सर्वाधिक प्रभाव उपदेश्य व्यक्ति के जीवन में प्रवृत्ति का कारण बनता है। अतः तुम्हारा पति आदि की सेवापरायणता का उपदेश तभी पूर्ण रूप से प्रभावोत्पादक बन सकता है, जब कि तुम स्वयं किसी सौन्दर्यरत्नाकरी दिव्य रमणी का रूप ग्रहण करके पति की शुश्रूषा में एकतानता की अभिव्यक्ति करो। श्रीकृष्ण की स्त्रीरूप धारण करने की शक्ति के विषय में समर्थता का निर्णय करने की दृष्टि से "ईश" पद रखा गया है कि तुम ईश्वर होने के नाते ऐसा करने में सर्वथा समर्थ हो।

(ख) इस अर्थ में श्रीकृष्ण के पक्ष से एक सन्देह होता है कि यदि भगवान् ने स्त्रीरूप धारण भी किया तो यह कैसे संभव है कि किसी कृत्रिम स्त्री के प्रति किसी पुरुष का पत्नीभाव से स्वाभाविक प्रेम जम सकता है। इसी सन्देह के निराकरण करने के लिए "तनुभृतां प्रेष्ठः" कहा गया है: कि तुम समस्त प्राणधारण करने वालों के परमप्रिय हो। सबकी स्वाभाविक अनुराग की धारा स्वतः तुम्हारी ओर बहती है। चाहे तुम्हारा कोई भी रूप हो।

---

१. **न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति,**
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति,
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। बृहदारण्यक उपनिषद्, २, ४, ५।

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥३३॥

हे आत्मन् ! हे निजस्वरूप ! कुशल मनुष्य निश्चित रूप से नित्यप्रिय तुम्हारे में ही अनुराग करते हैं । दुःख को देने वाले पति तथा पुत्रादि से क्या प्रयोजन है ? हे परमेश्वर ? हमसे प्रसन्न होओ । हे कमलनयन ! चिरकाल से तुम्हारे में धारण की हुई आशा को मत काटो ।

कुशलाः । कुशल शब्द से यहां उन चतुर पुरुषों की ओर संकेत है जो ग्राह्य-अग्राह्य में तथा सार-असार में निर्णयात्मक बुद्धि स्थिर करने में समर्थ हैं । कुशल पद का प्रयोग यहां नारद आदि परमभागवत ऋषियों के लिए किया गया है। गोपियों को यह पूर्ण ज्ञान हो चुका था कि श्रीकृष्ण ही सब कुशल व्यक्तियों की प्रीति तथा अनुराग के आस्पद हैं। श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग की महिमा का बोध उन्हें गर्ग के वचन से पहले ही हो चुका था कि जो परम भाग्यशाली व्यक्ति श्रीकृष्ण से प्रेम करते हैं उनका शत्रु तिरस्कार नहीं कर सकते । जैसे असुर विष्णु का पराभव नहीं कर सकते ।[1]

(२) हे अरविन्दनेत्र । इस सम्बोधन से तीन अर्थ प्रकट होते हैं ।

(क) अरविन्द का यह स्वभाव होता है कि वह सूर्योदय के साथ विकसित होता है और सूर्यास्त के साथ ही मुकुलित हो जाता है। इसी भाव को लेकर गोपियों ने इस सम्बोधन का प्रयोग किया है कि इस समय शरत्पूर्णिमा की रजनी है । तुम्हारे नेत्र अरविन्द के सदृश हैं । असंदिग्ध रूप में रात्रि के कारण तुम्हारे नेत्र बन्द हो गये हैं । अतः तुम हमें पहचान नहीं रहे हो । फलतः हमारे लोकोत्तर सौन्दर्य के ज्ञान के अभाव से हमारी उपेक्षा कर रहे हो ।

(ख) भगवान् के नेत्रों की शोभा अत्यन्त विलक्षण थी । इसीलिए उनकी उपमा कमल के साथ की गई है। यही कारण है ऐसे कमलनयन को प्राप्त करने की आशा चिरकाल से गोपसुन्दरियों के अन्तःकरण में लगी हुई थी । वास्तव में गोपियां भगवान् के नेत्र की अद्भुत सौन्दर्यमाधुरी पर मुग्ध थीं । यहां तक कि वे उनके नयनसौन्दर्य पर बिना मूल्य के बिककर उनकी दासी बन चुकी थीं ।[2]

(ग) कमल की यह विशेषता होती है कि संतप्त प्राणी के ताप को तत्काल दूर कर सकता है। यहां "अरविन्दनेत्र" सम्बोधन द्वारा गोपियां भगवान् को यह बता रही हैं कि

---

१. **य एतस्मिन्महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।**
नाऽरयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥ श्रीमद्भागवतम्, १०, २६, २१ ।

२. **तेऽशुल्कदासिकाः ।** —श्रीमद्भागवतम्, १०, ३१, २ ।

तुम्हारे नेत्र तो कमल के सदृश हैं। किन्तु कमल में जो गुण होते हैं वे गुण तुम्हारे नेत्रों में भी अवश्य होने चाहिएं तभी तुम इस विशेषण के अधिकारी हो सकते हो। यह गुण तुम्हारे नेत्रों में तभी स्वीकार किया जा सकता है जब कि तुम्हारे नेत्र भी कमल के समान तत्काल केवल दृष्टिपात द्वारा प्राणियों के संताप को दूर कर सकें। अभी तो यहां सर्वथा विपरीत क्रिया हो रही है। संताप को दूर करना तो दूर रहा, तुम्हारे नेत्र तो हमारे संताप को और भी द्विगुणित कर रहे हैं।

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला-
द्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥३४॥

जो मन घरों में सुखपूर्वक प्रविष्ट था, आपने उसका अपहरण कर लिया और हमारे दोनों हाथ भी गृहकार्य में संलग्न थे, उनका भी आपने अपहरण कर लिया। हमारे चरण आपके चरणमूल से एक पग भी नहीं चलते फिर किस प्रकार हम व्रज को जावें और जाकर भी क्या करें ?

(१) 'सुखेन' इस तृतीयान्त पद की दो प्रकार से व्याख्या हो सकती है :

(क) यह 'भवता' का विशेषण हो सकता है। इस पक्ष में सुख का अर्थ सुख का प्रतिनिधान करने वाले श्रीकृष्ण से है। गोपियों का यहां यह अभिप्राय है कि सुखरूप श्रीकृष्ण ने उनके चित्त को हर लिया था।

(ख) द्वितीय व्याख्या के पक्ष में 'सुखेन' के अर्थ के हेतु 'सह' पद का अध्याहार किया जाता है। इस प्रकार यह अर्थ प्रकट होता है कि श्रीकृष्ण ने गोपियों के चित्त का उनके सुख के साथ हरण किया था। जब किसी के पास सुख तथा चित्त दोनों नहीं रहते तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति उत्पन्न हो जाती हे। यही आशय श्लोक के चतुर्थ चरण से व्यक्त किया गया है।

(२) पूर्वार्ध में गोपियों ने श्रीकृष्ण पर ही समस्त दोष का आरोप किया है। वे स्पष्ट रूप से कहती हैं कि हमारे मन तो गृहों में लगे हुए थे। हमारे हाथ गृह-कार्य में व्यापृत थे। इस प्रकार तुमने हमारी गृहस्थ में लगी हुई मनोवृत्ति का, हाथों की क्रिया-शक्ति का तथा चरणों की चलन-शक्ति का हरण किया है। अतः इस दोष के भागी स्वयं हो।

(३) वास्तव में केवल चित्त के हरण का निर्देश करने मात्र से ही समस्त इन्द्रियों के हरण का बोध हो जाता है। फिर इस श्लोक में हाथ-पैरों के पृथक् हरण का निर्देश यह भाव प्रकट करता है कि गोपियों को पति-पुत्रादि की सेवा करते हुए हाथों से पृथक करना और उनके चरणों को अज्ञात रूप से अपनी ओर आकर्षित करना, ये दोनों कार्य श्रीकृष्ण की मुरली की ध्वनि से अनायास हो गये थे। अतः इसका उत्तरदायित्व भी श्रीकृष्ण पर रहना चाहिए।

(४) एक भाव यह प्रकट होता है कि श्रीकृष्ण ने गोपियों के चित्त का हरण किया था।

अतः गोपियां अपने चित्त की चोरी करने वाले को ढूंढती ढूंढती वहां पहुंच गई थीं। जब श्रीकृष्ण ने देखा कि चित्त की वास्तविक स्वामिनियां आ गई हैं, तो उन्हें तत्काल वहां से लौट जाने का उपदेश करने लगे। किन्तु उधर गोपियों के हाथों तथा पैरों का भी हरण हो चुका था अतः उनका लौटना संभव नहीं था। यदि किसी प्रकार लौटतीं भी, तो चित्त, हाथ, व पैर के अभाव में व्रज में उनके जीवन की किसी भी क्रिया में गति संभव नहीं थी।

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥३५॥

हे अङ्ग! हास्यपूर्ण निरीक्षण से तथा मधुर गीत से उत्पन्न होने वाली हमारी कामाग्नि को तुम्हारी अधरसुधा के पूर द्वारा सींचो। अन्यथा हे सखे! हम तुम्हारे विरह की वह्नि के लिए योग्य शरीर वाली होकर ध्यान द्वारा तुम्हारे चरणों की मर्यादा को प्राप्त करेंगी।

(१) पूरकेण। 'पूर' शब्द का अर्थ राशि अथवा समूह है। यहां स्वार्थ में 'क' प्रत्यय लगाने पर पूरक पद की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार भगवान् की अधरसुधा की राशि द्वारा सिंचन की प्रार्थना यह भाव प्रकट करती है कि गोपियों की अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित थी। जिसकी शान्ति के हेतु पीयूष-राशि द्वारा सिंचन अपेक्षित था।

(२) गोपियों के हृदय में अग्नि की ज्वालाओं को प्रचण्ड बनाने के लिए प्रस्तुत श्लोक में दो कारण दिये गये हैं।

(क) मन्द-हास्य से मिला हुआ निरीक्षण।

(ख) मधुर वेणुगीत।

जिस प्रकार सामान्य अग्नि की ज्वालाएं घृत की आहुति तथा वायु का संयोग पाकर धधक जाती हैं, उसी प्रकार उपरिनिर्दिष्ट दोनों कारण गोपियों के हृदयों में अग्नि को प्रदीप्त करने के प्रधान हेतु बने थे।

(३) अधरसुधा द्वारा सिंचन में प्रथम कारण। (क) 'हृच्छय' शब्द का अर्थ काम है।[1] क्योंकि यह हृदय में सोता है अथवा निवास करता है। इस व्युत्पत्ति से गोपियों के पक्ष द्वारा यह भाव निकलता है कि काम तो स्वभाव से ही हृदय में निवास कर रहा है। अतः उसका निराकरण तभी संभव हो सकता है कि जब कि किसी ऐसी वस्तु का पान किया जाय जो हृदय में पहुंच कर कामदेव को बाहर निकालने में समर्थ हो। गोपियों की मति में ऐसी वस्तु केवल भगवान् की अधरसुधामाधुरी का पान करना था।

---

१. हृदि शेते निवसति वा इति हृच्छयः।

(ख) अधरसुधा द्वारा सिंचन में द्वितीय कारण––सिंचन में द्वितीय कारण का प्रतिपादन श्लोक के उत्तरार्ध में किया गया है। यहां गोपियों ने स्पष्ट रूप से बताया है कि यदि तुमने अधरपीयूष के पान द्वारा हमारे हृदय की अग्नि को शान्त नहीं किया तो हम विरह की अग्नि से अपने गुणमय देह को दग्ध करके ध्यान द्वारा आपके चरणों को प्राप्त करेंगी।

भारतीय दर्शन शास्त्र का यह सिद्धान्त-पक्ष है कि प्रत्येक प्राणी के चिदाकाश में अनेक जन्मों के प्रारब्ध जमा रहते हैं। जाग्रत् अवस्था में, अथवा अर्धचेतनावस्था में, अथवा सुप्तावस्था में चेतन तथा अचेतन मन जिस वस्तु का, जिस पदार्थ का, जिस विषय का निरन्तर चिन्तन करता रहता है, मृत्यु के एक क्षण पूर्व उसी वस्तु के संस्कार, उसी पदार्थ की भावना, उसी विषय के बीज चिदाकाश में असंख्यात प्रारब्धों को पलट कर सबसे ऊपर आ जाते हैं और भविष्य की योनि के लिए कारण बनते हैं।

सिद्धान्त की इसी मर्यादा को मन में स्थिर करके गोपियों ने कहा है कि हम अपने शरीर का त्याग करने के एक क्षण पूर्व तक अव्यवहित रूप से तुम्हारे चरणों की प्राप्ति का चिन्तन करेंगी। फलतः चरणमर्यादा में उपस्थिति अवश्यंभावी है। केवल एक ही वस्तु तुम्हारे पक्ष से विचारणीय है, कि हमारे देह-त्याग का दोष तुम्हीं पर होगा।

(४) भगवान् की अधरसुधा की राशि के पान की अभिलाषा गोपियों की महातृष्णा की ओर संकेत करती है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् की अधरामृतमाधुरी तथा गोपियों के हृदयों की अग्नि दोनों में लोकोत्तर भावविशेष का प्रादुर्भाव स्वीकार किया गया है। इसी लोकोत्तर विलक्षणता के कारण गोपियों ने यह सूचित किया है कि हमें देहयात्रा समाप्त करने के हेतु सांसारिक अग्नि का अवलम्बन नहीं करना पड़ेगा। बल्कि हम तो अपने हृदय से ही अग्नि को प्रकट करके गुणमय देह का त्याग कर सकेंगी।

(५) सखे! इस सम्बोधन का प्रयोग गोपियों ने चार अभिप्राय से किया है:

(क) प्रथम अभिप्राय में गोपियों ने श्रीकृष्ण को अपनी सौहार्दपूर्ण स्नेहप्रधान भावगरिमा की ओर संकेत कराया है। इस भावगरिमा के अन्तस्थल में उनके निकट भविष्य के दुःख की मात्रा पूर्ण रूप से ओतप्रोत है।

(ख) द्वितीय अभिप्राय यह है कि हे मित्र! अब शीघ्र ही हमारी देहयात्रा समाप्त होने वाली है। यहां एक प्रार्थना छुपी हुई है कि देह-त्याग के पश्चात् भी तुम हमें सखारूप से ही मिलो।

(ग) तृतीय अभिप्राय यह है कि हे श्रीकृष्ण! तुम हमारे सखा हो। फिर भी तुमने हमें लौट जाने का उपदेश दिया है और स्पष्ट कहा है कि स्त्रियों को यहां नहीं ठहरना चाहिए।[1] हमारे में तुम्हें छोड़ने की तो सामर्थ्य नहीं है, किन्तु अपने गुणमय शरीर को अवश्य त्याग कर सकती हैं। इसका एकमात्र कारण केवल तुम्हारे प्रति हमारी सख्य भाव से उपासना है। उपासक को उपास्य के प्रत्येक आदेश का पालन करना होता है। तुमसे पृथक् होकर प्राण-धारण करना हमारे लिए असंभव है। फलतः केवल प्राणत्याग का ही पथ शेष रह गया है।

---

१. **नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः।** श्रीमद्भागवतम्, १०, २९, १९।

(घ) चतुर्थ अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्ण का संयोग गोपबालाओं के साथ बाल्यावस्था से ही था। अतः 'सखे' सम्बोधन द्वारा गोपियों ने यह आशय प्रकट किया है कि तुम हमारी तुम्हारे प्रति स्नेहनिष्ठा से अच्छी तरह परिचित हो।

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ॥३६॥

हे कमलनयन! वनवासियों के प्रिय तुम्हारे जिन चरणों के स्पर्श का अवसर भगवती लक्ष्मी को भी कभी-कभी प्राप्त होता है, तुम्हारे द्वारा अनुरक्त होकर हमने जब से उन चरणों का स्पर्श किया है—हे अङ्ग! तभी से हम किसी अन्य व्यक्ति के सम्मुख स्थिर होने में समर्थ नहीं हैं।

(क) गोपियों ने श्रीकृष्ण के पक्ष से अपने प्रश्नों के तीन संभाव्य उत्तरों को मन में रखकर इस श्लोक में उनका निराकरण किया है।

(क) श्रीकृष्णपक्ष से प्रथम संभाव्य उत्तर। यदि तुम्हारे अन्तःकरणों में कामाग्नि की ज्वाला प्रचण्ड रूप में प्रज्वलित है तो उसे शान्त करने के हेतु अपने-अपने पतियों के समीप जाकर प्रार्थना करनी चाहिए। तुम्हारे पति ही अपनी अधर-निस्यन्द-माधुरी द्वारा सिंचन करके तुम्हारी अग्नि को शान्त करेंगे।

(ख) श्रीकृष्णपक्ष से द्वितीय संभाव्य उत्तर—कुलीन नारियों का सबसे प्रधान धर्म होता है, अपने पतियों की सेवा में संलग्न रहना। गृहकार्य को अच्छी तरह सम्पादन करना और पति की आज्ञा के अनुसार घर में रहना।

(ग) श्रीकृष्णपक्ष से तृतीय संभाव्य उत्तर। वास्तव में तुम्हारे हृदयों में जो अन्तर्ज्वाला प्रकट हुई है, उसके प्रति मुझे कारण मानकर दोषी ठहराना विचारसंगत प्रतीत नहीं होता। स्त्रियों की यह प्रकृति होती है कि स्वतः ही चित्ताकर्षक वस्तु की ओर खिंच जाती हैं। यही कारण है कि मेरी लोकोत्तर रूपमाधुरी के दर्शन से तुम्हारे मन में आकर्षण उत्पन्न हो गया है।

(२) दत्तक्षणम्। यह विशेषण भगवान् के चरणारविन्द की दो विशेषताएं बताने के उद्देश्य से रखा गया है।

(क) पहली विशेषता यह है कि भगवती लक्ष्मी को इन चरणों से महान् उत्सव प्राप्त होता है। क्षण शब्द का अर्थ उत्सव भी है।[1]

(ख) दूसरी विशेषता यह है कि ये चरण सदा भक्तमण्डली द्वारा की जाती हुई ध्यानमयी

---

१. **अथ क्षण उद्धर्षो मह उद्भव** उत्सवः। अमरकोष, १, ७, ३८।

सेवा में इतने व्यस्त रहते हैं कि लक्ष्मी को भी कभी-कभी सेवा का अवसर देते हैं।[1] यह अवसर केवल आपकी कृपा पर अवलम्बित होता है। यहां क्षण का अर्थ अवसर लिया गया है।[2]

(३) अरण्यजनप्रियस्य। (क) भगवान् के लिए यहां गोपबालाओं ने "वनवासी जनों के लिए प्रिय" इस विशेषण का प्रयोग किया है। इसके पीछे गोपियों का व्यंग्योक्ति द्वारा यह भाव छुपा है कि तुम भगवती लक्ष्मी तथा हमारे जैसी सुन्दरियों का त्याग करके वन की नारियों तथा हरिणियों को निरन्तर आनन्द देते रहते हो। यह परम आश्चर्य का विषय भी तुम्हारी विलक्षणता को प्रकट करता है।

(ख) यदि अरण्य पद को वृन्दावन के अर्थ में स्वीकार किया जाय तो श्रीकृष्ण वृन्दावन-वासियों की प्रिय निधि बन जाते हैं। इस अर्थ में गोपियों का आशय है कि तुम हमारी प्रिय निधि होकर भी अपने मृदुतम नित्य चरणस्पर्श के आनन्द से हमें वंचित रखते हो।

(४) अभिरमिताः। (क) तुम्हारे मन में हमारे प्रति अभिरमण का भाव जब उत्पन्न हुआ था, तभी हमने चरणों का स्पर्श किया था। केवल एक बार चरणस्पर्श करने पर भी हम कभी किसी के सम्मुख स्थिर नहीं हो सकतीं क्योंकि तुम्हारे अभिरमण के भाव सबको ज्ञात हैं।

(ख) यदि 'न' का सम्बन्ध 'अस्प्राक्ष्म' के पूर्व लगा दिया जाय तो अर्थ होगा कि हमने तो तुम्हारे चरणों का स्पर्श ही नहीं किया था। इसी लिए अन्य सास-नंनद-सहेलियों आदि के सम्मुख खड़ी हो सकती हैं।

(५) अस्प्राक्ष्म। इसका अर्थ है कि जबसे हमने तुम्हारे चरणों का स्पर्श किया है तभी से हमारी यह स्थिति है। गोपियों ने जब व्रजकुमारियों के रूप में केवल हविष्यान्न खाकर कात्यायनी की पूजा तथा व्रत किया था तो उनके दो उद्देश्य थे।[3] (क) नन्दनन्दन श्यामसुन्दर को पति के रूप में प्राप्त करना।[4] (ख) भगवान् के चरणों को स्पर्श करने का अधिकार प्राप्त करना। गोपियों का यह आशय भगवान् को ज्ञात था जो स्वयं भगवान् के कथन से स्पष्ट है।[5] वास्तव में जो भगवान् के चरणों की रज की शरण में पहुंच जाते हैं वे स्वर्ग, भूमण्डल तथा पाताल का राज्य नहीं चाहते। ब्रह्मा के पद की कामना नहीं करते। अणिमा, महिमा, लघिमा आदि यौगिक सिद्धियां तथा मोक्ष भी नहीं चाहते।[6]

---

१. **यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ।**
श्रीमद्भागवतम्, १०, १६, ३६।

२. **(क) निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः ।** अमरकोष, ३, ३, ४७।
(ख) क्षणः कालविशेषे स्यात्पर्वण्यवसरे·····। हैमकोश।

३. **कात्यायनीव्रत ।** श्रीमद्भागवतम्, १०, २२, १–६।

४. **"भूयान्नन्दसुतः पतिः"।** श्रीमद्भागवतम्, १०, २२, ५।

५. **'तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया ।**
धृतव्रतानां संकल्पमाह दामोदरोऽबलाः ।' श्रीमद्भागवतम्, १०, २२, २४।

६. **न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।**
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः । वही, १०, १६, ३७।

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयञ्च तव पादरजः प्रपन्नाः ।।३७।।

जिस लक्ष्मी के अपनी तरफ निरीक्षण के हेतु अन्यान्य देवगण का प्रयत्न रहता है, वही लक्ष्मी भगवान् के वक्षःस्थल पर स्थान प्राप्त करके भी, तुलसी के साथ-साथ सेवकों द्वारा सेवित जिनके चरणकमल के रज की कामना करती है। उसी प्रकार हम भी तुम्हारी चरणधूलि की शरण में प्राप्त हुई हैं।

(१) यहां गोपियों ने भगवती लक्ष्मी को दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया है। जब सर्वविध ऐश्वर्यशालिनी लक्ष्मी भगवान् के वक्षःस्थल पर स्थान प्राप्त करके भी उनके चरणरज की कामना करती है तो हमारी तथाविध कामना में आश्चर्य ही क्या है? यहां लक्ष्मी की इच्छा तथा गोपियों की कामना में केवल यही अन्तर है कि जहां लक्ष्मी भगवान् के चरणकमल के रज की अभिलाषिणी है, वहीं गोपियां केवल चरणरज की कामना करती हैं। इसी अभिप्राय को लेकर प्रस्तुत श्लोक में लक्ष्मी तथा गोपियों के विचारक्रम से 'पदाम्बुजरजः' तथा 'पादरजः' पद का प्रयोग किया गया है। इन विशेष शब्दों के दो आशय थे।

(क) लक्ष्मी का आशय। लक्ष्मी का निवास कमल पर स्वीकार किया गया है। इसलिए कमलवासिनी कमलप्रिया चरणों में कमल के सादृश्य की भावना के बिना अपना मन स्थिर नहीं करती।

(ख) गोपियों का आशय। गोपियों को तो केवल श्रीकृष्ण की अनन्त अलौकिक मधुरिमा से ही तात्पर्य था। उस माधुर्यतरंगिणी में डूबी हुई गोपियों के लिए किसी भी स्वरूप-विशेष की इच्छा का महत्त्व नहीं था। वे तो केवल श्रीकृष्ण के चरणरज की अनिर्वचनीय आनन्द-लहरी में डूबना मात्र चाहती थीं।

(२) गोपियां परम साध्वी थीं। यह पतिव्रतामूर्धन्या भगवती लक्ष्मी के उदाहरण से अभिव्यक्त किया गया है। जब लक्ष्मी जैसी पतिव्रता निरन्तर अपने प्रियतम भगवान् नारायण के वक्षःस्थल पर स्थान प्राप्ति के पश्चात् भी वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण के चरण-रज की कामना कर सकती है। तो उसी प्रकार हम भी तुम्हारे चरण-रज की असाधारण मधुरिमा पर मुग्ध हैं। अतः हमारे इस कार्य में किसी भी प्रकार के दोष को ढूंढना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। इसी भाव की पुष्टि के लिए लक्ष्मी के साथ-साथ तुलसी का भी निर्देश किया गया है।

(३) भगवान् के चरणरज की विशेष महिमा प्रकट करने के उद्देश्य से इस श्लोक के उत्तरार्ध में लक्ष्मी की एक महती विशेषता की ओर संकेत किया गया है। अन्यान्य सुरगण लक्ष्मी के अपनी तरफ कटाक्षमात्र निरीक्षण के लिए अनेक प्रयत्न किया करते हैं। किन्तु लक्ष्मी को इन

प्रयत्नों की थोड़ी-सी भी परवाह नहीं होती। वह तो अपने प्रियतम के वक्षःस्थल के आश्रय के आनन्द में तथा श्रीकृष्ण के चरणकमल की धूलि के स्पर्शसुख में डूबी रहना चाहती है।

(४) वैष्णव परम्परा में श्रीकृष्ण के तीन रूप माने गये हैं।[1]

(क) स्वयंरूप श्रीकृष्ण। यह किसी भी स्वरूपविशेष की अपेक्षा नहीं करता। इसी रूप को नन्दनन्दन श्रीकृष्ण का रूप माना गया है। यह रूप स्वतःसिद्ध होता है।

(ख) तदेकात्मरूप श्रीकृष्ण। यह रूप तत्वतः स्वयंरूप श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं होता, अपि तु आकार से भिन्न होता है। इसके दो भेद होते हैं:

(१) स्वांशरूप। यह रूप स्वरूप से भिन्न नहीं होता किन्तु अपनी स्वतन्त्र अंश-शक्ति के आलोक का अभिमान करता है। इसकी न्यून शक्ति है और उदाहरण संकर्षण अथवा मत्स्य हैं।

(२) विलास रूप। यह रूप भी स्वरूप से भिन्न नहीं होता। केवल आकार का भेद रहता है। इसकी शक्ति भी स्वयंरूप श्रीकृष्ण के स्वरूप के तुल्य होती है। भेद इतना ही है कि श्रीकृष्ण द्विभुज हैं तो नारायण चतुर्भुज हैं।

(ग) आवेशरूप श्रीकृष्ण। जब श्रीकृष्ण का किसी जीवविशेष में आवेश हो जाता है, तो वह जीव आवेशरूप श्रीकृष्ण कहा जाता है। यह आवेश भगवान् की शक्ति, ज्ञान अथवा भक्ति के आधार पर माना जाता है। शक्त्यावेश का उदाहरण शेष है। ज्ञानावेश का सबसे अच्छा उदाहरण सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार माने जाते हैं और भक्त्यावेश का उदाहरण नारद में दृष्टिगोचर होता है।[2]

इस विवेचन से यह असंदिग्ध हो जाता है कि श्रीकृष्ण के तदेकात्म विलासरूप का प्रतिनिधान नारायण के स्वरूप द्वारा किया जाता है। लक्ष्मी इस रूप के वक्षःस्थल का सेवन करती है। स्वयं-रूप श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल का अधिकार वैष्णवपरम्परा में लक्ष्मी को नहीं दिया गया है। यही कारण है कि इस श्लोक में लक्ष्मी स्वयंरूप श्रीकृष्ण के चरणकमल के रज की कामना में विभोर हैं। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि भगवान् के स्वयंरूप श्रीकृष्ण के रूप से व्रजभूमि में अवतरित होते ही लक्ष्मी ने निरन्तर इस भूमि का आश्रय ग्रहण कर लिया था।[3] इस आश्रय का उद्देश्य प्रस्तुत श्लोक में अभिव्यक्त होता है कि लक्ष्मी की कामना श्रीकृष्ण के चरणरज के स्पर्श के दिव्य आनन्द में आप्लावित होने की थी। श्रीकृष्ण के जन्म के अनन्तर व्रजमण्डल की समस्त भूमि का उनके चरणरज से अनुरंजित होना अत्यन्त स्वाभाविक था।

---

1. Early History of the Vaisnava Faith and Movemment in Bengal, *S.K. De, Calcutta*, 1942, pp. 182—83.
२. **विशेष विवेचन के हेतु महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज का एतद्विषयक लेख द्रष्टव्य है।** कल्याण भाग १६, अंक ४ तथा ८।
३. **श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि**। श्रीमद्भागवतम् १०, ३१, १

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥३८॥

हे वृजिनार्दन ! हम पर प्रसन्न होओ। हम तुम्हारी उपासना की आशा से अपने निकेतनों को छोड़कर तुम्हारे चरण में आई हैं। हे पुरुषभूषण ! तुम्हारे सुन्दर हास्यपूर्ण निरीक्षण से हमारे मन तीव्र काम द्वारा संतप्त हो गये हैं। ऐसा हमको दास्यभाव प्रदान करो। (यह श्रीकृष्ण के **तीसरी तरफ** खड़ी होने वाली गोपियों के दल की उक्ति है।)

प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण के लिए दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है :—

(१) वृजिनार्दन। इस सम्बोधन का प्रयोग करके गोपियों ने अपनी दास्यभाव की प्रार्थना की पूर्त्ति पर अधिक बल लगाया है। इसका प्रधान हेतु यह था कि प्रथम तो गोपियां संसार के समस्त पदार्थों का त्याग करके भगवच्चरणों में एकनिष्ठ हो चुकी थीं। फिर उस एकनिष्ठता में भगवान् की उपासना की आशा अत्यन्त बलवती थी। इस उपासना की पद्धति पर चलने के लिए गोपियों की कामना दास्यभाव के मार्ग से थी। अतः यदि उनकी यह आशा अपूर्ण रह जाती तो उनके दुःख की मर्यादा का बांध टूट जाता। इसलिए वृजिनार्दन सम्बोधन का प्रयोग किया है, कि हे श्रीकृष्ण ! तुम तो सबके वृजिन अर्थात् दुःखों के अर्दन नाश करने वाले हो। अतः हमें भी दास्यभाव से अंगीकार करके हमारे दुःखों का नाश करो, तभी तुम्हारा यह नामधेय यथार्थ होगा।

(२) पुरुषभूषण। इस विशेषण से पुरुषों में श्रीकृष्ण को महापुरुष के रूप में उपस्थित किया गया है। सेव्यसेवकभाव सम्बन्ध वहीं होता है जहां उत्कर्ष तथा अपकर्ष की मात्रा स्पष्ट होती है। श्रीकृष्ण की पुरुषों में मूर्धन्यता गोपियों के पक्ष से दास्यभाव की प्रार्थना को युक्तिसंगत सिद्ध कर देती है।

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः ॥३९॥

हास्यपूर्ण निरीक्षण वाले, कुण्डलों की कान्ति से मण्डित कपोलयुगल, अधरपीयूष से परिपूर्ण तथा अलकावली से घिरे हुए मुख को देखकर, अभयदान करने वाली दोनों भुजाओं तथा भगवती लक्ष्मी की एकमात्र क्रीड़ास्थली रूप वक्षःस्थल को देखकर हम तुम्हारी दासियां हो रही हैं।

(१) यहाँ गोपियों ने अपने दास्यभाव की प्रवणता को अभिव्यक्त करने के लिए निम्न-लिखित कारण बताया है :

(क) सामान्यरूप से व्यवहार-जगत् में ऐसा नियम देखा जाता है कि किसी को दास्य-रूप से ग्रहण करने के हेतु द्रव्य की अपेक्षा होती है। किन्तु गोपियों ने किसी भी प्रकार के द्रव्य को लिये बिना ही भगवान् के चरणों में स्वयं को दासी रूप से अर्पण किया है। उनको तो भगवान् की अद्भुत अलकावली से घिरे हुए परम मनोहर मुखारविन्द की रूपमाधुरी का दर्शन करना ही दासीभाव से सेवा का पारिश्रमिक मिल जाना था।

(२) यहां सर्वप्रथम भगवान् के मुख का वर्णन करके उसकी चार विशेषताएं बताई गई हैं :

(क) मन्द हास्य के साथ निरीक्षण करने की प्रकृति। इससे उनकी नैसर्गिक कृपालुता का भाव प्रकट होता है।

(ख) कृष्ण केशपाश द्वारा मुखकमल का घिरना। यह अलौकिक सौन्दर्य को अभि-व्यक्त करता है।

(ग) कपोलों का कुण्डलों की कान्ति से मण्डित होना। सुवर्णकुण्डलों द्वारा ऐश्वर्य का अतिशय बताया गया है।

(घ) अधरपीयूष के द्वारा स्नेह का लबालब भरा रहना व्यक्त किया है।

ये चारों विशेषताएं किसी को भी उनका दास्यभाव स्वीकार करने की प्रेरणा दे सकती हैं। कृपालुता, सुन्दरता, ऐश्वर्यसम्पन्नता, और स्नेहपरिप्लुतता—चारों श्रीकृष्ण के आकर्षण को चतुर्गुण बढ़ा रहे हैं।

(३) भगवान् की भुजाओं को यहाँ द्वितीय स्थान दिया गया है। इसके दो आशय हैं :

(क) भुजाओं में प्रथम तो अभयदान की शक्ति है। जो भुजायें सामान्यरूप से समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करती हैं, उनका अपने भक्तों को तथा सेवकों को अभय देना तो परम स्वाभाविक होगा।

(ख) भुजाओं की शक्ति के द्वारा आलिंगन की पूर्ण क्षमता का भाव भी यहां छुपा है। इसके द्वारा कामादिभय से अभयदान कराना प्रकट होता है।

का स्त्यङ्ग ते कलपदायतमूर्छितेन
सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥४०॥

हे अङ्ग ! त्रिलोकी में ऐसी कौन-सी रमणी होगी जो तुम्हारे मधुर पद वाले विस्तृत मुरली के गान द्वारा मोहित होकर और तुम्हारे इन तीनों लोकों में सुन्दर रूप को देखकर अपने आर्यचरित्र से विचलित नहीं होगी। क्योंकि गौएं,

पक्षी, वृक्ष तथा हिरण भी तुम्हारी मुरली की ध्वनि सुनकर और रूपमाधुरी के दर्शन करके रोमाञ्चित हो जाते हैं।

(१) यहां स्त्रियों के श्रीकृष्ण के प्रति आकर्षण में दो कारण दिये हैं :

(क) वंशी की ध्वनि। इस ध्वनि में अत्यन्त मधुर शब्दों का सन्निवेश है। इसका विस्तार संगीतशास्त्र में मूर्च्छना के माध्यम से माना गया है। आयत शब्द का प्रयोग ध्वनि के आरोह तथा अवरोह के लिए किया गया है।

(ख) रूप की सुन्दरता।

(२) भगवान् की मुरली का नाद तथा सौन्दर्य का प्रभाव केवल मनुष्यों पर ही नहीं पड़ता था, बल्कि पशु-पक्षी तथा वृक्षादि भी इन दोनों के प्रभाव से पुलकित हो उठते थे।

(क) भगवान् की रूपमाधुरी इतनी विलक्षण थी कि स्वयं भगवान् भी अपनी सुन्दरता पर मुग्ध थे।[१]

(ख) ऐसी अद्भुत सौन्दर्यराशि पर जब पुरुष भी मोहित हो जाते थे तो स्त्रियों का आकर्षित होना अत्यन्त स्वाभाविक था।

(ग) गोपियां प्रथम तो मुरली की ध्वनि से खिंचकर भगवच्चरणों में पहुंचीं, फिर वहां रूपमाधुरी का दर्शन करके पूर्णरूप से विस्मृत हो उठीं।

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्त्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्त्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥४१॥

यह अत्यन्त स्पष्ट है कि जिस प्रकार आदिपुरुष देवता देवलोक के रक्षक हैं। उसी प्रकार आप व्रज के भय तथा दुःख को हरण करने वाले के रूप में उत्पन्न हुए हैं। इसलिए हे दीनबन्धु! आप अपने करकमल हम किंकरियों के प्रतप्त कुचयुगलों तथा मस्तकों पर स्थापित करो।

(१) इस श्लोक में गोपियां श्रीकृष्ण पर निम्नलिखित दोषारोपणपूर्वक अपनी कामना की पूर्त्ति का प्रयत्न कर रही हैं।

(क) हे श्रीकृष्ण! तुम्हारा प्राकट्य दो उद्देश्यों पर अवलम्बित है। (१) व्रजमण्डल के निवासियों की भय से मुक्ति करना, (२) व्रजमण्डल के निवासियों को दुःख से मुक्त करना। प्रथम उद्देश्य का संकेत कंस द्वारा प्रेरित राक्षसों के वध का निर्देश करता है और द्वितीय उद्देश्य का निर्देश प्रचण्ड मूसलाधार वृष्टि तथा दावानल की धधकती हुई ज्वालाओं-रूपी दुःख के शमन की

---

१. **यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।**
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥ श्रीमद्भागवतम्, ३, २, १२।

ओर है। यही कारण है कि तुमको 'व्रजभयार्तिहर' कहा जाता है। यदि तुमने हमारे मन को काम के भय से मुक्त नहीं किया तो तुम्हारे प्रति यह विशेषण निरर्थक होगा। साथ ही तुम्हारा भय तथा दुःख नाश करने का नियम भी भंग होगा।

(२) यहां गोपियों ने स्तनस्पर्श के लिए श्रीकृष्ण को दो कारणों का संकेत कराया है।

(क) प्रथम कारण : गोपाङ्गनाओं के हृदय भगवान् के प्रति शुद्ध प्रेम से लबालब भरे हुए सरोवरों के सर्वश्रेष्ठ उपमान थे। उनको यह भी पूर्णरूप से ज्ञात था कि श्रीकृष्ण के करस्पर्श के प्रभाव से उनके स्तनों की संतप्तता तत्काल शीतल हो जायगी। उष्ण वस्तु के स्पर्श द्वारा भगवान् के हाथों में दाह की आशंका का विचार करना सर्वथा निर्मूल है क्योंकि प्रेम के अतिशय का प्रतिनिधान करने वाली गोपियों को अपने सुख के हेतु अथवा अपने दुःख के निराकरण के हेतु भगवान् को किंचिन्मात्र भी दुःख पहुंचाना कदापि मान्य नहीं था।

(ख) द्वितीय कारण—दूसरा कारण 'आर्त्तबन्धो' सम्बोधन से निकलता है। यहां गोपियों का आशय है कि यदि तुम किसी भी अन्य भाव से हमारे स्तनों का स्पर्श करने में संकुचित हो तो तुम आर्त्तबन्धु होने के नाते उसी भाव से स्पर्श करो।

(३) स्वाभिमानसम्पन्न गोपियों के पक्ष में श्रीकृष्ण के प्रति अन्यार्थ की प्रतीति इस प्रकार होती है। हे तप्त=हे श्रीकृष्ण तुम्हारा मन कामाग्नि से दग्ध प्रतीत होता है। किन्तु तुम अपनी दासियों के भी मस्तक पर ही अपना हाथ स्थापित करने के योग्य हो। अतः भूलकर भी कहीं हमारे स्तनों को स्पर्श मत करना। यहां 'नो' पद निषेधार्थक स्वीकार करके इस अर्थ की कल्पना की गई है।

श्रीशुकदेव बोले

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥४२॥

योगेश्वरों के ईश्वर श्रीकृष्ण ने इस प्रकार उनके व्याकुलतापूर्ण वाग्विलास का श्रवण करके, स्वयं आत्माराम होकर भी परिहासपूर्वक दया के साथ रमण किया।

(१) श्रीकृष्ण के रमण की दो विशेषताएं थीं :

(क) पहली विशेषता 'योगेश्वरेश्वर' पद से प्रकट होती है। योगपरम्परा के अनुसार एक परम योगी कायव्यूह प्रणाली का आश्रय लेकर अनेक रूप एक साथ प्रकट कर सकता है। श्रीकृष्ण ने भी अनेकानेक रूप धारण करके असंख्यात गोपियों के साथ रमण किया था।

(ख) दूसरी विशेषता 'प्रहस्य' शब्द से प्रकट होती है। हस् धातु के दो अर्थ होते हैं। (१) हँसना, (२) परिहास करना। धातु के अकर्मक होने पर प्रथम अर्थ की संगति होती है, और सकर्मक होने पर द्वितीय अर्थ की कल्पना।

(अ) उन्होंने गोपियों को यह बोध कराया कि तुम सदा मेरे साथ परिहास करती रही हो किन्तु मेरे जरा से परिहास ने तुम्हें विचलित कर दिया।

(ब) रमणकाल में भगवान् का मुखारविन्द दिव्य मन्दस्मित से मण्डित था। 'सदयं' पद से यह अर्थ निकलता है कि उनका मन गोपियों की व्याकुलता भरी वाणी सुनकर दया से ओतप्रोत हो गया था। फलतः उन्होंने मन्द हास्य के साथ स्वयं ही गोपियों के साथ रमण प्रारम्भ किया।

(२) यहां एक प्रश्न होता है कि भगवान् तो आत्माराम थे। केवल आत्मा में ही रमण करते थे फिर उन्होंने गोपियों के साथ रमण करने की इच्छा क्यों की। तो इसका उत्तर है कि हरि के गुणों से आकृष्ट होकर जैसे आत्माराम मुनिगण श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी में रमण करते हैं,[1] उसी प्रकार गोपियों के गुणों से आकृष्ट होकर भगवान् ने रमण प्रारम्भ किया।

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ॥४३॥

प्रिय श्रीकृष्ण के दर्शन से खिले हुए मुख वाली गोपाङ्गनाओं से घिरे हुए, उदार लीलाओं से सम्पन्न, कुन्द पुष्प की किरणों के सदृश उदार हास्य तथा दन्त-पंक्ति वाले अच्युत उसी प्रकार शोभित हुए जिस प्रकार तारागणों से समावृत चन्द्रमा शोभित होता है।

(१) यहां श्रीकृष्ण की चार विशेषताएं हैं :—

(क) श्रीकृष्ण उन गोपियों के यूथों से घिरे हुए थे जिनके मुखकमल कृष्णदर्शन से विकसित थे। यहां 'समेताभिः' का अर्थ है कि ये श्रीकृष्ण द्वारा मुरली की ध्वनि से बुलाई गई थीं।

(ख) श्रीकृष्ण की चेष्टाएं अत्यन्त उदार थीं। यहां चेष्टा का अर्थ लीला है और उदार का अर्थ सर्वोत्कृष्ट तथा परम आनन्ददायक है। इस प्रसंग की लीलाएं रमणरति से सम्बद्ध होती हैं, जिनमें हाव-भाव, कटाक्ष, स्मितपूर्वक निरीक्षण, हस्तस्पर्श, पुष्पार्पण आदि का समावेश होता है।

(ग) उनके मन्दस्मित तथा दन्तपंक्ति से कुन्द पुष्प के सदृश धवलातिधवल किरणें निकल रही थीं।

(घ) श्रीकृष्ण अच्युत थे। अच्युत शब्द के प्रयोग द्वारा ग्रन्थकार के दो आशय ध्वनित होते हैं :

(अ) जो कभी भी च्युत नहीं होता। इस व्युत्पत्ति के अनुसार शतकोटियूथ गोपियों के साथ विहार करके भी श्रीकृष्ण की अच्युतभावनिष्ठता प्रकट की गई है।

(ब) यद्यपि श्रीकृष्ण का व्यक्तरूप कृष्णावतार में है तथापि इस पद द्वारा उनके अव्यक्त रूप की अखण्ड एकरस स्थिति का संकेत किया है। जहाँ से वे कभी भी च्युत नहीं होते।

---

१. **आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।**
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः। श्रीमद्भागवत महापुराण, १, ७, १०

(२) प्रियेक्षण। इसके दो अर्थ संभव हैं :—

(क) श्रीकृष्ण को देखने के कारण गोपियों के मुख खिल गये थे।

(ख) श्रीकृष्ण कभी-कभी गोपियों की तरफ देख लेते हैं। यह श्रीकृष्ण का निरीक्षण ही गोपियों के मुखकमल के विकास का हेतु बना था।

(३) जिस प्रकार चन्द्रमा में नैसर्गिक सौन्दर्य की छटा रहने पर भी विशेष सौन्दर्य का उदय केवल राका की रजनी में तारागण से घिरे हुए चन्द्रबिम्ब में ही होता है, जब सुधांशुमण्डल पर मृगचिह्न स्पष्ट परिलक्षित होता है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण की रूपसुधामाधुरी अपनी नैसर्गिक विच्छित्ति में स्वयं अद्वितीय होने पर भी गोपियों के मण्डल द्वारा घिरने पर लोकोत्तर चमत्कार से विलक्षण हो रही थी।

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन्वनम् ॥४४॥

सैकड़ों स्त्रियों के यूथ के रक्षक श्रीकृष्ण उच्च स्वर से गान करते हुए और गोपबालाओं द्वारा गाये जाते हुए, वैजयन्ती माला को धारण किये हुए, वन को मण्डित करते हुए, विचरण करने लगे।

(१) (क) इस श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि रासलीला में गोपियों के सैकड़ों यूथ थे। एक-एक कोटि की गोपियों का एक-एक यूथ में विभाजन किया गया था।

(ख) श्रीकृष्ण उच्च स्वर से अपनी श्रुतिमधुर गानलहरी के प्रयोग में तन्मय थे और गोपियों के झुण्ड-के-झुण्ड अपनी मधुर ध्वनि के मिश्रण द्वारा उस संगीत की मधुरिमा को बढ़ा रहे थे।

(२) भगवान् ने अनेक प्रकार के अलंकारों को धारण कर रखा था। भगवान् के शृंगार के विषय में हमें श्रीमद्भागवत में निम्नलिखित वर्णन प्राप्त होता है,। वे मस्तक पर मयूरपिच्छ, कानों में कर्णिकार के फूल, सुवर्णतुल्य पीतवर्ण का पीताम्बर, तथा वैजयन्ती माला धारण करते हैं।[१] श्यामवर्ण के कलेवर पर सुवर्णतुल्य पीताम्बर, वनमाला, मयूरपिच्छ तथा अभिनव अंकुरों से अलंकृत श्रीकृष्ण कानों में कमल के कुण्डल, कपोलों पर अलकावली से शोभित होते हुए एक हाथ से कमल का पुष्प नचाते हैं।[२]

---

१. **बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं**
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्। श्रीमद्भागवतम्, १०, २१, ५।

२. **श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्हधातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।**
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्।
श्रीमद्भागवतम्, १०, २३, २२।

किन्तु यहां केवल वैजयन्ती माला[1] का विशेष उल्लेख निम्नलिखित दो अभिप्राय प्रकट करता है।

(क) वृन्दावन में भगवान् के रासविहार के लिए गोपियों ने स्वयं अपने हाथों से इस माला को गूंथ कर भगवान् को पहिनाया था।

(ख) योगमाया ने अपनी अचिन्त्य प्रभावशक्ति से वृन्दावन के प्रत्येक कुंज में वजयन्ती मालाओं को गूंथ कर रख दिया था। उन्हीं में से एक माला भगवान् ने धारण कर रखी थी।

(३) यहां श्रीकृष्ण अपने सौन्दर्य की सुषमा द्वारा तथा संगीत की नादध्वनि द्वारा गोपियों के भाव को उद्दीपित करते हुए कालिन्दी के सैकतपुलिन पर विचरण करते हुए चित्रित किये गये हैं।

(४) परमहंसों को यह अर्थ बताया गया है कि साधक के मन की प्रत्येक वृत्ति जब श्रीकृष्ण के रूपचिंतन में तन्मय हो जाती है और असंख्यात वृत्तियां श्रीकृष्ण के स्वरूप में एकरस होकर ढल जाती हैं, तो भगवान् स्वयं साधक को अपनी तरफ खींच कर आत्मसात् कर लेते हैं।

---

१. **वैजयन्ती माला अथवा वनमाला के सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित तीन व्याख्याएं प्राप्त होती हैं।**

(क) यह माला तुलसी (*Ocimum sanctum*), कुन्द (*Gasminum pubescens*), मन्दार (*Calotropis procera*), पारिजात (*Nyctanthes arbostristia*), सरोरुह (*Nelumbium speciosum*) इन पांच प्रकार के पुष्पों से गूँथी जाती है।

"तुलसीकुन्दमन्दारपारिजातसरोरुहैः। पञ्चभिः पुष्पैरेतैर्वनमाला प्रकीर्त्तिता।"

श्रीमद्भागवत, रामकृष्णकृत-प्रेममञ्जरीटीका में उद्धृत, १०, २१, ५।

(ख) गदाधर भगवान् विष्णु की वैजयन्ती माला पञ्चरूपा कहलाती है। ये पाँच रूप इस माला को टीकाकारों के अनुसार मुक्ता, माणिक्य, मरकत, इन्द्रनील तथा हीरक के संयोग से प्राप्त होते हैं। इन पाँचों रूपों को ही पञ्चतन्मात्रा, तथा पञ्चमहाभूतों का प्रतिनिधान करने वाला संघात स्वीकार किया गया है।

"पञ्चरूपा तु या माला वैजयन्ती गदाभृतः। सा भूतहेतुसङ्घाता भूतमाला च वै द्विजः।"

विष्णुपुराण, १, २२, ७२।

(ग) वनमाला का गुम्फन समस्त ऋतुकुसुमों से होता था और इसके मध्य में स्थूल कदम्ब के पुष्प लटकाए जाते थे। इस प्रकार की वनमाला जानुपर्यन्त लम्बी बनाई जाती थी।

"आजानुलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला। मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्तिता।"

हलायुध कोष, विवृतिव्याख्या में उद्धृत।

(घ) समुद्रमन्थन के अवसर पर ऐसी वैजयन्ती माला वरुण द्वारा भगवान् को अर्पित की गई थी जिसकी मधुमय सुगन्ध से भ्रमर उन्मत्त हो रहे थे।

"वरुणः स्रजं वैजयन्तीं मधुना मत्तषटपदाम्।" श्रीमद्भागवत महापुराण, ८, ८, १५।

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम् ।
रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना ॥४५॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण गोपियों के साथ कालिन्दी के कर्पूरतुल्य सिकता वाले पुलिन पर बैठकर, यमुना की तरङ्गों द्वारा आनन्ददायी तथा कुमुद की गन्ध से युक्त पवन द्वारा रमण करने लगे।

(१) यहां यमुनातट की बालुका की तुलना कर्पूर के कणों के साथ की गई है। हिम-बालुक का अर्थ कपूर है। इससे बालुका की कर्पूरतुल्य शीतलता अभिव्यक्त होती है।

(२) पवन की तीन विशेषताएं हैं :—

(क) मन्दता। इस समय मन्द-मन्द पवन चल रहा था क्योंकि श्रीकृष्ण इसके सेवन के कारण आनन्द-विभोर थे। केवल मन्द पवन ही आनन्दप्रद होता है।

(ख) शीतलता। यमुना की शीतल वीचियों द्वारा आनन्द का हेतु होने के कारण पवन अपनी शीतल वृत्ति को प्रकट करता है।

(ग) सुगन्धयुक्तता। कुमुद के पुष्पों के विकास के कारण पवन के प्रवाह से गन्ध के पुंज के पुंज उड़े चले जा रहे थे।

(३) परमहंसों के पक्ष में यह अर्थ निकलता है कि भगवत्सन्निधि प्राप्त होते ही साधक के त्रिविध ताप तत्काल शान्त हो जाते हैं और अद्भुत शीतलतामयी शान्ति का साम्राज्य प्रकट होता है।

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥४६॥

हाथ फैलाकर आलिंगन करने के द्वारा, कर, केश जंघा, नीवी, तथा कुच-स्पर्श के द्वारा, विनोदप्रधान वाग्विलास तथा नखक्षत के द्वारा, क्रीड़ामय सकटाक्ष निरीक्षण तथा हास्य के द्वारा व्रजसुन्दरियों के काम को उद्दीपित करते हुए श्रीकृष्ण उनको रमण कराने लगे।

(१) हाथ फैलाकर आलिंगन करने की क्रिया द्वारा भगवान् की रमणलीला में उनका स्वयं अपना प्रयोजक भाव प्रकट होता है। यहां स्वयं हाथ बढ़ाकर अपने से दूर स्थित गोपी के स्पर्श करने का अभिप्राय है। साथ ही हाथ फैला कर आश्लेष की क्रिया द्वारा गाढ़ालिंगन का भाव व्यक्त होता है।

(२) करस्पर्श द्वारा अपने हाथ से गोपियों के हाथ का स्पर्श करना बताया गया है।

(३) जिन गोपियों के मुखचन्द्र श्याम वर्ण की सुन्दर अलकावली से ढके हुए थे, उनको

हटाने के उद्देश्य से अलकस्पर्श का निर्देश है। इसी प्रकार भगवान् की अन्यान्य क्रियाएं व्रजाङ्गनाओं के शुद्ध प्रेम को उद्दीपित कर रही थीं।

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥४७॥

इस प्रकार महान् आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण से मान प्राप्त होने के अनन्तर मानवती गोपियों ने अपने को पृथ्वी में सबसे बढ़कर समझा।

(१) मान के दो अर्थ होते हैं।

(क) जब श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ इस प्रकार विशुद्ध भावलीला प्रारंभ की तो गोपियों के हृदय प्रणय के मान से गर्वीले हो उठे। प्रत्येक गोपी अपने मन में यही विचार करने लगी कि उसके सदृश भाग्यशालिनी स्त्री सम्पूर्ण भूमण्डल में कोई अन्य नहीं है। उनके मान का प्रधान कारण श्रीकृष्ण जैसे नायक की सन्निधि था, जो सामान्य स्त्रियों को साधारणतया नायक रूप से नहीं प्राप्त हो सकता।

(ख) जब नायक और नायिका परस्पर आलिंगन तथा निरीक्षण का बाह्य निराकरण करते हैं तो इस क्रिया को भी मान कहा जाता है।[१] यह मान प्रणयप्रधान होता है।

(२) परमहंसों को यह प्रतीति कराई गई है कि साधना के पथ पर भगवत्प्राप्ति के पूर्व जो अनुभव होते हैं उनसे कभी भी अभिमान का उदय मन में नहीं होना चाहिए। किसी भी प्रकार के अनुष्ठान का, जप का, तप का तथा योग का जब तक अभिमान रहता है, तब तक भगवत्प्राप्ति नहीं होती। मान के प्रकट होते ही भगवान् दूर चले जाते हैं। यही स्पष्ट करने के लिए गोपियों के मन में मान का दृष्टान्त दिया गया है।

तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानञ्च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥४८॥

उन गोपियों के सौभाग्यमद तथा प्रणयमान को देखकर केशव उसके मद के शमन करने के हेतु और उन पर अनुकम्पा करने लिए वहीं पर अन्तर्धान हो गये।

(१) इस श्लोक में भगवान् के अन्तर्धान होने में तीन कारण बनाये गये हैं :—

(क) गोपियों के मन में भगवत्सन्निधि के कारण अपने लोकोत्तर सौभाग्य का मद उत्पन्न हो गया था। असंख्यात गोपियों के मन से मदात्मक मान की एक साथ निराकृति का सबसे अच्छा उपाय भगवान् का अन्तर्हित होना था।

(ख) गोपियों के मन में उत्पन्न होने वाले गर्व का भगवान् को ज्ञान था। साथ ही वे यह भी जानते थे कि इस उत्तरोत्तर विकासोन्मुख गर्व से गोपियों को मेरी प्राप्त असंभव हो

---

१. **'स्वाभीष्टाश्लेषवीक्षादिनिरोधी मान उच्यते।'** उज्ज्वलनीलमणि, शृंगारभेद, ६८।

जायगी। इस गर्व के ह्रास करने का एकमात्र उपाय उनकी तरफ उपेक्षावृत्ति द्वारा ही संभव था। उपेक्षावृत्ति का सर्वश्रेष्ठ प्रकार भगवान् के अन्तर्धान होने से ही हो सकता था।

(ग) भगवान् के अन्तर्ध्यान होने का एक अभिप्राय यह भी प्रतीत होता है कि कामदेव पर विजय की घोषणा करना।[1]

(२) परमहंसों को यह अर्थ बताया गया है कि ईश्वर का निवास हृदय में माना जाता है।[2] वहां मद के प्रकट होते ही भगवान् अन्तर्हित हो जाते हैं।

(३) केशव पद की तीन व्युत्पत्तियां शास्त्रों में मिलती हैं।

(क) 'क' का अर्थ ब्रह्मा है और ईश का महेश्वर है। 'वं' का अर्थ अमृत है। ब्रह्मा तथा महेश्वर को जिसके द्वारा अमृत की प्राप्ति होती है, उसे केशव कहते हैं।[3]

(ख) महाभारत में केशव की यह व्युत्पत्ति बताई गई है कि प्रकाशित होने वाली किरणों को केश कहा जाता है। इसलिए सर्वज्ञ मुनिजन श्रीकृष्ण को केशव कहते हैं।[4]

(ग) विष्णुपुराण में उपलब्ध परिभाषापरक व्याख्या के अनुसार केशी का वध करने के कारण श्रीकृष्ण को केशव संज्ञा प्राप्त हुई है।[5]

---

१. लोलिम्बराज के वर्णन के अनुसार श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने का आशय था, गोपियों के परम प्रेम की वास्तविकता की परीक्षा करना।

"आसामपि प्रेमपरं किमात्मनि मनोऽधिनाथेऽप्यविबोद्धुकामः।
मायामनुष्यः सहसा तदक्ष्णामगोचरो गोकुलपालकोऽभूत्।" हरिविलास, २, १४।

२. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। गीता, १८, ६१।

३. केशवः—कश्च ईशश्च केशौ, तयोः वं अमृतं यस्मात्स केशवः।

४. "अशवो ये प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः। सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः।"
महाभारत, शान्तिपर्व, ३४२, ४८–४९।

५. "यस्मात्त्वयैष दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दन। तस्मात्केशवनाम्ना त्वं लोके ख्यातो भविष्यसि।"
विष्णुपुराण, ५, १६, २३।

दूसरा अध्याय

श्रीशुकदेव बोले

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः ।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥१॥

नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अकस्मात् अन्तर्धान हो जाने पर व्रज की ललनाएं भगवान् को नहीं देखती हुई उसी प्रकार उनके विरहसंताप में संतप्त हुईं जिस प्रकार हथिनियां गजयूथपति के दर्शन के अभाव में व्याकुल होती हैं।

(१) श्रीशुकदेव ने जब परमकारुण्यनिधि भगवान् के अन्तर्धान होने का वर्णन किया तो उनका अन्तःकरण करुणा से आप्लावित हो गया और वे कुछ क्षण तक स्तब्ध हो गये। उनका कंठ अवरुद्ध हो गया और इस प्रकार रासपंचाध्यायी का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ। यही कारण है कि यहां कथा की अजस्र धारा का विच्छेद प्रतीत होता है। द्वितीय अध्याय में भगवान् के अन्तर्धान होने से व्रजमण्डल की जो दशा हुई, उसका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम उन्होंने भगवान् की सखियों के संताप का वर्णन आरंभ किया। क्योंकि इनका हृदय भगवान् में पूर्णतया आसक्त था। इसलिए अपने प्रियतम को नहीं देख कर सबसे अधिक संताप इन्हीं को हुआ।

(२) भगवान् समग्र ऐश्वर्य से सम्पन्न थे। परम स्नेह, आनन्द तथा अनुकम्पा के महार्णव थे। उनका दर्शन-वियोग प्राप्त करके यदि गोपसुन्दरियों को इस प्रकार का संताप हो तो क्या आश्चर्य है?

(३) यदि किसी धनहीन व्यक्ति को सार्वभौम सम्पत्ति प्राप्त हो जाय तो उसके विनाश होने पर उसको जैसी अन्तर्व्यथा होती है, वही स्थिति गोपियों की हुई क्योंकि उनके मन तो भगवान् की सौन्दर्यरसमाधुरी में बाल्यावस्था से ही डूबे हुए थे।

(४) अन्तर्हिते। इसका यह भी अर्थ होता है कि भगवान् गोपियों के अन्तःकरण में जाकर छिप गये।[1] इधर जब गोपियों ने भगवान् को बाहर नहीं देखा तो बड़ी संतप्त हुईं। यह अर्थ प्रकट करता है कि गोपियों की बहिर्मुखी वृत्ति पूर्णरूप से अन्तर्मुखी नहीं हुई थी। उनका प्रेम तो भगवान् का दर्शन और स्पर्श करने का इच्छुक था।

(५) हथिनियों का दृष्टान्त यहां अत्यन्त उपयुक्त है। मत्त गजराज के वियोग से हथिनी को जितनी तीव्र वेदना होती है उतनी किसी को नहीं होती। इसी अभिप्राय से गोपबालाओं का भगवान् के वियोग में यह दृष्टान्त युक्तिसंगत है।

---

१. अन्तः गोपीनाम् अन्तःकरणे स्थिते सति।

(६) सहसैव। यह पद बताता है कि भगवान् किस प्रकार किस स्थान पर अन्तर्धान हुए, इस रहस्य को कोई नहीं जान सका। यही आकस्मिक रहस्यात्मक अन्तर्धान विशेष संताप का कारण बना।

(७) जब श्रीशुकदेव को यह भान हुआ कि भगवान् सर्वाधिक सौभाग्यशालिनी श्रीराधा को साथ लेकर अन्तर्धान हुए हैं, तो उनका हृदय शान्त हुआ और वे आगे कथा का वर्णन करने लगे।

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥२॥

गोपसुन्दरियों के हृदय भगवान् की ललित गति से, अनुरागपूर्ण मन्द-मन्द हास्य से, भ्रूसंचालन के साथ प्रेमपूर्ण निरीक्षण से, मन के प्रिय आलाप से, अन्यान्य लीलाविलास तथा भावभङ्गियों से खिचकर भगवान् में जम गये थे। श्रीकृष्ण में तन्मय होकर उन्होंने उनकी भिन्न-भिन्न चेष्टाओं का अनुकरण करना आरम्भ किया।

(१) 'विभ्रम' पद इस श्लोक में दो बार आया है। प्रथम विभ्रम का अर्थ है भ्रू-संचालनकारिणी मधुर चेष्टा। तो द्वितीय विभ्रम का अभिप्राय है शृंगार रस का एक विशेष भाव। जिस भाव में शृंगार रस की प्रचुरता के कारण चित्त की वृत्ति स्थिर नहीं रहती।[1]

(२) गति, अनुराग, स्मित, ईक्षण तथा मनोरम आलाप आदि पदसे यह भाव प्रकट होता है कि गोपियों के अन्तःकरण भगवान् की शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक चेष्टाओं में बंध गये थे।

(क) शारीरिक। गति-ईक्षण-स्मित।

(ख) मानसिक। अनुराग-विभ्रम-चित्तवृत्ति की अस्थिरता।

(ग) वाचिक। आलाप।

(३) रमापति पद का भगवान् के अर्थ में प्रयोग यहां साभिप्राय है। रमापति शब्द के दो अर्थ होते हैं :—

(क) रूप, माधुर्य, ऐश्वर्य, और सम्पत्ति—इन सब के स्वामी।

(ख) श्रीराधा के पति।

प्रथम अर्थ में भगवान् की सर्वगुणातिशायिता सूचित होती है। द्वितीय अर्थ में श्रीराधा के साथ निकट भविष्य में होने वाले विहार की सूचना प्राप्त होती है।

(४) तास्ताः। यह भगवान् की उन चेष्टाओं का संकेत करता है जिनका वर्णन रास-पंचाध्यायी के प्रथम अध्याय के ४६वें श्लोक में विस्तार से किया गया है।

(५) यदि कहा जाय कि गोपियां तो भगवान् की दासीस्वरूपा थीं। सेविकाओं द्वारा

---

१. **चित्तवृत्त्यनवस्थानं शृंगाराद्विभ्रमो भवेत्।** हलायुध कोष की विवृति व्याख्या में उद्धृत।

स्वामी की चेष्टाओं का अनुकरण करना कहां तक विचारसंगत है ? इसका उत्तर 'तदात्मिकाः' पद से दिया गया है। इस पद के तीन अर्थ हैं।

(क) गोपियों ने भगवद्ध्यान से भगवान् के साथ अभेद प्राप्त कर लिया था और अभेद होने पर लीलाओं का अनुकरण असंगत नहीं होता।

(ख) भगवान् स्वयं उनकी आत्मा में प्रकट हो गये थे।[1] अतः भगवान् की अन्तःउपस्थिति के कारण चेष्टानुकरण असंगत नहीं रहता।

(ग) गोपियों तथा भगवान् के पारस्परिक अत्यन्त प्रगाढ़ प्रेम के कारण गोपियों के हृदय में अभेदभाव का अभिमान प्रकट था।

(६) प्रमदाः। इस पद का यदि प्रकृष्ट मदयुक्त गोपियां[2] यह अर्थ स्वीकार करें तो मानिनी गोपियों के पक्ष का भाव प्रकट होता है। गोपियों का यह भाव है कि यदि तुम अन्तर्धान होते हो तो हो जाओ। हम भी तुम्हारी हैं और तुम्हारी उन-उन चेष्टाओं को करने की सामर्थ्य रखती हैं। इसी भाव से उन्होंने चेष्टाओं का अनुकरण आरंभ किया।

(७) गत्या पद से भगवान् के उन चरणविन्यास की ओर संकेत है जिनमें स्वाभाविक नूपुरों की ध्वनि झंकृत हो रही थी।

(८) 'मनोरम' पद के दो अर्थ हैं :

(क) जो मन को आह्लादित करता है।[3]

(ख) जो मन में रमण करता है।[4]

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्त्तयः।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥३॥

प्रियतम श्रीकृष्ण की ललित गति, मधुर हास्य, निरीक्षण तथा वचनविन्यास से श्रीकृष्ण की प्रिय व्रजाङ्गनाओं में श्रीकृष्ण का भाव प्रकट हो गया। वे भगवान् के तुल्य क्रीड़ा तथा विलास करने लगीं और मैं तो स्वयं श्रीकृष्ण हूं, इस प्रकार परस्पर कहने लगीं।

(१) भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करने से गोपियों के शरीर में वैसी ही चेष्टाओं का प्रादुर्भाव हो गया था और वे उन्मादिनी होकर श्रीकृष्ण के स्वरूप में ढल गई थीं।

(२) अबलाः। गोपियों के लिए अबला विशेषण यह भाव प्रकट करता है कि गोपियों द्वारा भगवान् की स्त्रियों के योग्य चेष्टाओं का ही अनुकरण हुआ था। उदाहरण के लिए विभ्रम के साथ देखना, अत्यन्त मधुर अमृततुल्य वाक्य करना, मन्द-मन्द हँसना, और मन्थर गति से चलना।

---

१. स भगवान् श्रीकृष्णः यासाम् आत्मनि आविर्भूतः ताः तदात्मिकाः।

२. प्रकृष्टो मदः यासां ताः प्रमदाः।

३. मनो रमयति।

४. यः मनसि रमते।

(३) प्रतिरूढ़मूर्तयः। इस पद का अर्थ है कि गोपियों के शरीर श्रीकृष्ण के सदृश हो रहे थे। यदि यहां मूर्त्ति पद का देह अर्थ किया जाय तो यह भाव प्रकट होगा कि गोपियों की इन्द्रियां तथा शरीर दोनों अन्दर तथा बाहर श्रीकृष्णमय हो रहे थे। इस समय गोपियों ने समस्त भगवद्धर्मों का अपने में आरोप कर लिया था। किन्तु यह आरोप सर्वथा मानसिक था। इतना बल उनमें नहीं था कि एक नट के समान उनकी अनुकृति वेशविन्यास द्वारा करतीं। अतः यही भाव निकलता है कि गोपियों के मन पर भगवान् की लीलाओं के अनुकरण द्वारा भगवद्वत्ति का आवेश प्रकट हो गया था।

(४) कृष्णविहारविभ्रमाः। श्यामसुन्दर के तुल्य ही इस समय गोपसुन्दरियों का विहार था। उनका विलास भी श्रीकृष्ण के सदृश था। अर्थात् गोपियां श्रीकृष्ण के तुल्य विलास तथा विहार करने लगीं और परस्पर यह कहने लगीं, हे सखियो! मैं ही श्रीकृष्ण हूं। जिस विहार की कामना तुम्हारे मन में प्रकट है उसकी निवृत्ति के लिए मैं उपस्थित हूं। इस प्रकार इसकी दो व्याख्या बनती हैं।

(क) श्रीकृष्ण के विहार के समान ही उनकी क्रीड़ा थी।[१]

(ख) श्रीकृष्ण के विहार के स्मरणमात्र से उनमें एक विशेष उन्माद प्रकट हो गया था।[२]

(५) प्रियस्य प्रियाः। भगवान् के लिए प्रिय तथा गोपियों के लिए प्रिया शब्द का प्रयोग यह भाव बताता है कि जिस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम में डूबी हुई गोपियां परमप्रेममयी थीं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी उनको अपना परम स्नेह दिया था।

(६) इस श्लोक में लीला नाम का अनुभाव है। श्रीरूपगोस्वामी ने उज्ज्वलनीलमणि में इसका यह लक्षण किया है कि जब स्त्रियां वेश तथा क्रिया द्वारा अपने प्रियतम की चेष्टा का अनुकरण करती हैं तो उसे लीला अनुभाव कहते हैं।[३]

(७) इस श्लोक में यह बताया गया है कि गोपियों ने मन से भगवान् के स्वरूप का परिग्रह ग्रहण कर लिया था।

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥४॥

तत्पश्चात् वे सब मिलकर उच्चस्वर से श्रीकृष्ण का गान करती हुई उन्मत्त की भांति इस वन से उस वन में उन्हें ढूंढने लगीं। जिस प्रकार आकाश समस्त भूतों में अन्दर तथा बाहर व्याप्त रहता है उसी प्रकार व्याप्त रहने वाले भगवान् के सम्बन्ध में वन के वृक्षों को पूछने लगीं।

---

१. **कृष्णस्य विहार इव विभ्रमाः क्रीडाः यासां ताः।**

२. **कृष्णस्य स्मर्यमाणैः विहारैः विभ्रमः उन्मादः यासां ताः।**

३. **प्रियानुकरणं लीलारम्यैर्वेशक्रियादिभिः।** उज्ज्वलनीलमणि, अनुभाव, २४।

(१) तृतीय श्लोक में गोपियों में श्रीकृष्ण का भाव उदय हुआ था। किन्तु यह भाव स्थिर नहीं रहा। जब उनको अपनी दशा का यथार्थ ज्ञान हुआ कि वे श्रीकृष्ण नहीं हैं तो उनके मन में एक प्रकार का उन्माद हो गया। उसी उन्माद की अवस्था में वे भगवान् के सम्बन्ध में वृक्षों को एक वन से दूसरे वन में पूछने लगीं।

(२) उच्चैः। इस पद के तीन अर्थ हैं :

(क) श्रीकृष्ण को गोपियों के गीत अत्यन्त प्रिय थे। अतः वे उच्च स्वर से गाकर उनको आकर्षित करने लगीं।

(ख) श्रीकृष्ण तो दया के सागर हैं। ऊंचे स्वर से गाकर गोपियां उन्हें अपनी अत्यन्त दुःखित दशा का बोध कराना चाहती हैं।

(ग) जब कोई प्राणी दुःख की सीमा का उल्लंघन कर लेता है, तो दुःख के आवेग के कारण उसका स्वर अत्यन्त तीव्र हो जाता है। इसीलिए गोपियां भी स्वभावतः ऊंचे स्वर से गा रही थीं।

(३) अमुमेव। गोपियों के गान के विषय भी भगवान् ही थे। इसका आशय है कि भगवान् द्वारा सतिरस्कार परित्यक्ता गोपियों का उन्हीं को गाना गोपियों के हृदय में भगवान् के प्रति परम अनुराग का भाव प्रकट करता है। वास्तव में जो स्त्रियां अपने प्रियतमों से अत्यधिक प्रेम करती हैं, वे कभी भी उनके दोषों को नहीं देखतीं। उनकी प्रेम में सनी हुई दृष्टि तो सदा प्रियतम के गुणों पर जमी रहती है।

(४) विचिक्युः, पप्रच्छुः। इस श्लोक में दो क्रियाओं का प्रयोग विशेष अभिप्राय को बताता है। प्रथम क्रिया बताती है कि गोपियां गाने के साथ-साथ अपने प्रियतम को ढूंढ रही थीं। दूसरी क्रिया बताती है कि वे ढूंढते-ढूंढते बीच-बीच में कुछ पूछती जाती थीं। इस प्रकार गाना, ढूंढना, तथा वनस्पतियों से पूछना तीनों कार्यों की एक साथ सत्ता यह बताती है कि उनका मन उन्मादग्रस्त था।

(५) उन्मत्तक। (क) यहां उन्मत्त शब्द के आगे स्वार्थ में क प्रत्यय लगाने से उन्मत्तक शब्द की निष्पत्ति होती है। इससे यह अभिव्यंजना होती है कि उन्मत्त की भांति गोपियों ने अपने केशकलापादि ढीले कर लिये थे।

(ख) इसी भाव को प्रकट करने के अभिप्राय से यहां 'वनस्पतीन्' पद रखा गया है। वनस्पति में तो उत्तरप्रदान की शक्ति नहीं होती। उन्हीं से पूछना गोपियों की उन्मत्त स्थिति का बोध करता है।

(६) आकाशवदन्तरम्। (क) यद्यपि गोपियों को यह ज्ञान था कि श्रीकृष्ण सर्व-व्यापक हैं। आकाश की भांति समस्त प्राणिमात्र के अन्दर तथा बाहर रहते हैं। फिर भी वृक्षों से उनका पता पूछने का अभिप्राय यही था कि गोपियों को भगवान् का सर्वव्यापक रूप अभीष्ट नहीं था। बल्कि उन्हें तो उनका वही जलधरसदृश वर्ण वाले, मोरमुकुट धारण करने वाले त्रिभुवन-कमनीय सुन्दर शरीर का दर्शन अभीष्ट था।

(ख) गोपियों के हृदय में भगवान् के प्रति प्रबल प्रेम के कारण यह स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि वे प्रत्येक वस्तु को श्रीकृष्णमय देखने लगीं थीं। किसी भी वस्तु पर, चाहे वह वस्तु सन्निकृष्ट हो अथवा विप्रकृष्ट, दृष्टि पड़ते ही उनको उस वस्तु में श्रीकृष्ण के ही दर्शन होते थे।

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः ।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥५॥

हे अश्वत्थ ! हे प्लक्ष ! हे बट ! क्या तुमने उन नन्दनन्दन को कहीं देखा है जो अपनी अनुराग तथा हास्य से ओतप्रोत दृष्टि हारा हमारा मन हरण करके कहीं चले गये हैं ।

(१) मनः हृत्वा । वृक्षों से श्रीकृष्ण का पता पूछने का आशय था कि वे गोपियों के मन हरण करके चले गये थे ।

(२) नन्दसूनुः । इस विशेषण का साभिप्राय प्रयोग है । वे नन्द के पुत्र थे । नन्द व्रज-मण्डल के स्वामी थे । उनके पुत्र से किसी भी प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक भय की आशंका नहीं थी । यही श्रीकृष्ण के प्रति व्रजांगनाओं के अटूट विश्वास का कारण था । किन्तु उनके विश्वास की नींव हिल गई जब श्रीकृष्ण उनके मन को हरण करके चले गये ।

(३) वनस्पतियों से श्रीकृष्ण का पता पूछने के उपक्रम में गोपियों ने सबसे पहले तीन वृक्षों के नाम लिए ।

(क) **अश्वत्थ** (*Ficus religiosa*) । जब किसी को कोई नाम ग्रहण करके बुलाता है तो उसका उसके प्रति नैसर्गिक स्नेहभाव प्रकट होता है । किन्तु जब अश्वत्थ ने कोई उत्तर नहीं दिया, किसी भी प्रकार उसके पत्रादि में भी कोई कम्प नहीं हुआ तो उन्होंने दूसरे वृक्ष को पूछा । सर्वप्रथम अश्वत्थ से प्रश्न पूछने का प्रधान कारण यह था कि अश्वत्थ को विष्णु की विभूति के रूप में स्वीकार किया गया है । इसकी वैष्णवता के कारण ही प्रथम प्रश्न पूछा गया था ।[१]

(ख) **प्लक्ष** (*Ficus infectoria*) । यदि प्लक्ष का यहां अर्थ किया जाय कि जो केवल दूसरे प्राणियों के उपकार के भाव से तीर्थ स्थान में निवास करता है[२] तो गोपियों का द्वितीय नामग्रहण सार्थक हो जाता है कि हे प्लक्ष ! तुम्हारा जन्म तो नाम से ही केवल परोपकार के लिए हुआ है । क्या तुमने कहीं श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण को देखा है ? इसके भी निरुत्तर रहने पर तीसरे वृक्ष को पूछती हैं ।

---

१. **अश्वत्थो हि वैष्णवो वृक्षः । विष्णुवल्लोके सम्मानमर्हति ।** सुबोधिनी ।
श्रीमद्भागवतम् पृ० ११०४, सं० नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, (१०, ३०, ५) वृन्दावन, सं० १९६४ ।

२. **रलयोः सावर्ण्यात् प्लक्षः प्रकृष्टतया परोपकारार्थं तीर्थे क्षयति निवसति ।** भावभावविभाविका ।
श्रीमद्भागवतम् पृ० ११०५ (१०, ३०, ५) सं० नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९६४ ।
(*Ficus infectoria* is planted in plains and lower hills of India (from Salt Range to Sikkim). Common in Bengal, Assam and Burma). The Flora of British India. Vol. 5. p. 516., *J.D. Hooker, 1885.*

(ग) **न्यग्रोध** (*Ficus bengalensis*) । न्यग्रोध से पूछने का प्रथम भाव यह था कि—

(अ) तुम बहुत ऊंचे हो। संभवतः तुम्हारी दृष्टि कहीं श्यामसुन्दर पर पड़ी हो। किन्तु इसका भी उत्तर न मिलने पर यह सोच कर कि अरे यह तो लम्बग्रीव है, जो सदा देवानांप्रिय होते हैं। यह क्या उत्तर देगा। चलो आगे चलें।

(ब) न्यग्रोध से प्रश्न पूछने का दूसरा आशय यह था कि भगवान् ने अर्जुन को अपनी न्यग्रोध में सत्ता की अनुभूति स्वयं कराई थी।[1] अतः गोपियों ने विचार किया कि श्रीकृष्ण यहीं छिप गये होंगे किन्तु जब यह भी चुप रहा तो वे न्यग्रोध के व्युत्पत्ति-गम्य अर्थ का विचार करके आगे बढ़ गईं। व्युत्पत्ति के अनुसार न्यग्रोध का अर्थ है जो अपने नीचे समस्त वस्तुओं को ढक लेता है।[2]

कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः ।
रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः ।।६।।

हे कुरबक! हे अशोक! हे नाग! हे पुन्नाग! हे चम्पक! क्या तुमने श्रीबलराम के लघु भ्राता श्रीकृष्ण को कहीं देखा है। जो अपने स्मित से मानिनियों के गर्व को हरण करके चले गये हैं।

(१) इस श्लोक में आने वाले पांचों वृक्ष पुष्पवृक्ष हैं। गोपियों का अभिप्राय है कि अश्वत्थ, प्लक्ष तथा न्यग्रोध, ये तीनों वृक्ष तो पुष्पहीन हैं, किन्तु तुम पांचों पुष्प प्रदान द्वारा नित्य अपनी उदारता तथा परोपकारता का अद्भुत परिचय देते हो। साथ ही अपने पुष्पों के प्रतीकार में भी कुछ नहीं मांगते। अतः कृपा करके हमें बता दो यदि तुमने मुरलीमनोहर श्रीकृष्ण को कहीं देखा हो।

(२) मानिनीनाम्। इस पद से गोपियां वृक्षों को यह बताती हैं कि वास्तव में श्रीकृष्ण के जाने का प्रधान कारण हमारे हृदयों में मान का प्रकट होना था। यह एक सार्वभौम तथ्य है कि भगवान् किसी का भी मान कभी नहीं रखते। अतः केवल हमारे मान का मर्दन करने के लिए ही चले गये हैं।

(३) स्मितः। स्मित पद यह बताता है कि यद्यपि श्रीकृष्ण हमारे मान का निरास करने के लिए ही गये हैं किन्तु जो श्रीकृष्ण केवल अपनी मन्दहास्यमयी निरीक्षणशक्ति से ही मानिनियों का मद नष्ट कर सकते हैं, उन्हें हमारे मन को हरण करने का क्या आवश्यकता थी।

(४) पुष्पवृक्षों में भी पांचों नामों में क्रम-विन्यास का प्रकार यह था :—

---

१. **"वटे वटे च मां विद्धि।"** बृहत्तोषिणी। श्रीमद्भागवतम् पृ० ११०३ (१०, ३०, ५) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९६४।

२. **न्यक् अधः रोधः आवरणं यस्य स न्यग्रोधः।** पदरत्नावली। श्रीमद्भागवतम् पृ० ११०४ (१०, ३०, ५) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९६४।

(क) कुरबक (*Lawsonia alba*)। जिसकी यशः पताका त्रिभुवन में परोपकार बुद्धि से उड़ रही है।[1] अतः हमारा उपकार करना भी तुम्हारा धर्म है।

(ख) अशोक (*Saraca indica*)। जिससे किसी को शोक नहीं होता।[2] इस प्रकार अपने नाम की व्युत्पत्ति से तुम समस्त प्राणियों के शोक को नाश करते हो तो हमारे शोक को भी क्षीण करो।

(ग) नाग[3] (*Mesua roxburghii*)। नाग का अर्थ यहां नागकेसर ही समझना चाहिए।

(घ) पुन्नाग (*Calophyllum inophyllum*)। इसके भी चुप रहने पर गोपियों ने इसकी कुटिलता का विचार किया और सोचा कि यह स्वयं कुटिल है तो कुटिल श्रीकृष्ण का पता क्यों बताने लगा।

(ङ) चम्पक (*Michelia champaca*)। चम्पक को देख कर गोपियों ने सोचा कि यह तो हमें देख कर ही पीतवर्ण हो गया, अतः इनसे पूछना तथा उत्तर की आशा करना व्यर्थ है।

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥७॥

हे गोविन्द के चरणों की प्रिय कल्याणमयी तुलसी! भ्रमरों की पंक्ति के साथ तुम्हें धारण करने वाले, तुम्हारे अत्यन्त प्रिय अच्युत को क्या तुमने कहीं देखा है?

(१) तुलसी (*Ocimum sanctum*)। आठ प्रकार के पुरुष जाति के वृक्षों से जब कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ तो गोपियों के मन में शंका हुई कि संभवतः पुरुष जाति के कारण ये वृक्ष श्रीकृष्ण का पक्ष लेते हुए चुप हैं। अतः तुलसी से पूछना चाहिए। इसमें तीन कारण थे।

---

१. (क) कौ पृथिव्यां परोपकारतया रवः सुयशो यस्य स कुरवः, स्वार्थे कः कुरवकः।
(ख) कौ रवेण सुयशसा कं सुखं यस्य। भावभावविभाविका। श्रीमद्भागवतम् पृ० ११०७ (१०, ३०, ६) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९६४।

२. नास्ति शोकः यस्मात् सः अशोकः। इस व्युत्पत्ति से एक ध्वनि यह भी निकलती है कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में स्वयं शोक का अनुभव किया है वही दूसरों के शोक की व्यथा को जानता हुआ उसके निराकरण का प्रकार प्रस्तुत कर सकता है। किन्तु अशोक को तो शोक का लेशमात्र भी अनुभव नहीं फिर यह हमारी व्यथा को क्या समझेगा। इस भावना से गोपियां आगे बढ़ जाती हैं।

३. नाग शब्द के लिए *Mesua roxburghii* तथा *Rottlera tinctoria* दोनों नामों का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में नागकेशर का अर्थ स्वीकार करके हमने प्रथम नाम को ही मान्यता दी है।

(क) प्रथम तो यह स्त्री जाति की है।

(ख) गोविन्द के चरणों में इसका परम अनुराग है।[1]

(ग) इसको श्रीकृष्ण दर्शन होने की पूर्ण संभावना है।

(२) कल्याणि। यह संबोधन बताता है कि तुम तो स्वभाव से ही कल्याणमयी हो। अतः हमारा कल्याण करने के लिए भी तुम्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होगा।

(३) चरणप्रिये। यहां चरण शब्द के प्रयोग से दो भाव प्रकट किये गये हैं।

(क) तुलसी[2] की भगवच्चरणों में प्रीति की अतिशयता।

(ख) गोपियों के दीनभाव की प्रबलता।

अर्थात् तुम धन्य हो कि तुम्हारे प्रति आकृष्ट भगवान् भ्रमरवृन्द की भी परवाह नहीं करते।

(४) अच्युत। यह संबोधन बताता है कि भगवान् कभी भी तुलसी से च्युत नहीं होते। इस नित्य सम्बन्ध के कारण भगवान् की तुलसी के समीप उपस्थिति का अनुमान करके गोपियां कह रही हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण को तुलसी अत्यन्त प्रिय है। इसी के द्वारा वे सदा अपने दिव्य विग्रह को सजाया करते हैं। यही कारण है कि अन्यान्य पुष्प सौरभयुक्त होकर भी तुलसी की ही तपस्या का विशेष मान करते हैं।[3]

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके।
प्रीतिं वो जनयन्यातः करस्पर्शेन माधवः ॥८॥

हे मालति![4] हे मल्लिके![5] हे जाति![6] हे यूथिके![7] क्या तुमने कहीं उन्हें देखा है! क्या माधव अपने हाथ के स्पर्श से तुममें अनुराग उत्पन्न करते हुए गये हैं?

---

१. स्वामी के दर्शन का सबसे सरल उपाय उनके प्रिय कृपापात्र व्यक्ति की अनुकम्पा का आश्रय स्वीकार किया जाता है। यही सोचकर गोपियों ने तुलसी को पूछा।

"अयि तुलसि नमस्ते मुञ्च मौनं कृपातः। कथय कथय कृष्णः क्वाधुना वावसीति।"

हरिविलास, २, १८।

२. धीरे धीरे वैष्णव साधना पद्धति में तुलसी का महत्त्व बढ़ता गया और श्रीकृष्ण की मन्दिर सम्बन्धिनी वास्तुकला में तुलसी ने विशेष स्थान ग्रहण कर लिया। यहां यह स्मरणीय है कृष्णप्रतिमा के साथ रजतनिर्मित तुलसी के पौधे के विवाह के अवसर पर वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था।

Le rituel de la devotion krsnaite, *Rasik Vihari Joshi, Pondichery*, 1959, pp. 52—53.

३. गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्याः यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति।

श्रीमद्भागवत-महापुराण, ३, १५, १६।

4. *Jasminum angustifolium.*
5. *Jasminum officinale.*
6. *Jasminum grandiflorum.* (Jati is also known as Malati in Malayayam) Indian Materia Medica, *K.M. Nandkarni*, 1954, p. 701.
7. *Jasminum auriculatum.*

(१) जब गोपियों को श्रीकृष्ण के संकेत का पता तुलसी से भी प्राप्त नहीं हुआ तो उनके हृदय में तुलसी के चुप रहने के दो कारण प्रकट हुए।

(क) तुलसी को श्रीकृष्णमिलन का गर्व हो सकता है।

(ख) सपत्नी कभी भी अन्यान्य पत्नियों से सीधी बात नहीं करती।

यह सोच कर उन्होंने चारों लताओं से पूछा। क्योंकि ये लतायें स्वभाव से ही पुष्पादि के विलास से परिमण्डित होने के कारण अपनी अनुपम माधुर्य की छटा को बिखेर रही थीं। जहां सरलता और कोमलता की अद्भुत प्रवणता थी।

(२) कच्चित्। इस प्रश्नवाचक शब्द के कारण यह अर्थ होता है कि क्या श्रीकृष्ण अपने हाथ से तुम्हें छूकर तुममें अनुराग उत्पन्न कर गये हैं?

(३) माधवः। माधव शब्द के प्रयोग द्वारा गोपयों ने यह भाव व्यक्त किया है कि जिस प्रकार माधव अर्थात् वसन्त ऋतु को पुष्प बहुत प्रिय होते हैं[1]। इसी प्रकार माधव नाम के कारण तुम्हें भी पुष्प प्रिय हैं। अपनी पुष्पप्रियता के कारण तुमने इन कोमल लताओं के सुन्दर पुष्पों का अवश्य स्पर्श किया होगा। महाभारत के उद्योगपर्व में माधव की परिभाषात्मक व्युत्पत्ति द्वारा माधव उसे कहते हैं जो मौन, ध्यान तथा योग द्वारा उपाधिभूता धीवृत्ति को हटा सकता है।[2] इस पक्ष में गोपियों का यह भाव है कि माधव तो केवल उपाधिभूत वृत्तियों को दूर करने की शक्ति से अधिजुष्ट है। उनमें पुष्पों के प्रति अनुराग की भावना संभव नहीं है।

(४) करस्पर्शेन। बिना दर्शन के स्पर्श हो नहीं सकता। अतः गोपियों ने यह तो निश्चित रूप से मन में स्वीकार कर लिया था कि श्रीकृष्ण उन लताओं के समीप से गये हैं। इसका एकमात्र कारण यह प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के दर्शन तथा शरीर के स्पर्श से लताओं में रोमांच और पुष्पोद्गम आदि अभिव्यंजित चिह्न गोपियों को दृष्टिगोचर हुए थे।

चूतप्रियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः॥९॥

हे आम्र! हे प्रियाल! हे पनस! हे असन! हे कोविदार! हे जामुन! हे आक! हे बिल्व! हे वकुल! हे कदम्ब! हे नीप! तथा हे अन्यान्य वृक्षो! तुमने यमुना के तट पर परोपकार के लिए जन्म ग्रहण किया है। श्रीकृष्ण के विरह में हम आत्मा से शून्य सी हैं। बताओ श्रीकृष्ण किस मार्ग से गये हैं?

---

१. **मधूनि मधुमन्ति कुसुमान्यस्मिन्निति माधवः।** हलायुधकोषविवृति पृ० ५२७।
२. **मौनाद्ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम्।** महाभारत, उद्योगपर्व, ७०, ४।

(क) लताओं के भी निरुत्तर रहने पर गोपियों ने सोचा कि ये तो श्रीकृष्ण के प्रति दासीभाव से उपासना में निरत हैं। जहाँ सेव्यसेवक भाव का सम्बन्ध होता है, वहां सेवक कभी भी स्वामी की इच्छा के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं कर सकता। फिर ये सेविकास्वरूप लतायें कसे श्रीकृष्ण की इच्छा के विरुद्ध उनका पता बतावेंगी। इसमें इनका भी कुछ दोष नहीं है, क्योंकि ये तो अपने कर्त्तव्यधर्म का ही पालन कर रही हैं।

(ख) इस श्लोक में बारह वृक्षों का सनाम निर्देश किया गया है। इन सभी वृक्षों पर ऋषित्व की कल्पना का आरोप मन में स्थिर करके गोपियों ने पूछा था। क्योंकि ऋषि सदा सत्य-निष्ठ होते हैं। अतः गोपियों ने सोचा कि इन वृक्षों से श्रीकृष्ण का पता मिल जायगा।

आध्यात्मिक व्याख्या के पक्ष में चूत, प्रियाल, पनस, असन तथा कोविदार इन पांच वृक्षों को पंच कर्मेन्द्रियां स्वीकार किया गया है। जम्बु, अर्क, बिल्व, वकुल, आम्र इन पांच वृक्षों को पंच ज्ञानेन्द्रियों के रूप में अंगीकार किया गया है। कदम्ब तथा नीप क्रमशः चित्त तथा अहंकार का प्रतिनिधान करते हैं। इस प्रकार पंच कर्मेन्द्रियां, पंच ज्ञानेन्द्रियां, चित्त और अहंकार का विशेष क्रमविन्यास परिलक्षित होता है।

(क) चूत (*Magnifera indica*)। यह आम्र का ही एक भेद है। इसकी वास्तविक अवान्तर स्थिति संदिग्ध है। श्रीमद्भागवत के जीवगोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा विशुद्धरसदीपिका के लेखक जैसे अनेक व्याख्याकारों ने चूत को लता के रूप से माना है। साथ ही यह भी बताया है कि आम्र के इस अवान्तर भेद में कवियों द्वारा लता का प्रयोग किया जाता है और मध्यप्रदेश में लता के आकार के आम्र दृष्टिगोचर होते हैं।[1] किन्तु *Botany* में आम्र का कोई भी भेद लता के रूप से नहीं प्राप्त होता। फलतः यह प्रतीति होती है कि चूत का लता के रूप में प्रयोग केवल कविसम्प्रदाय की वस्तु था। चूत तथा आम्र में भेद तो निश्चित है क्योंकि एक ही श्लोक में दोनों शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। यहां गोपियां प्रत्येक वृक्ष को नामनिर्देशपूर्वक पूछ रही हैं। यह भेद केवल रस के भेद पर अवलम्बित माना जा सकता है।

सर्वप्रथम चूत को प्रश्न पूछने का कारण इस शब्द की व्युत्पत्ति पर निर्भर है। जो दूसरे के दुःख की करुणा से द्रवित हो जाता है,[2] उसे चूत कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार चूत के अन्तः करण को कृपालुता की भावप्रवणता के कारण अत्यन्त द्रवीभूत मानकर गोपियों ने प्रथम प्रश्न किया था।

(ख) प्रियाल। *Chironjia sapida* or *Buchanania latifolia*

(ग) पनस। *Artocarpus heterophyllus*

---

१. **चूतो लताजातिः, आम्रे कविभिर्लतात्वं प्रयुज्यते, मध्यदेशादौ लताकाराश्च दृश्यन्ते।** वैष्णवतोषिणी। श्रीमद्भागवतम् पृ० १११४ (१०, ३०, ९) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९६४।

२. **च्यवति परदुःखतया द्रवतीति चूतः। उणादिनिपातेन यकारस्थले उकारादेशः तकारागमश्च। इति व्युत्पत्त्या कृपालुतया द्रवितचित्तः।** भावभावविभाविका। श्रीमद्भागवतम् पृ० १११७ (१०, ३०, ९) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९६४।

(घ) असन। *Terminalia tomentosa*

(ङ) कोविदार। *Bauhinia variegata*

(च) जम्बु। *Syzygium cumini* or *Engenia jambolana*

(छ) अर्क (*Calatropis gigentia*)।[1] यद्यपि यह वृक्ष महत्वपूर्ण नहीं है तथापि इसका उल्लेख दो भाव प्रकट करता है।

(अ) शिव की उपासना के लिए अर्क के पुष्पों का प्रयोग किया जाता है। शिव को गोपीश्वर माना गया है।

(ख) अर्कतुल्य सामान्य वृक्ष के निर्देश से गोपियों के अन्तःकरण की उत्सुकता की प्रबलता भी व्यक्त होती है।

(ज) बिल्व। *Aegle marmelos*

(झ) बकुल। *Mimusops elengii*

(ञ) आम्र। *Magnifera indica*

(ट) कदम्ब (*Anthocephalus cadamba*)। संस्कृत साहित्य की परम्परा में कदम्ब की दो प्रकार की व्युत्पत्ति प्राप्त होती है। (क) जिसके दर्शन से विरहिजनों का मन विकल हो उठता है।[2] (ख) कद का अर्थ सुखप्रद श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण को प्राप्त कराने वाले को कदम्ब कहते हैं।[3] गोपियों ने दूसरे अर्थ को मन में रख कर कदम्ब को पूछा था क्योंकि श्रीकृष्ण तथा कदम्ब की सहस्थिति पौराणिक परम्परा में प्रसिद्ध है और प्रथम अर्थ का बोध होते ही वे आगे चल पड़ीं क्योंकि उनकी विरह-व्यथा प्रबलतर होने लगी थी।

(ठ) नीप (*Nauclea cadamba*)। नीप भी कदम्ब का ही एक अवान्तर भेद होता है। इसको धूलिकदम्ब भी कहा जाता है।[4] नीप के पुष्प आकार में बड़े होते हैं और कदम्ब के पुष्प अपेक्षाकृत छोटे-छोटे होते हैं। नीप में पराग की प्रचुरता मानी गई है तो कदम्ब में सुगन्ध की प्रचुरता भरी रहती है। दोनों में वर्णभेद भी महत्वपूर्ण है।

(३) परार्थभवकाः। यदि कोई यह शंका करे कि वृक्षों को भगवान् का पता गोपियों को

---

1. Those wishing to marry a third wife after losing two wives, pass through a fictitious form of third marriage with Arka as the bride, before actually marrying a real third wife who thus becomes only a fourth one.
   Tholkappiyam, quot. "An Antiquity of some Field and Forest Flora of India" by *A. K. Yegna Narayan Aiyer, Bengalore*, 1956, p 21.

२. **कद्यते दर्शनात् विरहिणां चित्तवैक्लव्यं जायते अनेन इति कदम्बः। कद्+करणे अम्बच् "कृकदिकटिभ्योऽम्बच्।"** हलायुधकोष विवृत्तिव्याख्या, जयशंकर जोशी उणादि ४, ५२२, सूचना विभाग, लखनऊ, सं० २०१४।

३. **कं सुखं ददातीति कदः कृष्णः। कदं वाति प्रापयति इति कदम्बः।** भावभावविभाविका। श्रीमद्भागवतम् पृ० १११७ (१०, ३०, ६) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी।

४. **"नीपो धूलिकदम्बे स्यात्।"** विश्वप्रकाश, उद्धृत क्रमसन्दर्भ। श्रीमद्भागवतम् पृ० १११४ (१०, ३०, ६) श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९६४।

बताने में किसी भी प्रकार के लाभ की संभावना नहीं थी। यही कारण उनके चुप रहने का था। तो इसका उत्तर इस विशेषण के द्वारा दिया गया है।

इसका आशय है कि तुम्हारा तो जन्म ही केवल परोपकार के निमित्त हुआ है और उपकार कभी भी प्रत्युपकार की भावना से नहीं माना जाता। अतः तुम्हें पता बताना ही शोभा देता है।

(४) यमुनोपकूलाः। वृक्षों के लिए इस द्वितीय विशेषण का प्रयोग भी उनको प्रेरित करने में सहायक बनता है। यमुना के तट पर उत्पन्न होने के कारण सदा वहां निवास से तथा संश्रय से गोपियों ने वृक्षों पर तीर्थ-स्थल में रहने वाले मुनियों की भावना का आरोप किया है। तीर्थनिवासी मुनिजनों की पहली विशेषता सत्यभाषणप्रियता और दूसरी विशेषता दयाद्रचित्त-वृत्ति होती है। इसी अभिप्राय से दोनों विशेषण रखे गये हैं।

(५) रहितात्मनाम्। यह गोपियों का विशेषण है। यदि कहा जाय कि गोपियों ने स्वयं ही भगवान् का अन्वेषण क्यों नहीं कर लिया? जड़ पदार्थों से पूछने की अपेक्षा तो स्वयं अन्वेषण करना अधिक युक्तिसंगत तथा विचारसंगत प्रतीत होता है। इसका उत्तर इस पद में मिलता है कि श्रीकृष्ण के विरह में गोपियों के शरीर आत्मा से शून्य हो रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था जैसे उनके निर्जीव शरीर किसी अज्ञात शक्ति के पारतन्त्र्य में इधर-उधर हिल रहे हों। आत्मा के अभाव में मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों की सत्ता भी नहीं मानी जाती। इन सब के बिना किसी भी प्रकार का ज्ञान उदय नहीं होता। फिर कृष्णान्वेषण कैसे संभव था?[१]

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवांघ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।
अप्यंघ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥१०॥

हे पृथ्वि! तुमने कौनसा तप किया है कि केशव के चरणस्पर्श के आनन्द से पुलकित रोमों से शोभित हो रही हो। क्या यह आनन्द भगवान् के

---

१. इसी प्रकार का वर्णन हमें महाकवि कालिदास की रचना "विक्रमोर्वशीय" में प्राप्त होता है। पुरुरवा अपनी प्रियतमा उर्वशी के वियोग में वन में भटक रहा है। विरह की इस अवस्था में उर्वशी को खोजते खोजते वह अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों से पृथक्-पृथक् उर्वशी के सम्बन्ध में पूछता है। और इसी प्रसङ्ग से अशोक वृक्ष को पूछते हुए कहता है—"हे रक्त अशोक! वह कृशोदरी मुझ प्रेमी का त्याग करके कहां चली गई? वायु से हिलते हुए अपने मस्तक को हिलाकर तुम निरर्थक यह कह रहे हो कि तुमने उसे नहीं देखा। अन्यथा प्रियतमा की चरणताड़ना के बिना तुम्हारे ये पुष्प कैसे खिलते, जिनकी पंखुड़ियों को भ्रमरों ने कुछ कतर दिया है।

"तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः।" विक्रमोर्वशीय, ४, ६२।

चरणस्पर्श से प्राप्त हुआ है? अथवा त्रिविक्रम के चरणविन्यासात्मक पराक्रम से प्राप्त हुआ है अथवा वराह भगवान् के शरीर के आश्लेष से प्राप्त हुआ है।

(१) जब वृक्षों तथा लताओं से किसी भी प्रकार का उत्तर नहीं मिला तो गोपियों ने वसुन्धरा की विशालता पर दृष्टि डाल कर देखा कि इस समय अलौकिक सौन्दर्य की छटा वहां बिखरी पड़ी है। दूर्वादि के अंकुर पृथ्वी पर ऐसे प्रतीत होते थे मानों कोई सौन्दर्यरत्नाकरी आनन्द से पुलकित हो रही हो। इस विश्लेषण से उन्हें यह प्रतीति हुई कि श्रीकृष्ण के चरणस्पर्श के बिना वसुन्धरा इस प्रकार आनन्दित नहीं हो सकती और वसुन्धरा ने अपनी विशालता के कारण श्रीकृष्ण को कहीं अवश्य देखा होगा। यही विचार कर के पृथ्वी से पूछने लगी।

(२) गोपियों के मन में पृथ्वी के आनन्दोद्गम के निम्नलिखित तीन कारण प्रकट हुए।

(क) श्रीकृष्ण का चरणस्पर्श।

(ख) त्रिविक्रम के चरणविन्यास का पराक्रम।

(ग) वराह भगवान् के शरीर का आश्लेष।

आनन्दोद्गम के तीनों कारणों में प्रथम कारण ही मूर्धन्य माना गया है, क्योंकि द्वितीय तथा तृतीय कारण कालविपर्यास से विप्रकृष्ट होने के कारण इस प्रकार के अद्भुत आनन्द की उद्भूति नहीं कर सकते।

(३) अथवा गोपियों को यह प्रतीति हुई कि संभवतः द्वितीय तथा तृतीय कारण ही प्रथम कारण के प्रति कारण हैं। वामनावतार में भगवच्चरणस्पर्श तथा वराहावतार में भगवच्छरीराश्लेष द्वारा[1] समुत्पन्न तपोविशेष ही श्रीकृष्णचरणस्पर्श के प्रति हेतु हो सकता है।

(४) इस प्रकार गोपियों का आशय था कि हे वसुन्धरे! तुम भगवच्चरणस्पर्श के कारण परमसौभाग्यशालिनी हो। हम चरणवियोग के कारण सौभाग्यविरहिता हैं। अतः कृपा करके उस मार्ग का निदर्शन करो जिससे श्रीकृष्ण गये हैं।

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन्दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुंकुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥११॥

हे सखि हरिणप्रिये! क्या भगवान् अच्युत अपनी प्रियतमा के साथ अपने शरीरों द्वारा तुम्हारे नयनों के हेतु परमानन्द को बिखेरते हुए तुम्हारे पास

---

१. **वराहावतार में जब भगवान् रसातल से पृथ्वी को दंष्ट्रा पर उठाकर लाये तब पृथ्वी को भगवदाश्लेष उपलब्ध हुआ था।**

स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां स उत्थितः संरुरुचे रसायाः।

श्रीमद्भागवत महापुराण, ३, १३, ३१।

आये थे ? गोकुलाधीश्वर श्रीकृष्ण की कुन्दपुष्पमाला की सुगन्ध यहां फैली हुई है। यह माला अवश्य ही श्रीप्रिया के अङ्गसङ्ग द्वारा कुचकुङ्कुम से अनुरक्त हुई है।

(१) प्रिययां। प्रिया पद यह स्पष्ट कर देता है कि भगवान् एक विशेष गोपी के साथ अन्तर्हित हुए थे। इसके आधार पर अनेक साम्प्रदायिक टीकाकारों ने प्रिया शब्द की व्याख्या श्रीराधा के अर्थ में की है। श्रीराधा के लिए प्रिया शब्द द्वारा संकेत करने के दो कारण प्रतीत होते हैं।

(क) जिस वस्तु पर किसी का अत्यन्त विशेष आग्रह होता है, वह उसे उतना ही छिपा कर रखना चाहता है।

(अ) श्रीशुकदेव का समस्त अवतारों में भगवान् श्रीकृष्ण के मुरलीमनोहर रूप के प्रति विशेष आग्रह था।

(ब) किन्तु भगवद्भक्तों में उन्होंने गोपरमणियों के प्रति विशेषतर आग्रह अभिव्यक्त किया।

(स) गोपांगनाओं में भी श्रीराधा की भगवान् की ह्लादिनी शक्ति के रूप में आराधना करते हुए उन्होंने अपने विशेषतम भावाभिनिवेश के आग्रह को प्रकट किया।

(ख) काव्यशास्त्र के अनुसार अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना इन तीनों शब्दशक्तियों में उत्तरोत्तर चमत्कारातिशयता स्वीकार की गई है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रिया शब्द का राधा के अर्थ में बोध व्यंजना शक्ति द्वारा प्राप्त होने से यह उत्तम काव्य की श्रेणी में आ जाता है।

(२) श्रीराधाकृष्ण के चरणचिह्न देखने के पश्चात् गोपियों के मन में इन भावों का उद्भव हुआ।

(क) दोनों ही अनुराग से आबद्ध हैं।

(ख) इसीको मन में रख कर उन्होंने हरिणप्रियाओं से पूछा कि यद्यपि श्रीकृष्ण तो नित्य ही वन में गोचारण के उद्देश्य से तुम्हारे समीप से गुजरते हैं, किन्तु आज यह विशेषता है कि वे श्रीप्रिया के साथ गये हैं। यह बात हमसे छिपी नहीं है। हम तो उनकी कुन्दमाला की अद्भुत गन्ध से श्रीप्रिया के अङ्गसङ्गादि कार्यों को भी जान चुकी हैं। अतः कृपा करके बताओ कि वे किधर गये हैं ?

(३) कुलपतेः। इस पद के गोकुलाधीश्वर अथवा गोपीसमुदायाधीश्वर दोनों अर्थ हो सकते हैं।

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥१२॥

हे वृक्षो ! श्रीबलराम के अनुज श्रीकृष्ण श्रीप्रिया के कंधे पर बाहु रखकर,

तुलसी की गन्ध से पीछे-पीछे आने वाले मदान्ध भ्रमरकुल[1] द्वारा आवृत कमल को हाथ में लिए हुए, इधर से जाते वक्त क्या प्रणयान्वित दृष्टि द्वारा तुम्हारे प्रणामों का अभिनन्दन कर रहे थे।

(१) जब गोपियों को हरिणप्रियाओं से भी कोई उत्तर नहीं मिला तो उन्होंने सोचा कि ये भी श्रीकृष्ण के विरह में संतप्त होकर ही मूक हैं। इसी समय उनकी दृष्टि ऐसे वृक्षों पर पड़ी जो फल के भार से अत्यन्त झुके हुए थे।

(२) वृक्षों को झुका हुआ देखकर गोपियों को यह प्रतीति हुई कि ये अवश्य ही श्रीकृष्ण को प्रणाम करने के लिए झुके थे।

(३) यहां गोपियों ने वृक्षों से प्रश्न किया कि क्या श्रीकृष्ण ने तुम्हारे प्रणामों का अभिनन्दन किया था? यह प्रश्नवाचक वाक्य बताता है कि गोपियों के हृदय में इसका निश्चय हो गया था कि श्रीकृष्ण ने उनका अभिनन्दन नहीं किया। इसके तीन कारण हो सकते थे।

(क) झुके हुए वृक्ष अत्यन्त ही उदास तथा मन्द थे। उनका मस्तक अपने प्रणाम के अस्वीकार करने की लज्जा से झुका था।

(ख) भगवान् श्रीप्रिया के साथ माधुर्यलीला कर रहे थे। लीलानिकुंजों में भ्रमण करते हुए उन्होंने वृक्षों के प्रणाम को संभवतः देखा ही नहीं था।

(ग) गृहीतपद्मः। भगवान् ने एक हाथ में कमल ले रखा था। जिसका उद्देश्य यह था कि श्रीप्रिया के मुखारविन्द को भ्रमर पीड़ित न करें। इस अभिप्राय से एक हाथ से अपने कमल को घुमा रहे थे। जिससे प्रथम तो भ्रमर उड़ जांय और दूसरे कमल पर आकृष्ट रहें।

प्रियांसे। भगवान् ने अपना दूसरा हाथ श्रीप्रिया के कंधे पर रखा था। इस प्रकार दोनों हाथ खाली नहीं थे। इसी कारण से वृक्षों के प्रणामों का हाथ से अभिनन्दन करना संभव नहीं था।

---

१. श्रीमद्भागवत महापुराण में अनेक स्थलों पर ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है कि तुलसी की मञ्जरी की गन्ध से भ्रमर आकृष्ट हुआ करते थे।

(क) कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद्दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ३०,७।

(ख) अभिनव तुलसी की सुगन्ध तथा मधुर मकरन्द से उन्मत्त भ्रमरगण अपने गुञ्जन द्वारा उसकी श्रीवृद्धि करते थे।
"नवतुलसिकामोदमध्वासवेन माद्यन्मधुकरव्रातमधुरगीतश्रियम्।" वही, ५, २५, ७।

यहां यह विचारणीय है कि आजकल *Botany* के अनुसार जिस पौधे को तुलसी (*Ocimum sanctum*) के रूप में माना जाता है, उसकी मञ्जरी पर भ्रमर आकृष्ट नहीं होते। दक्षिणभारत में मन्दिरों के समीप जहां तुलसी के पौधे एक ही स्थान पर अधिक संख्या में लगाये जाते हैं, वहां भी भ्रमर नहीं आते। फलतः यह प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में तुलसी का कोई ऐसा भेद अवश्य था जिसकी मञ्जरी पर भ्रमर आकृष्ट होते थे और जो कालविपर्यास से लुप्त हो गया।

इसी आशय से प्रणयावलोकैः पद का प्रयोग किया गया है कि उन्होंने प्रीतिपूर्वक तुम्हें देखा तो अवश्य होगा। यहां गोपियों को वृक्षों की निरानन्द स्थिति से इसमें भी संदेह ही था।

(४) मदान्धैः। भ्रमरों के इस विशेषण द्वारा उन गोपियों की इच्छाओं का निराकरण अभीष्ट था जो भ्रमरों का अनुकरण करके श्रीकृष्ण का पता लगाने की कामना करती थीं। अथवा भ्रमरों से पता पूछने को उत्सुक थीं। क्योंकि ये भ्रमर तो स्वयं ही अन्धे थे। ये श्रीकृष्ण का पता बताने में कैसे समर्थ हो सकते थे?

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥१३॥

हे सखियो! वनस्पति की शाखारूपी भुजाओं में आलिङ्गित इन लताओं को पूछो। ये रोमाञ्चित लताएं पुलकावली को धारण कर रही हैं। इसका कारण अवश्य ही श्रीकृष्ण के नखों का स्पर्श हो सकता है।

(१) उत्पुलकानि। लतायें आनन्द से पुलकित हो रही थीं। इस रोमांच की अभिव्यक्ति उनके अभिनव अंकुर तथा पुष्पों द्वारा गोपियों को हुई। यद्यपि इसके प्रधान कारण का निर्देश स्पष्ट रूप से श्लोक के पूर्वार्ध में किया गया है। किन्तु गोपियों को यह कारण अभिप्रेत नहीं था। यह उत्तरार्ध से स्पष्ट हो जाता है।

(क) यहां वनस्पति में नायक तथा लता में नायिका के आरोप की कल्पना है। इस प्रकार नायक व नायिका के बाहुपाश में बंध कर आलिंगित होना रोमांच का स्वाभाविक कारण था।

(ख) फिर भी गोपियां इसे अंगीकार नहीं करतीं और द्वितीय कारण ढूंढती हैं। उनके विचार से लताओं को इस प्रकार का अद्भुत रोमांच अपने प्रियतमों के बाहुपाश से नहीं हो सकता। वह तो केवल माधुर्यनिधि श्रीकृष्ण के नखस्पर्श द्वारा ही संभव हो सकता है। इस प्रकार लताओं का श्रीकृष्ण के साथ मिलन का निश्चय करती हुई पूछना चाहती हैं।

(२) पतियों द्वारा आलिंगित की हुई भी लताओं को श्रीकृष्ण के स्पर्श की उपलब्धि ही उनके लोकोत्तर सौभाग्य की महिमा को अभिव्यक्त करती है।

(३) इस अध्याय के ग्यारहवें तथा बारहवें श्लोक में आने वाले प्रिया पद से यद्यपि अनेक गोपियों को भगवान् के साथ श्रीराधा की उपस्थिति का बोध हो चुका था। तथापि इस श्लोक में लताओं से श्रीकृष्ण का पता पूछने की सम्मति उन तटस्थ गोपियों ने प्रदान की है, जो श्रीप्रिया के प्रति उदासीन हैं। क्योंकि इन तटस्थ गोपियों ने पिछले दोनों श्लोकों के प्रसंग को अनसुना करके कहना प्रारंभ किया है।

श्रीराधा के विपक्ष की गोपियों ने भी पिछले दोनों श्लोकों के प्रसंग को अनुसुना किया। यह बात २७वें श्लोक से प्रकट हो जाती है। जब ये गोपियां श्रीप्रिया के चरणचिह्न देख कर प्रश्न करती हैं 'ये किस रमणीरत्न के चिह्न हैं।"[१] इस प्रश्न से स्पष्ट है कि इन गोपियों ने ११वें तथा

१. कस्याः पदानि चैतानि यातायां नन्दसूनुना। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ३०, २७।

१२वें श्लोक को अपनी उदासीन मनोवृत्ति के कारण बिल्कुल नहीं सुना था। अन्यथा यह प्रश्न कदापि नहीं करतीं।

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥१४॥

इस प्रकार उन्मत्त के तुल्य वचनों वाली गोपियां श्रीकृष्ण के अन्वेषण में कातर तथा तदात्मिका होकर भगवान् की उन-उन लीलाओं का अनुकरण करने लगीं।

(१) प्रस्तुत श्लोक में गोपियों के लिए 'तदात्मिका' विशेषण का प्रयोग यह बताता है कि यद्यपि गोपियों का श्रीकृष्ण के साथ अत्यन्त निकट का तादात्म्य सा स्थापित हो गया था किन्तु श्रीकृष्ण के साथ एकान्त अभेदरूप से एकाकारता का अनुभव गोपियों को नहीं हुआ था। उनकी बुद्धि में अनुकरण करने का भाव विद्यमान था। अनुकार्य तथा अनुकर्त्ता में अभेदबुद्धि होने पर अनुकर्त्ता के मन में अनुकरण का भाव शेष नहीं रहता। इसकी पुष्टि गोपियों के ही वचनों से हो जाती है। जब वे कहती हैं—मैं ही श्रीकृष्ण हूं, मेरी ललितगति का निरीक्षण करो।[1] इस प्रकार के वाक्य यह प्रमाणित करते हैं कि गोपियां अपनी अनुकरणात्मक चेष्टाओं द्वारा तथा वचन-विन्यास द्वारा अपने को श्रीकृष्ण के रूप से उपस्थित कर रही थीं। किन्तु उनकी क्रिया के इस विन्यास में तादात्म्य का स्फुरण नहीं था। इस प्रकार तदात्मिका विशेषण गोपियों के श्रीकृष्ण के प्रति प्रगाढ़ अनुराग को व्यक्त करता है।

(२) कातर शब्द का अर्थ है भगवद्विरह में थक कर अन्वेषण में सर्वथा असमर्थ हो जाना और लीला से यहां उन्हीं लीलाओं का ग्रहण किया गया है जिनका गोपियां इस समय विकल होकर गान कर रही थीं।

कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम्।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम् ॥१५॥

श्रीकृष्ण के समान आचरण करने वाली कोई गोपी पूतना के समान आचरण करने वाली किसी दूसरी गोपी का स्तन पान करने लगी। एक दूसरी गोपी ने बालक के तुल्य आचरण करके रुदन करते हुए—शकट के तुल्य आचरण करने वाली गोपी के प्रति पैर से प्रहार किया।

(१) यहां श्रीकृष्ण की दो लीलाओं का गोपियों द्वारा अनुकरण वर्णित है।

---

१. (क) **कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः।** श्रीमद्भागवत, १०, ३०, १९।
(ख) **कृष्णोऽहमेष ललितं व्रजाम्यालोक्यतां गतिः।** विष्णुपुराण, ५, १३, २६।

(क) पूतनावध की लीला।[1]

(ख) शकटभंजन लीला।[2]

पूतना के तुल्य आचरण करने से तथा बालक के रूप में श्रीकृष्ण का अनुकरण करके स्तन-पान करने से भी गोपियों के पक्ष से भावविरोध का दोष नहीं आता। क्योंकि यहां केवल अनुकरण की चेष्टा का भावमात्र विद्यमान है। उस भाव में चिरन्तनता का तत्व नहीं है। अतः गोपीभाव के विरुद्ध पूतनाभाव तथा पुत्रभाव के असंगति की कल्पना निर्मूल है।

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम्।
रिङ्गयामास काप्यंघ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥१६॥

एक गोपी ने दैत्य के समान आचरण करके श्रीकृष्ण की बालभावना वाली दूसरी गोपी का हरण कर लिया। कोई गोपी अपने घुंघुरुओं के शब्द के साथ अपने दोनों चरणों को घसीटती हुई रेंगने लगी।

(१) श्लोक के पूर्वार्ध में तृणावर्त्त नामक दैत्य की लीला के अनुकरण का संकेत किया गया है जो बालकृष्ण को उड़ा कर ले गया था। एक गोपी तृणावर्त्त बन गई और दूसरी बालकृष्ण के सदृश आचरण करने लगी।[3] यहां हरण करने का आशय केवल हरण करने के भाव की अभिव्यक्ति से ही है। उत्तरार्ध में श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था में घुटनों के बल खिसकते वक्त बजने वाले नूपुरों की मधुर ध्वनि के अनुकरण का संकेत है। यहां गोपी अपने स्वयं के नूपुरों की ध्वनि को श्रीकृष्ण के चरणनूपुरों की ध्वनि समझती हुई बालकृष्ण के समान व्यवहार कर रही है।

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥१७॥

दो गोपियां श्रीकृष्ण तथा बलराम के समान आचरण करने लगीं। कुछ गोपियां गोपकुमारों के सदृश आचरण करने लगीं। एक दूसरी गोपी गोवत्स के सदृश व्यवहार करने वाली गोपी को मारने लगी और एक गोपी बक के तुल्य आचरणशील गोपी को मारने लगी।

(१) इस श्लोक में तीन लीलाओं का निर्देश किया गया है।

(क) श्रीकृष्ण तथा बलराम की गोपकुमारों के साथ लीला का अनुकरण।

(ख) वत्सासुर वध की लीला।[4]

(ग) बकासुरवध लीला।[5]

---

१. श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ६, ६–१३।

२. वही, १०, ७, ४–१०।

३. **तृणावर्त्तवध**। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ७, २०–२८।

४. वही। १० ११, ४२-४३। ५. वही। १०, ११, ४७-५१।

द्वितीय तथा तृतीय लीलानुकृति में मारने की क्रिया को केवल अनुकरणमात्र समझना चाहिए।

आहूय दूरगा यद्वत्कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥१८॥

श्रीकृष्ण के तुल्य दूर गई हुई गौओं को बुलाकर श्रीकृष्ण का अनुकरण करने वाली, मुरली को बजाने वाली, तथा क्रीड़ा करने वाली गोपी की अन्यान्य गोपियां धन्य-धन्य कहकर प्रशंसा करने लगीं।

(१) जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण वन में दूर गई हुई गौओं को बुलाने के लिए वंशी में मधुर नाद-संगीत की अमृतनिस्यन्दिनी तरंगिणी का प्रवाह उत्पन्न किया करते थे। एक गोपी उसी प्रकार वंशी बजाकर वैसा ही भाव प्रकट करने लगी। इस गोपी की इस लीलानुकृति को देखकर अन्य गोपियां आनन्द में डूब गईं और धन्य-धन्य कहने लगीं।

कस्याश्चित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु ।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥१९॥

श्रीकृष्ण में मन वाली एक दूसरी गोपी किसी गोपी पर अपनी भुजा स्थापित करके चलती-चलती कहने लगी : मैं श्रीकृष्ण हूँ, मेरी ललित गति को देखो।

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥२०॥

प्रभञ्जन तथा वर्षा से मत डरो। मैंने उनसे तुम्हारी रक्षा कर दी है। यह कहकर एक हाथ से प्रयत्न करती हुई एक गोपी ने अपना उत्तरीय वस्त्र ऊपर की तरफ उठाया।

(१) यह गोवर्धनधारण-लीला की अनुकृति का संकेत करता है।[1] यद्यपि प्रस्तुत समय में प्रभंजन तथा वर्षा की विद्यमानता नहीं थी किन्तु केवल कृष्णमयता के कारण उस गोपी में तद्भाव का उद्रेक प्रकट हो गया था।

आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरा नृप ।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥२१॥

हे राजन्! एक गोपी ने दूसरी गोपी के प्रति चरण से आक्रमण करके

---

१. **इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।**
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः । श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, २५, १९।

उसके मस्तक पर चढ़कर कहा--अरे दुष्ट सर्प ! चला जा। दुष्टों के लिए दण्ड धारण करने के लिए मैं प्रकट हुआ हूँ।

(१) यहां एक गोपी श्रीकृष्ण के तुल्य व्यवहार कर रही है। दूसरी गोपी कालिय नाग के समान आचरणशील है। प्रथम गोपी द्वितीय के प्रति चरणघातपूर्वक श्रीकृष्ण की कालियदमन-लीला[1] की अनुकृति उपस्थित कर रही है।

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम्।
चक्षूंष्याशवपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥२२॥

उस समय एक गोपी ने कहा--अरे गोपो ! इस भयङ्कर दावानल को देखो। तुम सब शीघ्र अपने नेत्र बन्द कर लो। मैं निश्चित रूप से तुम्हारा कल्याण करूँगा।

(१) यह श्रीकृष्ण की दावानलपानलीला का अनुकरण है।[2] यहां एक गोपी श्रीकृष्ण बनी हुई है। अन्यान्य गोपियां गोपकुमारों का अनुकरण करती हुई दावानल की प्रतिक्षण वर्धमान ज्वालाओं के भय से आक्रान्त होने के भाव का अनुकरण कर रही हैं। उन्हीं के लिए "हे गोपाः !" सम्बोधन का प्रयोग किया गया है।

बद्धान्यया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले।
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥२३॥

किसी कृशोदरी गोपी को एक दूसरी गोपी ने वहां उलूखल में माला से बांध दिया। वह भयभीत गोपी अपने सुन्दर नेत्रों वाले मुख को ढक कर भय के भाव का अनुकरण करने लगी।

(१) (क) यहां एक गोपी ने व्रजेश्वरी श्रीयशोदा के भाव का अनुकरण किया। दूसरी गोपी ने श्रीकृष्ण के बालभाव को स्वीकार किया। तीसरी गोपी ने उलूखल में बनने का उपक्रम किया। श्रीकृष्ण के बालभाव का अनुकरण करने वाली गोपी ने भय की चेष्टा का उसी प्रकार अनुकरण किया जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने श्रीयशोदा के द्वारा उलूखल से बांधे जाने पर किया था।

(ख) यहां पर श्रीकृष्ण की उलूखललीला[3] की अनुकृति का निर्देश किया गया है। इस लीला की अनुकृति में दो गोपियों द्वारा यमलार्जुन की अनुकृति की गई थी और श्रीकृष्ण की

---

१. **कालियदमनलीला**। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, १६, ४-३२।

२. **(क) दावानलपानलीला**। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, १९, ७-१२।
(ख) तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्वणम्।
पीत्वा मुखेन तान्कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत्। श्रीमद्भागवत, १०, १९, १२।

३. **उलूखलोत्पाटनलीला**। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, १०, २४-२७।

अनुकृति करने वाली गोपी ने उलूखल के झटके से उनको गिराकर उखाड़ने के भाव का अनुकरण किया था। यद्यपि यमलार्जुन का संकेत इस श्लोक में नहीं किया गया है । तथापि उलूखललीला के प्रसंग से इस संकेत का तथा उलूखलोत्पाटनक्रिया की अनुकृति को भी प्रच्छन्न मानना चाहिए। श्रीयशोदा की अनुकृति से यहाँ केवल चेष्टा की अनुकृति मात्र से तात्पर्य है, भावानुकृति से नहीं। अन्यथा रासलीला में रसभंग हो जायगा।

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥२४॥

इस प्रकार वृन्दावन की लताओं तथा वृक्षों को श्रीकृष्ण के विषय में पूछती-पूछती गोपियों ने वन के एक स्थान में परमात्मा के चरण-चिह्नों को देखा।

(१) ऐसा प्रतीत होता है कि एक तरफ तो समस्त गोपियां भगवान् के विरह में व्याकुल भगवान् की नाना प्रकार की लीलाओं का अनुकरण कर रही थीं। लता पताकाओं से पूछ-पूछ कर श्रीकृष्ण को ढूंढ रही थीं। दूसरी तरफ श्रीकृष्ण श्रीप्रिया के साथ वन में एकान्तविहार कर रहे थे। भगवान् का यह विहार, श्रीप्रिया के लिए पुष्पचयन, नीलेन्दीवर के कंगननिर्माण, केतकी के कर्णाभरणों की रचना, वेणीबन्ध तथा कुन्तलकलाप में धम्मिल्लरचना आदि क्रियाओं में अनुस्यूत था। अन्तिम दोनों लीलायें भगवान् ने श्रीप्रिया के साथ एक स्थान पर बैठ कर की थीं। इसी समय भगवान् को ढूंढती-ढूंढती गोपियां उधर आ पहुंचीं और नन्दनन्दन तत्काल वहां से आगे खिसक गये। इसी के पश्चात् गोपसुन्दरियां वहां आकर भगवान् के चरणचिह्न देखने लगी थीं।

(२) यहां गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण के लिए परमात्मा शब्द का प्रयोग बताता है कि गोपियों के मन में परमात्मबुद्धि उत्पन्न हो चुकी थी।

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः ॥२५॥

ये चरणचिह्न अवश्य ही नन्दनन्दन महात्मा श्रीकृष्ण के हैं क्योंकि ये ध्वज, कमल, वज्र, अंकुश तथा यव आदि से संलक्षित हो रहे हैं।

(१) यवादि। यहां आदि पद से श्रीकृष्ण के चरण में चिह्नित अन्यान्य चिह्नों का ग्रहण किया जाता है। वैष्णव साम्प्रदायिक ग्रन्थों के आधार पर भगवान् के चरणों में निम्नलिखित चिह्न अंकित माने जाते हैं। विष्णुपुराण में ध्वज, वज्र, अंकुश तथा अम्भोज चिह्न स्वीकार किये गये हैं।[१]

---

१. **ध्वजवज्राङ्कुशाब्जाङ्कूरेखावन्त्यालि पश्यत।**
पदान्येतानि कृष्णस्य लीलाललितगामिनः। विष्णुपुराण, ५, १३, ३२।

(क) भगवान् के दाहिने चरण के ग्यारह चिह्न :

१—ध्वज। अम्भोज के नीचे ध्वज रहता है। इसका ध्यान सम्पूर्ण अनर्थों का विनाशक हैं।

२—अम्भोज। मध्यमा अंगुली के मूल में स्थित होता है। इसकी शोभा अद्-भुत है। ध्यान में इसकी रूपमाधुरी का रसास्वाद करने वाला आनन्द-सुधासागर में डूब जाता है।

३—वज्र। कनिष्ठिका अंगुली के मूल में है। इसके ध्यान से दुरितक्षय होता है।

४—अंकुश। एड़ी में स्थापित है। इसका ध्यान साधक के चित्त को वश में ले आता है।

५—यव। अंगूठे के पर्व में रहता है।

६—स्वस्तिक। आधे चरण के नीचे चारों तरफ मंगलसूचक चार स्वस्तिक हैं।

७—ऊर्ध्वरेखा। अंगुष्ठ तथा तर्जनी अंगुली के मध्य से प्रारम्भ करके चरण के मध्य भाग तक है।

८—अष्टकोण। अष्ट कोण की स्थिति चारों स्वस्तिक के मध्य में स्वीकार की जाती है। ये अष्ट लोकपालों का प्रतिनिधान करते हैं और भक्त की आज्ञा में खड़े रहते हैं। इसके ध्यानमात्र से अणिमा, महिमा, लघिमा आदि आठों सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं।

९—चक्र। अंगूठे के मूल में होता है। इसके द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य के विनाश की भावना और चिद्ग्रन्थि के छेदन की बुद्धि है।

१०—छत्र। चक्र के नीचे होता है।

११—जम्बूफल। चारों स्वस्तिक के कोण में चार जम्बूफल के आकार के चिह्न होते हैं।

(ख) भगवान् के बायें चरण के आठ चिह्न :

१—शंख। शंख के ध्यान से बुद्धि की जड़ता तथा मन्दता नष्ट हो जाती है और सात्विक बुद्धि के आलोक में सम्पूर्ण विद्याएं प्रकट हो जाती हैं। अंगूठे के मूल में शंख की स्थिति है।

२—इन्द्रधनुष—शंख के नीचे इन्द्रधनुष होता है। इसमें प्रत्यञ्चा नहीं रहती।

३—गोष्पद। इन्द्रधनुष के मूल में गोष्पद का चिह्न है।

४—त्रिकोण। गोष्पद के नीचे त्रिकोण हैं। इसके ध्यान से त्रिलोकी का ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। किन्तु भक्त भगवान् की चरणधूलि के अति-रिक्त कुछ कामना नहीं करते।

५—कलश। त्रिकोण के पास चार कलश के आकार के चिह्न अंकित हैं।

६—अर्धचन्द्र। त्रिकोण के नीचे अर्धचन्द्र की स्थिति है।

७—अम्बर। इसको बिन्दु भी कहा जाता है। अर्धचन्द्र का भी अग्र बिन्दु है।
८—मत्स्य। अर्धचन्द्र के समीप मत्स्याकार चिह्न है।[1]

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्त्ताः समब्रुवन् ॥२६॥

उन-उन चिह्नों के द्वारा भगवान् के मार्ग को ढूँढती हुई अबला गोपियों ने आगे किसी अन्य वधू के चरणचिह्नों में मिले हुए चिह्नों को देखकर दुःखित होकर कहना प्रारम्भ किया।

(१) वैष्णव परम्परा में श्रीप्रिया के चरण में निम्नलिखित चिह्नों की स्थिति स्वीकार की गई है :—

(क) श्रीप्रिया के दाहिने चरण के ग्यारह चिह्न।
१—यव। अंगुष्ठ के पोरवे में होता है।
२—चक्र। अंगुष्ठ के मूल में चक्र है।
३—छत्र। चक्र के नीचे छत्र है।
४—कंकन। छत्र के नीचे कंकन की स्थिति है।
५—ऊर्ध्व रेखा। तर्जनी अंगुली से प्रारम्भ करके चरण के मध्य तक आने वाली रेखा है।
६—अम्भोज। मध्यमा अंगुली के नीचे अम्भोज है।
७—ध्वज। अम्भोज के नीचे ध्वज है।
८—बेल। ध्वज के नीचे बेल है।
९—पुष्प। बेल के नीचे पुष्प है।
१०—अंकुश। कनिष्ठिका अंगुली के नीचे अंकुश है।
११—अर्धचंद्र। एडी में अर्धचन्द्र होता है।

(ख) श्रीप्रिया के बायें चरण के आठ चिह्न।
१—शंख। अंगूठे के मूलप्रदेश में शंख है।
२—गदा। शंख के नीचे गदा की स्थिति है।
३—वेदी। कनिष्ठिका अंगुली के नीचे वेदी है।
४—कुण्डल। वेदी के नीचे कुण्डल है।
५—शक्ति। कुण्डल के नीचे शक्ति है।
६—पर्वत। तर्जनी अंगुली के नीचे पर्वताकार चिह्न हैं।
७—रथ। पर्वत के नीचे रथ अंकित है।
८—मत्स्य। एडी में मत्स्य का आकार है।

---

१. श्रीभगवत्तत्व, स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, काशी, सं० १९९७, पृ० ६२०–२३।

परमहंसों को इस अर्थ की प्रतीति होती है कि साधना में भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा बढ़ते-बढ़ते पहले भगवान् के चरणों का दर्शन होता है तत्पश्चात् श्रीप्रिया के चरणों का दर्शन संभव है।

कस्याः पदानि चैतानि यातायां नन्दसूनुना।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥२७॥

जिसके कंधे पर श्रीकृष्ण ने अपना हाथ रख रखा है, ऐसी नन्दनन्दन के साथ जाने वाली किस गोप-सुन्दरी के ये चरणचिह्न हैं। जैसे हाथी के साथ हथिनी हो।

(१) इस प्रसंग की दोनों प्रकार से व्याख्या की जा सकती है:

(क) भगवान् ने श्रीप्रिया के कंधे पर हाथ रख रखा था।

(ख) श्रीप्रिया ने भगवान् के कंधे पर हाथ रख रखा था।

दोनों व्याख्याओं में प्रथम व्याख्या अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है। जिस प्रकार प्रसन्नता से प्रमुदित गजराज अपनी सूंड हथिनी के कंधे पर टिका कर मस्त होकर भ्रमण करता है, उसी प्रकार भगवान् भी आनन्द के प्रकर्ष में श्रीप्रिया का सहारा लेकर चल रहे थे। द्वितीय व्याख्या स्वीकार करने पर यह भाव प्रकट होता है कि श्रीप्रिया अपनी त्रिलोकरमणीय सुकुमारता के कारण चलते-चलते थक गई थीं। धीरे-धीरे उनके पैर स्खलित होने लगे तो उन्होंने भगवान् के कन्धे का सहारा ले लिया था।

(२) यहां यदि श्रीकृष्ण को सांख्य का पुरुष तथा श्रीप्रिया को प्रकृति का प्रतिनिधि माना जाय तो साधक को इस अर्थ का बोध होगा कि प्रकृति के समस्त चिह्नों के ज्ञान के पश्चात् पुरुष तथा प्रकृति का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है।

(३) विष्णुपुराण ने भी इस गोपसुन्दरी का नामनिर्देश नहीं किया। केवल इतना ही लिखा कि कोई पुण्यवती मदालसा श्रीकृष्ण के साथ गई है जिसके घने और छोटे-छोटे चरणचिह्न हैं।[१]

(४) रासक्रीड़ा के वर्णनप्रसंग में नारायणीय में श्रीराधा का नाम स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।[२] यह भी स्पष्ट है कि गर्वशून्य राधा नामिका गोपवधू को ही साथ लेकर श्रीकृष्ण एकान्त विहार के हेतु गये थे।[३] लोलिम्बराजविरचित हरिविलास के द्वितीय सर्ग में रासक्रीड़ा-वर्णन में राधा का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[४]

---

१. **कापि तेन समायाता कृतपुण्या मदालसा।**
पदानि तस्याश्चैतानि घनान्यल्पतनूनि च। विष्णुपुराण, ५, १३, ३३।

२. **राधातुङ्गपयोधरसाधुपरीरम्भलोलुपात्मानम्।** नारायणीय, ६६, १०।

३. **राधाभिधां तावदजातगर्वामतिप्रियां गोपवधूं मुरारे।**
भवानुपादाय गतो विदूरं तया सह स्वैरविहारकारी। नारायणीय, ६७, ३।

४. **रवच्छदस्फूर्जदलक्तरागा कस्तूरिकापङ्कृताङ्गरागा।**
राधा तदालोकनसानुरागा श्रीरागरागालपनं चकार। हरिविलास, २ २७।

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥२८॥

यह निश्चित है कि इस गोपी ने भगवान् ईश्वर हरि की आराधना की थी, जिस कारण से प्रसन्न होकर गोविन्द हमें छोड़कर इसको एकान्त में ले गये हैं।

(१) रासलीला के अवसर पर गोपियां चार प्रकार के यूथों में बंटी हुई थीं।

(क) स्वपक्षीय यूथ की गोपियां। प्रथम पक्ष की गोपियों का अपनी यूथेश्वरी के प्रति अनन्यसाधारण प्रेम रहता है। अपनी गांभीर्यपूर्ण प्रकृति के कारण ये मौन रहीं।

(ख) प्रतिपक्षीय यूथ की गोपियां। द्वितीय पक्ष की गोपियां भी मौन रहीं। इसका प्रधान कारण था उनके मन में प्रतिपक्ष की भावना की विद्यमानता। यह भावना उनकी अपने में दुःख की अनुभूति का कारण बन जाती है। फलतः ये गोपियां भी चुप रहीं।

(ग) तटस्थपक्षीय यूथ की गोपियां। तृतीय पक्ष की गोपियां तटस्थ होती हैं। इस पक्ष की गोपियों ने श्रीकृष्ण के चरणचिह्न के साथ श्रीप्रिया के चरणचिह्न देखकर भी अपनी तटस्थवृत्ति के कारण औदासीन्य भाव प्रकट किया और मौन रहीं।

(घ) सुहृत्पक्षीय यूथ की गोपियां। चतुर्थ पक्ष की गोपियों का अपनी यूथेश्वरी के प्रति सौहार्दभाव रहता है। इसी भाव से अनुप्रेरित होकर ये अपनी स्वामिनी के हित के प्रति उन्मुख होती हैं। किन्तु इस हित की भावना में सर्वात्मना सार्वभौम हित की चिरन्तन सत्ता का आदर्श नहीं होता। अपने व्यक्तिगत हित की भावना का विलास भी विद्यमान रहता है। प्रस्तुत वाग्विन्यास इसी पक्ष की गोपियों द्वारा कथित है।

(२) इस श्लोक में श्रीकृष्ण के लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है।

(क) भगवान्। यह पद षडैश्वर्यसम्पन्नता को व्यक्त करता है।

(ख) हरि। इसका आशय है कि श्रीकृष्ण समस्त दुःखों का हरण करने की शक्ति से जुष्ट हैं।

(ग) ईश्वर। इससे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण भक्तों की रक्षा के लिए समर्थ हैं।

इन तीन प्रकार की विशेषताओं से युक्त भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना का ही तात्कालिक परिणाम प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर इस गोपी को एकान्त में ले गये हैं।

धन्या अहो ! अमी आल्यो गोविन्दांघ्र्यब्जरेणवः ।
यान्ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥२९॥

हे सखियो ! भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के ये धूलिकण धन्य हैं जिनको ब्रह्मा, महेश तथा भगवती लक्ष्मी ने अपने दुःख का अपनोदन करने के लिए मस्तक पर धारण किया था।

(१) यह तृतीय श्रेणी की तटस्थपक्षीय गोपियों की उक्ति है। इनका भगवान् के

अन्यान्य विहार के प्रति सर्वथा उदासीन भाव रहता है। ये केवल अपनी स्नेह की धारा में डूब कर आनन्दामृत का पान करने के लिए विभोर रहती हैं।

(२) यहां गोपियों का यह भाव प्रकट होता है कि भगवान् की चरणधूलि के जिन कणों को ब्रह्मादिक देव अपने मस्तक पर धारण करके परम पवित्रता की सन्निधि का अनुभव करते हैं। अपने समस्त दुःखों के नाश की परिकल्पना करते हैं। उन कणों के स्पर्श से यह असंदिग्ध है कि हम गोपियों का भी समस्त विरहजन्य दुःख तत्काल नष्ट हो जायगा। यहां देवपक्ष में अघ पद का अर्थ केवल अपराधजन्य दुःख है और गोपियों के पक्ष में विरहजन्य दुःख है।

तस्या अमूनि न क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुंक्तेऽच्युताधरम् ॥३०॥

उस गोपरमणी के ये चरणचिह्न हमारे प्रति अत्यधिक क्षोभ को उत्पन्न कर रहे हैं, जो गोपियों के अच्युत श्रीकृष्ण के अधर का अपहरण करके अकेली भोग कर रही है।

(१) यह द्वितीय श्रेणी की प्रतिपक्षीय गोपियों का कथन है। ये गोपियां तृतीय श्रेणी की गोपियों की उदासीनवृत्ति से उत्तेजित होकर भगवान् के साथ एकान्त में रमणनिष्ठ एकाकिनी श्रीप्रिया के भोग ऐश्वर्य से ईर्ष्या करती हुई कह रही हैं। यहां क्षोभ का अर्थ ईर्ष्या के कारण सहन नहीं की जाने वाली जलन समझना चाहिए। इस पक्ष की गोपियों के क्षोभ का प्रधान कारण श्रीकृष्ण के चरणचिह्न के साथ किसी गोपीविशेष के चरणचिह्नों की उपस्थिति था।

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणांकुरैः।
खिद्यत्सुजातांघ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥३१॥

यहां उस गोपी के चरणचिह्न नहीं दिखते। निश्चित ही प्रिय श्रीकृष्ण ने तृणांकुरों से पीड़ित सुकुमार चरणतलवाली प्रियतमा को कंधे पर उठा लिया है।

(१) यह भी प्रतिपक्षीय श्रेणी की गोपियों की उक्ति है।

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम्।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः ॥३२॥

हे गोपियो! वधू को ले जाने वाले, भार से आक्रान्त, प्रेमी श्रीकृष्ण के अधिक गहरे धंसे हुए इन चरणचिह्नों को देखो।

(१) यह भी प्रतिपक्षीय गोपियों की उक्ति है। जब श्रीकृष्ण श्रीप्रिया को कन्धे पर चढ़ा कर ले जा रहे थे, तो भार के कारण उनके चरणचिह्न अधिक गहरे पृथ्वी पर उभरे हुए थे। इन्हीं को देखकर गोपियों की यह वचनभंगी है।

अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना ।
अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः ।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥३३॥

महात्मा श्रीकृष्ण ने पुष्पों के हेतु श्रीप्रिया को यहां पर नीचे उतार दिया है। यहां पर प्रियतम ने श्रीप्रिया के लिए पुष्पों का चयन किया है। चरणों के अग्रभाग पर खड़े होने के क्रम से इन अधूरे चरणचिह्नों को देखो।

(१) भगवान् को ढूंढते-ढूंढते गोपियां वन में घूम रही हैं और जैसे जैसे भगवान् के चिह्न मिलते जाते हैं, उनका वर्णन करती जा रही हैं। कुछ ऊंची शाखाओं पर लगे हुए आकर्षक पुष्पों का चयन करने के लिए श्रीकृष्ण जरा ऊंचे होकर फूल तोड़ रहे थे। इस प्रकार चरण के अग्रभाग चिह्नित थे। इन्हीं को देखकर गोपियां कह रही हैं।

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥३४॥

यहां पर तो प्रेमी श्रीकृष्ण ने प्रेमिका के केशों का प्रसाधन किया है। यहां पर पुष्पों द्वारा कान्ता को मण्डित करते हुए बैठे हैं।

(१) भगवान् तथा श्रीप्रिया के एक स्थान पर बैठने से बनने वाले चिह्नों को देखकर गोपियां यह अनुमान कर रही हैं कि यहां श्रीकृष्ण ने केशसज्जा की होगी और यहां अपने स्वयं के तोड़कर एकत्रित किये हुए पुष्पों द्वारा श्रीप्रिया के जूड़े को सजाया होगा। शृंगार के इन चिह्नों द्वारा गोपियों को निश्चय हो गया था कि उनके अन्वेषण की पथदिशा सत्य है और भगवान् उसी तरफ गये हैं।

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन्दैन्यं स्त्रीणाञ्चैव दुरात्मताम् ॥३५॥

आत्मरत, आत्माराम, अखण्डित भी श्रीकृष्ण कामपरायण पुरुषों की दीनता तथा स्त्रियों की कुटिलता को दिखाते हुए उस गोपी के साथ रमण करने लगे।

(१) प्रस्तुत श्लोक में भगवान् की महिमा को अभिव्यक्त करने के लिए तीन विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग किया गया है।

(क) आत्मरत। इसका तात्पर्य है कि भगवान् सदा अपनी ही आत्मा के आनन्दविलास से सन्तुष्ट रहते हैं। यहां आत्मन् शब्द द्वारा वैकुंठादि समस्त लोकों, भगवती महालक्ष्मी आदि समस्त शक्तियों तथा संपूर्ण ब्रह्माण्ड का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार भगवान् का इनके प्रति अंशाशीभाव सम्बन्ध स्थापित होता है। भगवान् स्वयं अंशी हैं और समस्त लोक लोका-

न्तर उनके अंश है।[1] इस प्रकार स्वयं अपने अंशात्मक अंशी में ही आनन्दनिष्ठ रहते हैं। किसी अन्य वस्तुजात की अपेक्षा नहीं करते।

(ख) आत्माराम। यहां आत्मन् शब्द परमानन्दपरक है। अपने स्वरूपानन्द में ही श्रीकृष्ण की नित्य रमणसत्ता स्वीकार की गई है। इसी दृष्टि से श्रीराधा का ग्रहण करने के उद्देश्य से "तया" पद का प्रयोग किया है कि भगवान् ने अपनी वैकुंठ की अधिष्ठात्री देवी श्रीमहालक्ष्मी की भी अपेक्षा उन्हीं श्रीराधा के साथ रमण किया। क्योंकि वे ही ह्लादिनीशक्तिस्वरूपा परमानन्द की प्रतीक थीं।

(ग) अखण्डित। इसके दो आशय हैं। प्रथम आशय है कि भगवान् कभी भी अपने स्वरूप से खण्डित नहीं होते। द्वितीय आशय है कि जिस प्रकार वैकुंठ की स्वामिनी श्रीलक्ष्मी का साहचर्य खण्डित हो गया, उस प्रकार श्रीप्रिया राधा के साहचर्य से कभी भी खण्डित नहीं होते और सामान्य कामिनी के सम्बन्ध से विलास भाव का स्पर्श नहीं करते।

(२) भगवान् की इस लीला के दो कारण थे :

(क) कामियों की दीनता प्रकट करना।

(ख) स्त्रियों की कुटिल मनोवृत्ति पर प्रकाश डालना। इन्हीं दोनों की जगत् को शिक्षा देने के लिए श्रीकृष्ण लीला करने लगे। वास्तव में दैन्यभाव का सम्बन्ध केवल आसक्ति तथा वासना से होता है। जहां इन दोनों विकारों का संश्लेष नहीं होता, वहां आत्मानन्द में परम तृप्ति स्वयं उत्पन्न हो जाती है।

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः।
यां गोपीमनयत्कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥३६॥
सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥३७॥

व्याकुल अन्तःकरण वाली वे गोपियां इस प्रकार चिह्न दिखलाती हुई घूम रही थीं। अन्य गोपियों को वन में छोड़कर श्रीकृष्ण जिस गोपी को ले गये थे, वह भी उस समय अपने को समस्त स्त्रियों में श्रेष्ठ मानने लगी कि प्रिय श्रीकृष्ण कामना करने वाली गोपियों को छोड़कर मुझे भज रहे हैं।

(१) एक तरफ तो गोपसुन्दरियों के झुण्ड के झुण्ड भगवान् को ढूंढते-ढूंढते वन में भटक रहे थे। उन्हें कहीं श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों के दर्शन हो जाते थे, तो कहीं प्रसाधन में बिखरे हुए पुष्पादि चिह्न मिल जाते थे। उधर दूसरी तरफ भगवान् जिस गोपी को साथ ले गये थे, उसके मन में भी धीरे-धीरे अहंकार के अंकुर प्रकट होने लगे और वह सोचने लगी कि मेरे से अधिक भाग्यशालिनी और कौन होगी कि त्रिभुवन-कमनीय श्यामसुन्दर समस्त गोपियों को छोड़ कर केवल मेरे साथ मेरी इच्छा के अनुसार विहार कर रहे हैं।

---

१. **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**। श्रीमद्भगवद्गीता, १५, ७।

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् ।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥३८॥

तत्पश्चात् वन के एक स्थान पर जाकर गर्विता होकर श्रीकृष्ण को बोली, "अब मैं चलने में समर्थ नहीं हूँ, जहां तुम्हारा मन हो मुझे ले चलो ।"

(१) श्रीकृष्ण के लिए यहां 'केशव' शब्द का प्रयोग किया गया है। केशव का अर्थ है जो केशों को गूंथता है ।[1] इस प्रकार इस गोपी ने श्रीकृष्ण को अपने निकट अतीत में किये हुए केश-शृंगार का स्मरण कराकर अपने सौन्दर्य के ऐश्वर्य को व्यक्त किया है।

(२) इस श्लोक से परमहंसों को यह भाव प्रकट होता है कि जिस समय तक केवल श्रीकृष्ण के प्रति समस्त वृत्तियां लगी रहती हैं तब तक परमानन्द के अतिशय के कारण अन्य किसी भाव का स्फुरण नहीं होता। जैसे एकान्त में श्रीप्रिया की श्रीकृष्ण के प्रति तल्लीन मनोवृत्ति। इस तल्लीनता में जब भी कोई अन्य भाव प्रकट होता है, तो आनन्दाभास हो जाता है। जैसे इस विशेष गोपी की वृत्ति का अन्यान्य गोपियों की ओर आकृष्ट होना। आकृष्ट होते ही वह परमानन्द की परिधि से निकल कर गर्व की परिधि में प्रविष्ट हो जाती है।

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति ।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥३९॥

इस प्रकार कहे हुए श्रीकृष्ण ने श्रीप्रिया को कहा, 'हमारे कंधे पर चढ़ जाओ ।" जब वह चढ़ने को उद्यत हुई तो श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये और वह वधू दुःखी होकर विलाप करने लगी।

(१) श्रीप्रिया का भगवान् के प्रति यह कथन कि "अब मेरी स्वयं चलने की शक्ति नहीं है, जहां तुम्हारा मन हो अपने कंधे पर उठा कर ले जाओ ।" यह बताता है कि वे स्वाधीनपतिका थीं। जिसके आधीन प्रियतम रहता है उस नायिका के लिए इस शब्द का व्यवहार किया जाता है।

(२) यहां भगवान् के अन्तर्धान होने के दो प्रयोजन थे :

(क) अपनी परमप्रिय गोपीश्वरी श्रीराधा को भी एकान्त में एकाकिनी छोड़कर अन्यान्य गोपियों को अपनी समदृष्टि का बोध कराते हुए उनके मन की ईर्ष्यावृत्ति का नाश करना प्रथम प्रयोजन था।

(ख) द्वितीय प्रयोजन की प्रतीति परमहंसों को हो रही थी कि जब भी साधक के मन में अहंकार का उदय होता है तो भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं। साधना में जब सिद्धियां प्रकट होने लगती है, तब साधक को अपनी अहंकारात्मक वृत्तियों के निरोध का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा भगवत्प्राप्ति से वियोग अवश्यंभावी है।

---

१. केशान् वयते ग्रथ्नाति, इति केशवः। वृषणवतोषिणी। श्रीमद्भागवतम् पृ० ११६९ (१०, ३०, ३८) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन।

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥४०॥

हे नाथ, हे रमण, हे प्रियतम, हे महाभुज, तुम कहां हो, तुम कहां हो ? हे सखे ! तुम्हारी कातर दासी को अपने सान्निध्य का दर्शन कराओ ।

(१) यहां भगवान् के लिए निम्नलिखित पांच विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

(क) नाथ। प्रथम विशेषण के द्वारा इस गोपी ने श्रीकृष्ण में अपनी सम्पूर्ण रक्षा के भार का विन्यास किया है। नाथ का अर्थ यहां पालन करने वाला है।[1] अर्थात् आप तो हमारे परिपालक हैं।

(ख) रमण। द्वितीय विशेषण से सर्वविध सुख का विधान करने वाले प्रियतम का संकेत है। जो नित्य अपनी प्रिया को रमण कराता है।

(ग) प्रेष्ठ। तृतीय विशेषण से श्रीकृष्ण का अत्यन्त प्रिय होना सिद्ध होता है।

(घ) महाभुज। चतुर्थ विशेषण द्वारा भुजाओं की विशालता व्यक्त होती है। इसके तीन आशय थे :

(अ) भगवद्वियोग में विशाल भुजाओं द्वारा प्राणरक्षा की प्रार्थना।

(ब) भगवदङ्गस्पर्श से अमृतसंचार द्वारा प्राणरक्षा की कल्पना।

(स) भुजाओं की विशालता द्वारा गाढ़ालिंगन की संभावना।

(ङ) सखे। पंचम विशेषण द्वारा यह भाव बताया है कि जब तुम मुझे अपनी सखी के रूप में मान चुके हो तो इस समय मेरी केवल एक अभिलाषा की पूर्त्ति करो और अपने मनोहर दर्शन द्वारा कृतार्थ करो।

(२) श्लोक के द्वितीय चरण में "तुम कहां हो" इस वाक्यांश की दो बार आवृत्ति द्वारा व्याकुलता की पराकाष्ठा और तृतीय चरण में अपने को केवल दासी के रूप में उपस्थित करके अपनी हीन मनोवृत्ति के अतिशय को व्यक्त किया है। जब तक सखीभाव रहता है, तब तक सुख का पारस्परिक आदान-प्रदान बना रहता है। सखी अपने प्रियतम से यह चाहती है कि उसे सुख की प्राप्ति हो किन्तु जब दासीभाव प्रकट हो जाता है तो केवल प्रदान होता है, आदान नहीं होता। दासी केवल अपनी सेवावृत्ति द्वारा स्वामी को सुख पहुंचाने में ही अपने समस्त कर्त्तव्य की इति-कर्त्तव्यता स्वीकार करती है।

श्रीशुकदेव ने कहा

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः ।
ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ॥४१॥

हे राजन् परीक्षित् ! इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के मार्ग को ढूंढती हुई गोपियों ने अत्यन्त निकट से प्रियतम के वियोग में मूर्छित तथा दुःखित सखी को देखा ।

---

1. A Sanskrit English Dictionary, *Monier Williams, Oxford*, 1951, p. 534.

(१) गोप्योऽविदूरतः। इस पद की दो प्रकार से व्याख्या संभव है।

(क) गोप्यः अविदूरतः। गोपियों ने निकट से देखा।

(ख) गोप्यः विदूरतः। गोपियों ने दूर से ही देख लिया।

दोनों पक्ष में देखकर पहचानने का मुख्य कारण चन्द्रमा की चन्द्रिमा का प्रकाश था। इस हेतु द्वितीय व्याख्या के पक्ष में भी दर्शन में कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता।

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिञ्च माधवात्।
अवमानञ्च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥४२॥

उस विशेष गोपी द्वारा वर्णित माधव से मान की प्राप्ति तथा अभिमान के कारण अपमान को सुनकर सभी गोपियां अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुईं।

(१) श्रीकृष्ण के लिए माधव[1] शब्द का प्रयोग उनका भगवती महालक्ष्मी के प्रिय पति के स्वरूप का संकेत करता है। सर्वविध ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् ही परम सम्मान का लाभ प्राप्त करा सकते हैं।

(क) यहां भगवत्साहचर्य तथा भगवदङ्गस्पर्श ही परम सम्मान माना गया है।

(ख) अभिमान के कारण भगवान् द्वारा त्याग करना ही अपमान समझा गया है।

(२) दौरात्म्य शब्द का सामान्य अर्थ है गर्व[2]। विशेष अर्थ है श्रीकृष्ण से श्रीप्रिया के शरीर की सुदूर स्थिति का भाव।[3]

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते।
तमःप्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः ॥४३॥

तत्पश्चात् गोपसुन्दरियों ने वहां तक वन में प्रवेश किया जहाँ तक सुधांशु की ज्योत्स्ना थी। किन्तु आगे अन्धकार का प्रवेश जानकर वहाँ से लौट आईं।

(१) जब श्रीप्रिया की मूर्च्छा नष्ट हो गई। उन्होंने अपने विशिष्ट सौभाग्य तथा गर्व के कारण श्रीकृष्ण द्वारा किये गये तिरस्कार का वर्णन किया तो गोपियों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। फिर वे श्रीप्रिया के साथ भगवान् को ढूंढने लगीं। किन्तु श्रीप्रिया को छोड़कर श्रीकृष्ण अत्यन्त घने अन्धकारपूर्ण वन में प्रवेश कर गये थे। गोपियों ने चन्द्रमा के प्रकाश में सब जगह ढूंढा किन्तु जब घोर अन्धकार का साम्राज्य निकट आ गया तो लौट आईं।

---

१. **माया: लक्ष्म्या: धव: इति माधव:।**

२. **गर्वलक्षणान्निजदौरात्म्यात्।** वैष्णवतोषिणी, श्रीमद्भागवतम् पृ० ११७६.

३. **भगवत: श्रीकृष्णचन्द्रात् दूरे आत्मा = कलेवरं यस्या: प्रियाया: सा दूरात्मा, तस्या: भाव: दौरात्म्यम्।**

(२) भगवान् के अन्धकारावृत वन में प्रवेश करने का वर्णन विष्णुपुराण में भी प्राप्त होता है कि अन्धकार से आच्छन्न वन में प्रवेश करने के पश्चात् भगवान् के चरणचिह्न गोपियों को परिलक्षित नहीं हो सकते थे।[1]

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥४४॥

श्रीकृष्ण में मन वाली, श्रीकृष्ण सम्बन्धी आलापों से युक्त, श्रीकृष्ण के लिए चेष्टा वाली, श्रीकृष्ण में ही आत्मबुद्धि वाली तथा श्रीकृष्ण के ही गुणों का गान करती हुई गोपियों ने अपने शरीरों तथा निवासस्थानों का स्मरण ही नहीं किया।

(१) यहां गोपियों की मानसिक, वाचिक, तथा शारीरिक अवस्था का वर्णन किया है।

(क) उनके मन श्रीकृष्ण में ही लगे हुए थे। सांसारिक समस्त पदार्थों से वृत्तियों के प्रत्याहार के साथ मनोवृत्तियों का श्रीकृष्ण के रूप के चिन्तन में ढलकर श्रीकृष्ण के आकार में परिणत हो जाना बताया गया है। परमहंसों को सबसे पहले योगमार्ग में मन के निग्रह की आवश्यकता बताई गई है।

(ख) उनकी वाणी के विषय भी श्रीकृष्ण थे। जितनी बातचीत हो रही थी, वह सब श्रीकृष्ण सम्बन्धी थी। मन के निग्रह के पश्चात् साधक को केवल भगवत्सम्बन्धी वार्तालाप करना चाहिए। यह अर्थ निकलता है।

(ग) उनकी सम्पूर्ण चेष्टायें श्रीकृष्ण को ढूंढने में लगी हुई थीं। साधक को यह बताया है कि मन तथा वाणी जब भगवत्परायण हो जाती है तभी सम्पूर्ण चेष्टायें भगवान् को ढूंढने लगती हैं।

(घ) श्रीकृष्ण की आत्मा के साथ गोपियों की आत्मा का अभेद सम्बन्ध स्थापित होता है। जब मन की समस्त वृत्तियां, वाणी तथा इन्द्रियों के व्यापार भगवत्परायण हो जाते हैं, तो साधक का अपने इष्ट के साथ तादात्म्य बन जाता है।

(ङ) जब साधक तथा साध्य में अभेद ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है, तो साधक अपने साध्य के गुणों के गान में ही अपनी साधना की इतिकर्त्तव्यता समझता है। यहां गोपियों के पक्ष में भगवान् की दया दाक्षिण्यादि गुणों की परम्परा का ही ग्रहण समझना चाहिए। गोपियों परित्यागरूपी दोषों का स्मरण गोपियों ने नहीं किया।

(च) जब केवल भगवद्गुणानुवाद में एकनिष्ठा का उदय हो जाता है तो शरीर तथा सदन की सुधि नहीं रहती।

---

१. **प्रविष्टो गहनं कृष्णः पदमत्र न लक्ष्यते ।**
निवर्त्तध्वं शशाङ्कस्य नैतद्दीधितिगोचरे । विष्णुपुराण, ५, १३, ४१ ।

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः ।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकांक्षिताः ॥४५॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण में भावना वाली तथा श्रीकृष्ण के आगमन में आकाँक्षा वाली गोपियों ने कालिन्दी के तीर पर आकर, एकत्रित होकर श्रीकृष्ण के विषय में गान प्रारम्भ किया ।

(१) श्रीकृष्ण को ढूंढते-ढूंढते जब बहुत समय व्यतीत हो गया तो गोपियों ने यमुना-तट पर लौट कर सामूहिक रूप से श्रीकृष्णसम्बन्धी गान प्रारम्भ किया । इसके दो आशय थे ।

(क) वन के शांत वातावरण में संगीत की तरंगें वायुमण्डल को सरलता से आपूरित कर सकती हैं । संगीत की भव्यरिमा से खिंचकर श्रीकृष्ण के प्रत्यावर्त्तन की आशा ही गान में प्रेरक बनी थी ।

(ख) भगवान् विष्णु ने स्वयं कहा है कि मैं वैकुंठ में तथा योगियों के हृदय में निवास नहीं करता किन्तु जहां मेरे भक्त गाते हैं वहां निवास करता हूं ।[1] ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में भी इसी प्रकार का उल्लेख है कि जहां श्रीकृष्ण की कथाओं का गान होता है, वहीं समस्त देवता, ऋषि, मुनि तथा तीर्थ निवास करते हैं ।[2] इसी वचन की सत्यता को मन में रख कर गोपियों ने गान प्रारंभ किया था कि हमारे गान को सुनकर अपनी उक्ति को यथार्थ करने के लिए भगवान् को दर्शन देने ही पड़ेंगे ।

(ग) इस गान से यहां संकीर्तन का भी अर्थ प्रकट होता है । मूल में गान क्रिया का कर्म 'कृष्णं पद' द्वितीया के एकवचन में है । इसका प्रथम अर्थ यही निकलता है कि गोपियों ने केवल कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण इस श्रीकृष्ण के नाम का उच्चस्वर से कीर्त्तन के रूप में एकसाथ मिलकर गान किया था ।

---

१. **नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।**
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥ पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, ९२, २२ ।

२. **यत्र कृष्णकथाः सन्ति तत्रैव सर्वदेवताः ।**
ऋषयो मुनयश्चैव तीर्थानि निखिलानि च ॥ ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड १, २८ ।

तीसरा अध्याय

गोपियां बोलीं

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ।।१।।

हे प्रियतम ! तुम्हारे जन्म से इस व्रजमण्डल ने अधिकाधिक परम उत्कर्ष को प्राप्त किया है, क्योंकि भगवती लक्ष्मी ने अपने निरन्तर निवास के लिए इसी का आश्रय लिया है । देखो, तुम्हारे में अपने प्राणों को स्थापित करने वाली तुम्हारी गोपियां प्रत्येक दिशा में तुम्हें ढूंढ रही हैं ।

(१) यहां दयित शब्द का प्रियतम के अर्थ में प्रयोग गोपियों के अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली दीनता से दयासागर भगवान् के हृदय में नित्य निवास करने वाली अनुकम्पा के सम्बन्ध को प्रकट करता है। कोषसाहित्य में दयित शब्द की दो प्रकार की व्युत्पत्ति प्राप्त होती है ।

(क) जो दया करते हैं ।

(ख) जो चित्त को स्वीकार करते हैं ।[1]

इस प्रकार दयित शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप में यह भाव प्रकट करता है कि गोपियों का अभिप्राय एक मीठे उपालम्भ के साथ भगवान् के हृदय में दया उत्पन्न करने का था कि जब तुमने हमारे हृदय को स्वीकार कर लिया है तो फिर दया नहीं करना उचित प्रतीत नहीं होता ।

(२) दृश्यताम् । इस पद से तीन अर्थ प्रकट होते हैं :

१. आप देखो । २. हम आपको देखें । ३. आप यह देखो ।[2]

(क) कितने आश्चर्य की बात है कि जब समस्त व्रजमण्डल परम आनन्दसुधा-सिन्धु में मग्न है, तो हम तुम्हारी होकर तुम्हीं को ढूंढ रही हैं ।

(ख) यह तो सर्वथा उचित ही है क्योंकि जब हमने अपने प्राण ही तुम में स्थापित कर दिये हैं तो अपने प्राणभूत तुम्हें नहीं ढूंढें तो क्या करें ।

(३) इन्दिरा शब्द का प्रयोग सर्वविध ऐश्वर्यातिशय तथा उसकी अधिष्ठात्री स्वयं भगवती लक्ष्मी के तादात्म्य सम्बन्ध को प्रकट करता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार तुम्हारा

---

१. **दयते अनुकम्पते इति दयितः; दयते चित्तमादत्ते इति दयितः ।** वैष्णवतोषिणी ।
श्रीमद्भागवतम् पृ० ११८७ (१०, ३१, १) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन ।

२. (क) **त्वया दृश्यतां = नयनगोचरास्पदीभूयताम् ।**
(ख) **अस्माभिर्भवान् दृश्यताम् ।**
(ग) **त्वयैतद् दृश्यताम् ।**

जन्म इस व्रजभूमि में हुआ है, उसी प्रकार भगवती लक्ष्मी भी अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ इस स्थान में निरन्तर निवास करने लगी है। इस प्रकार समस्त व्रजमंडल तुम्हारे तथा लक्ष्मी के प्रादुर्भाव व चिरन्तन स्थिरता से परम मंगलयुक्त हो रहा है। हम ही ऐसी मन्दभागिनी हैं जो तुम्हारे दर्शन के वियोग में इधर-उधर ढूंढती फिर रही हैं। फिर कितनी आश्चर्य की बात है कि तुम हमारे वियोगदुःख को नहीं जानते। वास्तव में तुम तो सर्वज्ञ हो, अनुकम्पा के सागर हो, फिर हमारे प्राण तुम्हारे पास हैं, अतः हमारे दुःख से अपरिचित होना तुम्हारे लिए सम्भव नहीं है। केवल इतना बता दो कि तुम कहां हो ! तुम्हारे लिए तो सभी शास्त्र एक स्वर से पुकार पुकार कर कहते हैं कि तुम अपने भक्तों के दुःख से तत्काल कातर हो जाते हो।[1] फिर हम भी तो तुम्हारी हैं। हमें तो केवल एक ही बात का दुःख है कि हम तुम्हारी हैं, तुमने हमारे हृदयों को स्वीकार किया है और फिर हम तुम्हें ढूंढती हैं। यदि तुम्हारी नहीं होतीं तो इतना दुःख नहीं होता।

(४) यदि कहा जाय कि प्रियतम के वियोग में प्रियतमा जीवित नहीं रहती फिर तुम्हारा कैसा प्रेम है। तो 'त्वयि धृतासवः' पद से इस शंका का निवारण होता है। हमने तो अपने प्राण तुमको दे रखे हैं। जब प्राण तुम्हारे पास हैं तो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा समस्त इन्द्रियां भी तुम्हारे पास हैं। फिर नाश सम्भव नहीं। हम तो केवल अपने प्राणों के साथ तुम्हें फिर प्राप्त करने की आशा में जीवित हैं।

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥२॥

हे सुरतनाथ ! तुम्हारे नेत्र ने शरद् ऋतु के सुन्दर जलाशयों में उत्पन्न होने वाले सर्वोत्तम कमलों के अन्तर्भाग की कान्ति को चुराया है। हे वरद ! हम तो तुम्हारी बिना पैसे की खरीदी हुई दासियां हैं। ऐसे नेत्र से तुम बार-बार प्रतिघात करते हो। इस प्रकार ताड़ना करने वाले का तुम्हारा यह आघात क्या इस संसार में वध नहीं कहा जायगा।

(१) जिस कमल के अन्तःकोष से भगवान् के नेत्र ने अद्भुत सुषमा को चुराया था वह कमल सम्पूर्ण गुणविशिष्ट तथा सौन्दर्यरत्नाकर था। कमल के लिए हमें चार विशेषण मिलते हैं।

(क) शरदुदाशय, (ख) साधुजात, (ग) सत्, (घ) उदर।

---

१. **भक्त के दुःख से भगवान् की करुणा का सुन्दर उदाहरण गजेन्द्रमोक्ष के अवसर पर उपलब्ध होता है। जब भगवान् ने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीडित हो रहा है, तब वे तत्काल गरुड़ को छोड़कर कूद पड़े और कृपा करके ग्राहसहित गजेन्द्र को सरोवर के बाहर निकाल लाये।**

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य, सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।

श्रीमद्भागवत महापुराण, ८, ३, ३३।

शरद् ऋतु में जलाशयों की विलक्षण शुद्धता, 'साधुजात' पद द्वारा कमल की पूर्ण उत्फुल्लता, 'सत्' द्वारा किसी एक विशिष्ट उत्तम कमल का संकेत और 'उदर' द्वारा अन्तःकोष की विशिष्टता प्रकट होती है।

(क) 'दृशा' पद का तृतीया के एकवचन में प्रयोग यह भाव प्रकट करता है कि जब आपके एक नेत्र के कटाक्ष से ही इस प्रकार की वधतुल्य व्यथा का प्रादुर्भाव हो जाता है तो दोनों नेत्रों द्वारा कटाक्षों की परम्परा से कितनी व्यथा होगी ?

(ख) यदि दृशा पद का सुरतनाथ पद के साथ अन्वय किया जाय[1] और नाथ धातु का प्रार्थना के अर्थ में प्रयोग माना जाय[2] तो यह अर्थ होगा कि हे नेत्र द्वारा सुरताभियाचक। अर्थात् तुम अपने मुंह से कभी कुछ नहीं कहते, केवल एक नेत्र के ही विभिन्न हावभावादि कटाक्षों द्वारा विहार की इच्छा प्रकट करते हो।

इस प्रकार हमारे हृदयों में जो विहार की एक उद्दाम भावना प्रकट हुई है वह भी तुम्हारे ही कारण है क्योंकि यदि तुम इस प्रकार अपने नेत्रकटाक्ष का प्रयोग नहीं करते तो हमारी इस प्रकार की इच्छा कभी नहीं होती।

(२) 'वरद' का प्रथम अर्थ है वर को देने वाले।[3]

(क) तुम्हारे नेत्रों ने हमारे प्राणों का हरण कर लिया है। तुम वर देने वाले हो, अतः हमारे प्राणों को लौटा दो यही वर मांगती हैं और प्राणों को लौटाने के लिए फिर हमें अपने अनुपम माधुर्य के दर्शन कराओ।

(ख) क्या तुम अपने ही दिये हुए वरदान का नाश करने वाले हो ?[4] तुम्हीं ने वर देकर हमारी इस प्रकार की भावना को सींचा था।[5] अतः हम सर्वथा निर्दोष हैं। वास्तव में भगवद्वियोग में गुण भी दोष बन जाते हैं। इसलिए तुम्हारा नेत्र यद्यपि सौन्दर्य की मंजूषा है किन्तु इस समय हमारा वध करता-सा प्रतीत होता है।

(३) प्रस्तुत प्रसंग में नेत्र द्वारा दिव्य कमल की शोभा को चुराना यह प्रकट करता है कि गोपियां उपालम्भ के साथ भगवान् के प्रति चौर्यादि दोष का आरोपण कर रही हैं। प्रत्येक चोर की क्रिया में तीन विशेषतायें होती हैं।

(क) सज्जन व्यक्तियों के ऐश्वर्य का अपहरण करते हुए भी किसी भी दोष की परवाह नहीं करना।

---

१. **हे दृशैव सुरतनाथ !**
हे सुष्ठु रतस्य जनस्य नाथ=तर्पक=घातक=तुम पूर्णरूप से अनुरक्त जनों को संतप्त करने वाले हो।

२. **नाथृ याञ्चोपतापैश्वर्याशीःषु ।** सिद्धान्तकौमुदी धातुपाठ।

३. **वरं ददातीति वरदः।**

४. **वरं दाति छिनत्तीति वरदः ।**

५. **सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्।**
मयाऽनुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, २२, २५।

(ख) अत्यन्त गुप्त स्थान पर रखी हुई भी पराई वस्तु का किसी-न-किसी प्रकार पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना।

(ग) अत्यन्त कठिनता से जाने योग्य स्थान पर भी पहुंच जाना।

पहले प्रकार की विशेषता का संकेत शरद् ऋतु के सत्पद्म की कान्ति को हरण करने में मिलता है। शरद् ऋतु में जलाशय का जल अत्यन्त निर्मल हो जाता है। इस प्रकार कमल का जन्मस्थान अत्यन्त पवित्र निर्मल कुल की ओर संकेत करता है। सत् शब्द कमल की दिव्याति-दिव्य सौन्दर्यमधुरिमा के संकेत द्वारा सर्वात्मना कमल का साधुभाव प्रकट करता है। इस प्रकार दिव्य शुद्ध कुलोत्पन्न कमल की शोभा को चुराने में नेत्र का दोष नहीं मानना चौर्यक्रिया की प्रथम विशेषता हुई।

दूसरे प्रकार की चौर्यक्रिया की विशेषता "उदर" पद से अभिव्यक्त होती है। कमल की शोभा कमल के उदर में छिप कर बैठी थी। चारों तरफ दुर्लंघ्य जलराशि थी किन्तु नेत्र ने वहां भी पहुंच कर उसकी स्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

तीसरी विशेषता की प्रतीति इस प्रकार होती है। वर्षा के पश्चात् शरद्ऋतु में जलाशय निर्मल जल से लबालब भर जाते हैं। जलाशयों का मध्यभाग बहुत गहरा होता है। कमल की एक सहस्र पंखुडिया होती हैं। बड़े-बड़े मकर, ग्राह, मत्स्य आदि हिंसक जन्तु उसके चारों तरफ पहरा देते हैं। इस सब का अतिक्रमण नेत्र द्वारा करना और भी कठिन है। तुम्हारे नेत्र इस प्रकार अगाध जल से परिपूर्ण सरोवर के मध्य में सहस्रदलकमल का भेदन करके उसकी शोभा का हरण कर लाये। इससे प्रतीत होता है कि किस प्रकार तुम्हारे नेत्र अत्यन्त कठिनता से जाने योग्य स्थान पर भी पहुंच गये।

(४) वास्तव में कमल ने तुम्हारे ही भय से अपनी सर्वाङ्गमनोरमा प्रियतमा शोभा को अपने हृदय में छिपाकर सहस्रदल से ढक रखा था। किन्तु तुम वहां भी पहुंच कर उसका हरण कर लाये। फिर हम तो अत्यन्त सरल हृदय वाली गोपियां हैं। इस व्रजमण्डल में जहां इच्छा होती है भ्रमण करती रहती हैं। बिना पैसे की खरीदी हुई दासी बन कर तुम्हारी सेवा में लगी हैं। हमें यह भी अच्छी प्रकार मालूम है कि तुमने अत्यन्त निर्दयता के साथ कपटपूर्वक व्यव-हार से कमल की कान्तिकामिनी का हरण करके अपने नयनों में छिपा रखा है। फिर भी उसकी ईर्ष्या न करके हम तुम्हें ढूंढती फिरती हैं किन्तु तुम उसी नेत्र से हमारा वध करने पर तुले हो। यह तो अन्याय है नाथ! यदि तुम्हारी यह भावना हो कि तुम चौर्यक्रिया में अत्यधिक निष्णात हो इसलिए तुम्हारे इस प्रकार गुप्त नेत्रकटाक्ष के प्रयोग द्वारा किया जाता हुआ हमारा वध संसार में प्रकट नहीं होगा तो तुम्हारी भूल है।

(५) तेऽशुल्कदासिकाः। यहां यदि शुल्कदासिका इस प्रकार पदच्छेद करें तो यह अर्थ होगा हम तो केवल तुम्हारे नेत्र की छटा पर ही बिक कर तुम्हारी दासी बन चुकी हैं।[1] कितने आश्चर्य की बात है कि फिर भी तुम हमारा वध करना चाहते हो। यह तो उचित नहीं है। अतः आप इन सब को छोड़ कर हमें अपने दर्शन से मुग्ध करो।

---

१. ते दृशैव शुल्कदासिकाः।

विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयाद्ऋषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥३॥

हे ऋषभ ! आपने (कालिय दमन)[1] विष के जल से, सर्परूपी राक्षस से (अघासुर)[2], वर्षा तथा प्रभञ्जन से, (वैद्युत, वह्नि, वज्रपात) बिजली तथा अग्नि से[3], वृषरूपधारी अरिष्टासुर[4] से, मयपुत्र व्योमासुर से[5] तथा अन्यान्य समस्त प्रकार के भयों से हमारी पुनः-पुनः रक्षा की है। (जब इस प्रकार अत्यन्त भयङ्कर स्थिति में आपने बिना हमारे कहे ही अपने स्वाभाविक निर्हेतुक दया-भाव से प्रेरित होकर सर्वदा हमारी रक्षा की, फिर अब क्यों नेत्र द्वारा हमारा वध करते हो ?)

(१) ऋषभ शब्द का सम्बोधन में श्रेष्ठ पुरुष के अर्थ में प्रयोग यह बताता है कि आपने अपनी स्वाभाविकी अहैतुकी निर्व्याज अनुकम्पा से हमारी सर्वदा इस प्रकार के कष्टों से रक्षा की, अब आपका अपने ही नेत्र द्वारा इस प्रकार वध करना उचित नहीं है। ऋषभ शब्द का सर्वश्रेष्ठ के अर्थ में प्रयोग समस्त भयों से रक्षा करने में समर्थ होने की योग्यता प्रकट करता है।

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥४॥

यह सर्वथा निश्चित है कि आप गोपिकानन्दन नहीं हैं। (गोपिका का अर्थ यहां यशोदा है)। आप तो सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्माओं को देखने

---

१. एक बार कालियनाग के विष से यमुना का जल जहरीला हो गया था। तो श्रीकृष्ण ने कालियदमन द्वारा यमुनाजल शुद्ध किया था। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, १६।

२. अघासुर के मुख में समस्त गोपों के प्रवेश कर जाने पर श्रीकृष्ण ने अघासुर का वध किया था। वही, १०, १२, २४–३२।

३. गोवर्धनधारण द्वारा। इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
धधार लीलला कृष्णश्छत्राकमिव बालकः। वही, १०, २५, १९।

४. अरिष्टासुर तथा मयपुत्र व्योमासुर का वध रासलीला तक नहीं हुआ था। किन्तु गोपियों ने इन कथाओं का संकेत किया है। यह प्रमाण सिद्ध करता है कि गोपियों के चिदाकाश में सर्वज्ञता का संस्कार प्रकट हो चुका था। अथवा वृष पद से वत्सासुर का भी ग्रहण कर सकते हैं। वत्सासुर पहले एक वत्स का रूप धारण करके आया था फिर एक विकराल रूप में परिवर्तित हो गया। अरिष्टासुर, वही, १०, ३६, १३–१४, अथवा वत्सासुर, वही, १०, ११, ४२–४३, व्योमासुर, वही, १०, ३७, २९–३३।

५. मयपुत्र का वध भी वास्तव में रासलीला के पश्चात् हुआ था। यहां केवल बाललीला के अन्तर्गत होने के कारण संकेतमात्र कर दिया गया है।

वाले हो। हे सखे ! ब्रह्मा की प्रार्थना पर संसार की रक्षा करने के हेतु आप सात्वत-कुल में प्रकट हुए हो।[1]

(१) ब्रह्मा की प्रार्थना पर भगवान् का यदुकुल में विग्रह स्वीकार करने की कथा[2] का श्लोक के उत्तरार्ध में विन्यास यह बताता है कि यद्यपि आप समस्त प्राणियों की अन्तरात्माओं के साक्षी हैं और आपका साक्षात्कार चर्मचक्षुओं से संभव नहीं हो सकता तथापि आपके दिव्य विग्रह के दर्शन हो सकते हैं।

(२) आपका इस प्रकार का विलक्षण लोकोत्तर चमत्कार विशिष्ट भाव स्पष्ट रूप से बताता है कि आप केवल यशोदानन्दन नहीं हैं, बल्कि आप तो सर्वात्मना सर्वव्यापक शक्ति के प्रतिनिधि हैं।

(३) अन्तरात्मदृक्। इस शब्द का अर्थ है कि आप समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा के गूढ़ातिगूढ़ अभिप्रायों को जानने वाले हैं। जब यह आपकी विशेषता है तो आप हमारे हृदयों की बात को नहीं जानते यह कैसे हो सकता है ?

(४) ब्रह्मा की प्रार्थना पर आपके अवतार ग्रहण करने का प्रधान कारण भक्तों की रक्षा करना है।[3] हम तो आपकी ही प्रिय गोपियां हैं। फिर हमारे प्रति उपेक्षा का क्या कारण है। यदि यह कहा जाय कि तुमको भक्तों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता तो विश्वगुप्तये यह पद यह भाव प्रकट करता है कि आपने समस्त प्राणियों की रक्षा के लिए अवतार ग्रहण किया था। यही ब्रह्मा की प्रार्थना थी।[4] अतः फिर भी आपको हमारी रक्षा करनी चाहिए।

(५) ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि गोपियों को भगवान् के ऐश्वर्य का आभास मिल गया था तथापि उनकी उपासना माधुर्यप्रधान होने के कारण वे भगवान् को केवल यशोदा का पुत्र समझती थीं और इसी माधुर्यभाव की उपासना के आनन्द के सागर में डूबा करती थीं। भगवदैश्वर्य ज्ञान के दो कारण प्रतीत होते हैं।

(क) गर्ग के मुख से भगवान् के ऐश्वर्य का वर्णन।[5]

(ख) चमत्कार की परम्पराओं का अनुभव।

---

१. (क) **पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।**
श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, १, २२।
(ख) **जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः।** वही, १०, १, ३२।
दोनों प्रमाण सिद्ध करते हैं कि देवों तथा देवाङ्गनाओं ने यदुकुल में जन्म ग्रहण किया था।

२. **तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम्।**
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, १, २०।

३. **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे। भगवद्गीता, ४, ८।

४. **सर्वार्थैव जगत्यर्थे स सर्वात्मा जगन्मयः।**
सत्वांशनावतीर्योर्व्यां धर्मस्य कुरुते स्थितिम्। विष्णुपुराण, ५, १, ३२।

५. श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ८, १३–१९।

(६) 'खलु' का अर्थ निषेध भी होता है।[1] निषेधात्मक नकारद्वय का प्रयोग 'अस्ति' अर्थ की प्रतीति कराता है। यद्यपि आप 'अन्तरात्मदृक्' हैं किन्तु यशोदानन्दन नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है। अर्थात् तुम और कुछ भी हो, इससे हमें कोई तात्पर्य नहीं है। क्योंकि तुम यशोदा-नन्दन हो, अतः तुम्हें हमारी रक्षा करनी चाहिए।

(७) यहां स्वाभिमानिनी गोपियों का प्रणयमिश्रित क्रोध प्रकट होता है कि तुम गोपिकानन्दन नहीं हो। तुम तो सर्वव्यापक ब्रह्म हो। यशोदा परम दयालु है। यदि तुम उनके पुत्र होते तो तुम में भी उसी प्रकार का दया का भाव मिलता। तुम तो ब्रह्म की भांति निराकार, निर्विकार और उदासीन हो। फिर भला तुम्हें हमारी रक्षा करने की क्या आवश्यकता है?

(८) विश्वगुप्तये और सखे दोनों पदों के बीच में यदि पररूप की कल्पना की जाय तो 'असखे' सम्बोधन बनता है। इस स्थिति में यह अर्थ होगा कि हे प्रतिकूल! तुम कभी भी यशोदानन्दन नहीं हो सकते अन्यथा भगवती यशोदा के सम्बन्ध के कारण तुम हमारी उपेक्षा कैसे करते। साथ ही इस अर्थ की भी प्रतीति होती है कि तुम प्राणिमात्र के अन्तरात्मा को भी नहीं देखते अन्यथा हमारे अन्तःस्तल का अभिप्राय क्यों नहीं जानते?

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥५॥

हे वृष्णियों में अग्रगण्य! हे कान्त! जन्म-मरण रूपी भवसागर के भय से तुम्हारे चरणों की शरण में आने वालों को अभय प्रदान करने वाला कर-कमल हमारे मस्तक पर रख दो। तुम्हारे करारविन्द ने भगवती लक्ष्मी के कर को ग्रहण किया है और यह भक्तों की समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाला है।

(१) यदि यह कहा जाय कि तुम्हारे मस्तक पर भगवान् के करकमल की स्थापना हो, इतने पुण्य का अर्जन अभी तुम में कहां है तो इसी के निराकरण के लिए वृष्णिधुर्य पद का प्रयोग किया है। आप तो सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः अपनी दिव्य स्वभावसुन्दर मधुरिमा को अभिव्यक्त करने में ही आपकी श्रेष्ठता की इतिकर्त्तव्यता होगी।

(२) भगवान् के करकमल की स्थापना का अभिप्राय भी एक भावविशेष की ओर

---

१. (क) a particle of prohibition, A Sanskrit English Dictionary, *Monier Williams.*

(ख) हलायुध कोष, विवृत्तिटीका, **खलु-निषेधः**।

(ग) **महाकवि माघ ने भी अपने शिशुपालवध महाकाव्य में 'खलु' का अर्थ निषेध किया है।" "निर्द्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम्।"** शिशुपालवध, २, ७०। **यहां प्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ ने प्रथम खलु का अर्थ प्रतिषेध तथा द्वितीय खलु का वाक्यालङ्कार के रूप में प्रयोग स्वीकार किया है।**

संकेत करता है। क्योंकि जब यह समस्त प्राणियों के भय को नष्ट कर सकता है तो हमारे कष्ट को निवारण करने की शक्ति भी अवश्य इसमें सन्निहित है।

(३) मस्तक पर हाथ रखने का अभिप्राय है कि सर्वात्मना प्रत्येक भाव से हमें स्वीकार करो।

(४) शिरसि। यह एकवचन में प्रयोग सिद्ध करता है कि गोपियों के हृदय में हीनता की पराकाष्ठा का प्राकट्य हुआ था। अर्थात् किसी भी एक गोपी के मस्तक पर आपके हाथ रखने से हम सब को स्वीकार हो जायगा। जब दीनभाव प्रकट होता है तो थोड़ी-सी वस्तु भी बहुत मानी जाती है।

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥६॥

हे व्रजजनों की पीड़ाओं का नाश करने में निपुण! हे वीर! हे निजजनों के सर्वविध गर्व का विनाश करने वाली मधुर मुस्कान से युक्त! हे सखे। आपकी अपनी दासियों को स्वीकार करो! अपने रमणीय मुखारविन्द के दर्शन हम नारियों को कराओ।

(१) 'भज' पद का अभिप्राय है कि या तो आप हमारे समस्त दुःखों का अन्त करके हमें निकट से स्वीकार करो। किन्तु यदि ऐसा करने में कोई अज्ञात कारण हो तो कम-से-कम अपने मुखारविन्द के दर्शन तो तत्काल कराओ।

(२) तुम तो समस्त व्रजवासियों की पीड़ाओं का निराकरण करने वाले हो। यदि हमारी पीड़ा का विनाश नहीं किया तो तुम्हारा यह विशेषण फिर कभी भी प्रयोग में नहीं आवेगा।

(३) स्मयध्वंसनस्मित। इस पद का अभिप्राय है कि तुम्हारी मन्द-मन्द हास्य-प्रधान मधुर चितवन से ही सब का गर्व और मान नष्ट हो जाता है, फिर हमारे अत्यन्त साधारण मान के लिए तुम अन्तर्धान होकर हमारी इस विरहावस्था में हमें क्यों अधिक दुःखी करते हो। वास्तव में यद्यपि तुम्हारा मुखारविन्द अत्यन्त मनोरम है किन्तु उसका हास्य तो और भी अधिक मधुर है। अतः उस परम मनोहर मधुर हास्य-प्रधान मुखकमल के पुनः दर्शन करने की हमारी कामना है।

(४) योषिताम्। इस पद का प्रयोग यह भाव प्रकट करता है कि हम तो अबला स्त्रियां हैं। तुम्हें ढूंढते-ढूंढते बिल्कुल थक गई हैं। अब इतनी शक्ति नहीं है कि तुम्हें ढूंढकर तुम्हारे मुख की मधुरिमा के दर्शन से अपना मन आनन्दित कर सकें। अतः तुम ही कृपा करके हमें अपने दर्शन से कृतार्थ करो। वास्तव में जिनको तुमने अपनी माना है, तुम्हारे मधुर हास्य के दर्शन के पश्चात् भला मान का अंश उनमें कहां से रह सकेगा।

(५) यदि यह पूछा जाय कि स्वीकार करने का मापदण्ड क्या हो, तो उसका केवल एक ही प्रमाण मांगा गया है—भगवद्दर्शन।

(६) प्रणय तथा क्रोध के भाव को प्रकट करने के लिए एक अन्यार्थ की कल्पना की जाती है। यह सत्य है कि तुम व्रजजनों की पीड़ा का नाश करने वाले हो किन्तु यह भी सत्य है कि तुम "योषितां वीर" हो अर्थात् व्रजललनाओं का वध करने में भी समर्थ हो। यह भी सत्य है कि तुम्हारा मधुर हास्य अपने अपनाये हुओं का गर्व नष्ट करता है। किन्तु हमें यह ज्ञात नहीं था कि तुम्हारे हास्य में कपट की तहें जमी हुई हैं। इसी कारण तुम्हारे अपने जनों को यह गर्व हुआ कि तुम उनको प्राप्त हो गये हो। किन्तु हमें यह रहस्य मालूम हो गया है। अतः अब कभी भी गर्व हमारे हृदय में प्रकट नहीं होगा। यही कारण है कि हमारे मुंह सूखे जा रहे हैं।

(७) 'नो दर्शय'। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि हमें दर्शन मत दो। अब तो तुम उन्हीं के पास जाओ। उन्हीं को स्वीकार करो जो तुम्हारी दासियां नहीं हैं और जो तुम्हारी अपनी नहीं हैं। हम तो तुम्हारा मुखकमल देखने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करना अधिक अच्छा समझती हैं।

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥

विनय युक्त प्राणियों के पापों का नाश करने वाले, तृणचर गौओं के पीछे-पीछे चलने वाले, कान्ति के निवास-सदन, कालिय नाग के फण पर स्थापित तुम्हारे चरणकमल को हमारे स्तनों पर रखो और हृदय की काम-वासना को नष्ट करो।

(१) *यहां भगवान् के चरणारविन्द की चार विशेषताएं बताई गई हैं।*

(क) प्रणतदेहिनां पापकर्शनम्। तुम्हारे चरणों की पहली विशेषता यह है कि वह समस्त प्रणयान्वित प्राणियों के पापों की परम्पराओं का तत्काल नाश कर देते हैं।[1] किसी भी जाति अथवा गुण की अपेक्षा नहीं करते। पापनाश में चरणपक्ष से केवल विनय की विद्यमानता को ही *एकमात्र कारण स्वीकार किया है। तुम्हारे चरणों में ऐसी अद्भुत शक्ति है कि जो किसी भी* प्रकार इनके सम्पर्क में आता है उसकी परम गति होती है। उदाहरण के लिए नलकूबर[2] तथा कालियनाग[3] रखे जा सकते हैं। अतः यह शंका सर्वथा निर्मूल है कि इस क्रिया से आपको पाप का संयोग प्राप्त होगा। तुम्हारे चरण तो अत्यन्त पवित्र हैं। यदि यह कल्पना की जाय कि तुम्हारे हृदयों में दर्प और मद उत्पन्न हो गया है, फिर भगवच्चरण-सान्निध्य की योग्यता कैसे हुई। तो उत्तर है कि जिस प्रकार तुमने परम कृपा द्वारा कालियनाग के दर्प का नाश किया और अपने चरणों के सम्पर्क की कृपा से उसका कल्याण किया उसी प्रकार हम भी तो विनीत हैं। हम पर कृपा करो।

(ख) तृणचरानुगम्। दूसरी विशेषता है कि वे साधक की याचना के बिना ही स्वयं

---

१. **अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्त्तितीर्थयोः**। श्रीमद्भागवत महापुराण, ४, २४, ५८।
२. वही, १०, १०, २७।
३. **नृत्यन् पदानुनमयन् दमयाम्बभूव**। वही, १०, १६, २९।

कृपा करते हैं। जिस प्रकार एक तृणचर के पीछे-पीछे स्वयं घूमते रहते हैं। यदि यह कहा जाय कि भगवान् के चरणकमल तो नवनीत से भी कोमल हैं। तुम्हारे स्तन प्रस्तर से भी कठोर हैं, फिर कैसे स्थापना हो तो इसी अभिप्राय से कहती हैं कि जब आप स्वयं कृपा से आर्द्र होकर वनों में गौओं के पीछे-पीछे घूमते हो तो क्या वहां कष्ट होता है? यदि कहा जाय कि तुम तो ज्ञानशून्य हो फिर तुम्हारा भगवत्सान्निध्य कैसे हो। तो तृणचर पशु तो हमारे ज्ञान की अपेक्षा शून्यतर हैं, जो विविध भोज्य सामग्री को त्याग कर तृण का सेवन करते हैं। जब तुम्हारी करुणा की धारा उनकी तरफ भी निरन्तर प्रवाहित होती है तो हमें क्यों उससे वंचित रखते हो।

(ग) श्रीनिकेतनम्। तीसरी विशेषता है कि वे अलौकिक सौन्दर्य के कारण स्वयं भगवती लक्ष्मी के निवाससदन हैं। यदि यह कहा जाय कि तुम्हारे स्तन तो अत्यन्त सुन्दर हैं, उन पर चरणविन्यास कहां तक उचित है। तो तृतीय विशेषण रखा गया है। चरणकमल सौन्दर्य की निधि हैं। मानों सारे संसार की मधुर सुषमा सिमट कर चरणों के रूप में इकट्ठी हो गई है। इस प्रकार के चरण तो स्तनों पर अलंकार की भांति शोभित होंगे।

(घ) फणिफणार्पितम्। चौथी विशेषता है कि कालियनाग जैसे भयंकर विकराल सर्प के फणों पर भी अर्पित हो चुके हैं। चौथी विशेषता से भगवच्चरणों का विशिष्ट पराक्रम अभिव्यक्त होता है। यदि यह कल्पना की जाय कि तुम्हारे पतियों का भय है तो तुम्हें किसका भय। जब तुम निर्भय होकर कालियनाग के फणों पर अपने चरण रख सकते हो। इस प्रकार जब तुम्हारे चरणों में प्रचण्ड विष को नाश करने की अद्भुत शक्ति है, तो क्या हमारे हृदय के ताप को नष्ट नहीं करेंगे?

इस प्रकार भगवान् के चरणों की चार प्रकार की विशेषताएं सिद्ध हुईं। वास्तव में गोपियां केवल अपने जन्मजन्मांतर के पापों के नाश के निमित्त ही भगवान् के चरणस्थापन की कामना नहीं करती थीं, बल्कि कामवासना का सर्वथा विनाश ही इसका एकमात्र प्रयोजन था।

(२) कुचेषु। यह बहुवचन में प्रयोग सिद्ध करता है कि गोपियों के हृदयों में लोभ का भाव उत्पन्न था। लोभ में थोड़े से कभी भी तृप्ति नहीं होती। प्रत्येक गोपी यही चाहती थी कि हमारे स्तनों पर भगवान् अपने चरण रखें। यही प्रार्थना हमें इस अध्याय के १३वें श्लोक में प्राप्त होती है।[1] रासलीला के इसी अंश का निर्देश श्रीउद्धव ने किया है कि भगवान् के जिन चरण-कमल की अर्चना भगवती लक्ष्मी करती है। कभी जन्मग्रहण नहीं करने वाले ब्रह्मा, महेश्वर तथा पूर्णकाम योगेश्वर चिदाकाश में जिन चरणों का चिन्तन करते हैं। रासलीला के अवसर पर भगवान् के उन्हीं चरणारविन्दों को अपने वक्षस्थल पर स्थापित करके, उनके आलिंगन द्वारा गोपांगनाओं ने अपने संताप का परित्याग किया था।[2] यहां यह स्मरणीय है कि रासपंचाध्यायी के श्लोकों में दो बार केवल गोपियों की इस प्रकार की प्रार्थना प्राप्त होती है। गोपियों ने

---

१. **चरणपङ्कजं शंतमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्।** श्रीमद्भागवतम्, १०, ३१, १३।

२. **या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामैर्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।**
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्।
वही, १०, ४७, ६२।

केवल एक बार श्यामसुन्दर का करारविन्द अपने वक्षस्थल पर रखा था।[1] इसके हेतु गोपियों ने पृथक् प्रार्थना की थी।[2]

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः ॥८॥

हे कमलनयन! आपकी अत्यन्त मधुर[3] वाणी में सुन्दरातिसुन्दर मधुर वाक्यों का विलास है और यह विद्वानों के हृदयों को प्रिय है। ऐसी वाणी से हमको आप्लावित करो। हम आपके चरणों की दासी हैं। इस समय आपकी अन्तर्धानलीला के कारण अर्धचेतनावस्था में हैं। मोहवश मूर्छित-सी हैं। यह मरण के पूर्व की अवस्था है। अतः आप आकर हमें दर्शन दो और अपनी अधर-सुधा का पान कराकर हमें जीवनदान दो।

(१) पुष्करेक्षण। इस पद से तीन भावों की प्रतीति होती है।

(क) आपके नेत्र हृदयकमल में हैं। अतः आप समस्त संसार के प्राणियों के मन की बात को जानने वाले हैं। हम स्वयं कुछ भी निवेदन करना नहीं चाहतीं। आप तो स्वयं सर्वज्ञ हैं।

(ख) आपके नेत्र उत्फुल्ल कमल के समान विशाल हैं। आप स्वयं आकर अपनी दासियों की अवस्था अपने ही नेत्रों से देख लो।

(ग) पुष्करेक्षण पद से यह भी ध्वनि निकलती है कि आपके लोकोत्तर सौन्दर्यसम्पन्न दिव्य विग्रह का दर्शन कराकर हमारी दर्शन की अभिलाषा को पूर्ण करो।

(२) इसी आशय से वीर सम्बोधन का प्रयोग किया गया है। जो स्वाश्रित जनों के कष्टों को निराकरण करने में समर्थ हो उसे वीर कहते हैं। हम तो अपनी प्रकृति से ही आपकी आश्रिता हैं। केवल आपके चरणों का वियोग ही एकमात्र मोह का हेतु है। अतः आप दर्शन देकर हमें आप्लावित करो। आप वीर हैं और यह सब करने की शक्ति रखते हैं।

(३) हमारे मोह का निराकरण केवल आपकी वाणी से हो जायगा। आपका स्वरूप

---

१. **पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम्।**
श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ३३, १४।

२. **तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्त्तबन्धो। तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्।**
वही, १०, २९, ४१।

३. **यहां मधुरया पद का अभिप्राय है कि वाणी अर्थ में अत्यन्त मधुर है। जैसा कि** श्रीमद्-भगवद्गीता **के अधोलिखित श्लोकों के तात्पर्य से परिलक्षित होता है:**
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्। श्रीमद्भगवद्गीता, ९, ३२।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति। वही, ९, ३१।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। वही, १८, ६६।

सत्, चित् और आनन्दमय है। आपके मुखारविन्द से निकलने वाली माधुर्य की चरम धारा से हमारे अन्तस्ताप की निवृत्ति असंदिग्ध है। फिर वाणी की उस अलौकिक मधुरता में सत्य, प्रिय और हित के भावों की असंख्यात लहरें मिली हुई हैं। उस पर भी आपकी वाणी ज्ञानस्वरूप है।

(४) मधुरया। इस पद से स्पष्ट है कि आपकी मधुरवाणी से हमें कृतार्थ करो? वज्र के समान कठोर[1] अथवा छल से पूर्ण[2] वाणी का प्रयोग गोपियों को अपेक्षित नहीं था।

(५) बुधमनोज्ञया। गोपियों की इस समय मूर्च्छावस्था थी। मूर्च्छा में किसी प्रकार *का विवेक नहीं होता। फिर भी उनकी यही प्रार्थना थी कि आपकी वाणी विवेकप्रधान हो।*

वास्तव में इस श्लोक में गोपियों ने अपनी मूर्च्छानिवृत्ति के लिए भिन्न-भिन्न उपायों का संकेत किया है।

(क) मधुर तथा विवेकयुक्त वाणी का प्रयोग।

(ख) पुण्डरीक के समान विशाल नेत्रों द्वारा देखना।

(ग) अधरामृत का पान करना। अमृत की यह विशेषता होती है कि मृत शरीर में प्राणसंचार हो जाता है।

इन तीनों उपायों में से अन्यतम उपाय का तत्काल अवलम्ब गोपियों को अभिप्रेत था। एक क्षण भी भगवद्विरह उन्हें असह्य हो उठा था। यही भाव 'इमाः' पद से निकलता है। यदि कहा जाय कि भगवान् का तुम्हारे साथ क्या सम्बन्ध है कि वे स्वयं कष्ट उठा कर तुम्हारी मूर्च्छा-निवृत्ति के निमित्त किसी उपाय को स्वीकार करें तो 'विधिकरीः' पद सेव्यसेवकभाव सम्बन्ध को प्रकट करता है। यदि कहा जाय कि अमृत के तुल्य इस बहुमूल्य वस्तु का प्रयोग क्यों करें तो आप वीर हैं और आपका अन्तःकरण अत्यन्त उदार है। दानवीर किसी के भी हित के अवसर पर सर्वस्व तक दान कर देते हैं। अथवा यदि आप यह सोचें कि हम आपको इस उपकार का क्या पुरस्कार देंगी तो हम तो जन्मजन्मान्तर तक आपकी दासियां हैं। सदा आपकी आज्ञा पालन करती रहेंगी। इस प्रकार हम तो अपना सर्वस्व आपको सौंपती हैं और अधिक क्या पुरस्कार दें जब कि शरीर ही अनेक जन्म तक श्रीचरणों में अर्पण है। वास्तव में आपके ऋण का प्रतीकार तो तब भी नहीं होगा किन्तु आप भी तो वीर हैं और वीर की वीरता इसी में होती है कि वह प्रत्युपकार की अपेक्षा न करके अपने गुणों का परिचय दे।

(६) स्वाभिमानसम्पन्न गोपियों के पक्ष में इस भाव की ध्वनि निकलती है कि आपकी मधुर, छलयुक्त तथा मूर्खों के मन को भाने वाली[3] वाणी ने हमें तुम्हारी अनुचरी बना लिया था। जिसका फल हम इस मरणतुल्य अवस्था में भोग रही हैं। किन्तु फिर भी हम अपनी सौजन्यता, कुलीनता तथा उदार मनोवृत्ति का स्मरण करके आपके अपकार की कामना का संकल्प भी नहीं करतीं बल्कि आपको यह अनुमति देती हैं कि आप हमारे अधरामृतपान से अपने आपको आप्ला-

---

१ **प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः।** श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, २९, १९।

२. **स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।**
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्। वही, १०, २९, १८।

३. **इस अर्थ के हेतु यहां अबुधमनोज्ञया पदच्छेद स्वीकार करना होगा।**

वित करो। केवल हमारा अपकार करने की भावना से तुम्हें किसी भी प्रकार के भय अथवा अहित की आशंका नहीं करनी चाहिए। तुम तो वीर हो और वीर होकर भी भयभीत होते हो।

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥९॥

आपका कथारूपी अमृत सांसारिक विभिन्न ताप से संतप्त मनुष्यों को जीवन प्रदान करने वाला है। कवियों ने इस अमृत को समस्त पापों का नाश करने वाला कहा है। यह श्रवण करने से परम मङ्गल करता है। यह शान्त है। जो व्यक्ति इस भूमण्डल पर इसका विस्तार से उच्चारण करते हैं वे ही बहुत देने वाले माने जाते हैं।

(१) भगवान् के वियोग में गोपियां मरणतुल्य अवस्था में पहुंच गई थीं। आत्मा का शरीर से वियोग केवल इसी कारण से नहीं हुआ था कि उन्होंने भगवान् के कथारूपी अमृत का पान किया था। अतः यह सिद्ध है कि जो भी तापदग्ध व्यक्ति इस अमृत का आस्वादन करते हैं उसको यह जीवनदान देता है।

(२) कविगण इस कथापीयूष की प्रशंसा करते हैं। यह अमृत स्वर्ग में प्राप्त होने वाले अमृत की अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योंकि भगवान् का कथामृत पापों का नाश करता है। कामेच्छा और कामेच्छाजनित कर्म दोनों का नाश करने की शक्ति कथामृत में है, स्वर्ग के अमृत में नहीं। इसका केवल श्रवणमात्र ही मंगल करता है, यह शान्त है और स्वर्ग का अमृत मादक होता है।

(३) भूरिद पद का अभिप्राय उन व्यक्तियों से है जो बहुत दान करने वाले हैं। जो निरन्तर आपकी कथासुधा का गान करते हैं वे धन्य हैं और जो दर्शन करते हैं उनके सौभाग्य का क्या कहना? यहां यह ध्वनि निकलती है कि इस दिव्य कथा का संसार में कहीं भी गुणानुवाद करने से समस्त प्रयोजनों की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार इस श्लोक में कथामृत के ६ विशेषण मिलते हैं।

(क) तप्तजीवन। केवल सांसारिक ताप से संतप्त प्राणियों का ही नहीं, अपितु भगवान् के विरह से संतप्त जनों का भी जीवन है।

(ख) कवियों के द्वारा संस्तुत। यहां कवि शब्द से ब्रह्मा तथा शंकर से अभिप्राय है[1] जो आत्माराम हैं।

(ग) कल्मष[2] का नाश करने वाला। यहां जन्म-जन्मान्तरों के पापों का क्षय अभिप्रेत है।

---

१. **इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।**
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, १४, ४१।

२. **कल्मषं=शुभं कर्म स्यति समाप्तं करोति। षोऽन्तकर्मणि से "आतोऽनुपसर्गे" (३, २, ३) से क प्रत्यय तथा "पूषोदरादित्वात्" (६, ३, १०९) से लत्व तथा षत्व होता है।**
अमरकोष, सुधा व्याख्या।

(घ) श्रवणमंगल। भगवत्कथा में अर्थविचार व अर्थचिन्तन की भी अपेक्षा नहीं है। केवल कथाश्रवणमात्र ही सर्वविध प्रयोजन का साधन होता है।

(ङ) श्रीमत्। शान्त तथा सब की अपेक्षा श्रेष्ठ।

(च) आतत = व्यापक।

सम्पूर्ण श्लोक में एक अन्यार्थ की प्रतीति इस प्रकार होती है।

(४) आपका कथामृत अमृत नहीं है किन्तु मृत्यु का अग्रदूत है, क्योंकि इसने हमारे प्राणों को अत्यन्त संतप्त कर दिया है।[१] जीवन शब्द का अर्थ जल भी होता है।[२] अतः आपका कथामृत तो उबलते हुए जल के समान है। केवल कवियों ने ही इसकी प्रशंसा की है कि इसमें पापनाशक शक्ति है[३] और केवल सुनने में ही यह मंगलस्वरूप कहा जाता है[४] किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं प्रतीत होती। सौंदर्य के मद से यह पूर्णरूप से व्याप्त है।[५] इस प्रकार जो तुम्हारे कथामृत का सेवन करते हैं, वे भूरिद कहलाते हैं।[६] यहां भूरिद पद का अर्थ अनेक प्राणियों के प्राणों का नाश करने वाले पदार्थविशेष से है।

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥१०॥

हे प्रिय! तुम्हारा प्रेमपूर्वक निरीक्षण तथा हास्य, ध्यान में मङ्गल-स्वरूप विहार, एकान्त में हृदय का स्पर्श करने वाले मधुर वचन अथवा क्रीड़ा के संकेत; हे कुहक! ये सब हमारे मन को व्याकुल कर रहे हैं।

(१) यहां गोपियों ने अपने मन की व्याकुलता में तीन कारण बताये हैं:

(क) हमें देख कर जो आप सहज मन्द-मन्द हास्य के साथ प्रेम से निरीक्षण किया करते थे।

(ख) भगवान् की अपने चुने हुए सखाओं के साथ जो विशेष विहार-क्रीड़ाएं होती थीं। उनके केवल ध्यान से मंगल होता है। भगवल्लीला भगवान् के स्वरूप तथा भाव को आलोकित करती है। इस प्रकार भगवान् के गोपियों के प्रति हृदयस्थ भाव अभिव्यक्त होते हैं।

(ग) एकान्त में अनेक प्रकार के वाक्यों का कथन, जो हृदय का स्पर्श करने वाले थे।

यहां तीनों कारणों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाया गया है। हास्य की अपेक्षा प्रेमपूर्वक

---

१. **तप्तं जीवनं यस्मादिति तप्तजीवनम्।**

२. **जीवनं जलम्। 'यमुनाया इव तस्याः सखि! मलिनं जीवनं मन्ये।'** आर्यासप्तशती। उद्धृत हलायुधकोषविवृति पृ० ३१९, जयशंकर जोशी, सूचना विभाग, लखनऊ, शकाब्द, १८७९।

३. **कविभिरेव कल्मषापहं यथा स्यात्तथा ईडितम्।**

४. **श्रवणे एव मङ्गलम्।**

५. **श्रियाः मदेन आततं इति श्रीमदाततम्।**

६. **भूरि ददति छेदयति इति भूरिदः।**

निरीक्षण का उत्कर्ष, निरीक्षण की अपेक्षा विहार का उत्कर्ष और विहार की अपेक्षा एकान्त में वाग्विलास का उत्कर्ष। इन्हीं तीनों कारणों का चिन्तन करके गोपियों का मन व्याकुल था कि अब पुनः भगवान् के वे मधुर हास्य, निरीक्षण तथा वचन नहीं मिलेंगे। हासादि यद्यपि प्रेम की वृद्धि करते हैं किन्तु विरहावस्था में वे ही दोष बनकर प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न करने लगते हैं।

(२)' नः' यह बहुवचन का प्रयोग बताता है कि यहां अनेक गोपियों के मन की भावनाओं का प्रतिनिधान किया गया है।

(३) (क) 'प्रिय' तथा 'कुहक' इस सम्बोधन से प्रतीत होता है कि हमें तो तुम ही एकमात्र प्रिय हो किन्तु तुम्हारे हृदय में कपट था। तुम्हारा हास्य मिथ्या था। सप्रेम निरीक्षण एक छल था।

(ख) हास्यादि का परिणाम सर्वदा दुःखमय होता है। तुम्हीं सदा हमारी प्रतारणा करते हो। इसी अभिप्राय से द्वितीय संबोधन दिया गया है।

(४) हमें देखकर प्रसन्नता के प्रकर्ष में तुम जिस प्रकार विशेष रूप से हँसते थे[1] उसकी स्मृति अब विरह में अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न करती है।

(५) विहरणं का यह भी अर्थ संभव है कि आप हमें विशेष रूप से वंशी आदि के नाद द्वारा बुलाया करते थे।[2]

(६) 'ते ध्यानमंगलं' यहां 'ते अध्यानमंगलं' इस प्रकार पदच्छेद करने पर अर्थ होगा कि तुम्हारी ये तीनों बातें केवल दर्शन में ही मंगलात्मक होती हैं, ध्यान में नहीं।

चलसि यद् व्रजाच्चारयन्पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥११॥

हे नाथ! हे कान्त! जब तुम पशुओं को चराते हुए व्रज से चले जाते हो तो तुम्हारे कमल के समान सुन्दर चरण कंकर, तृण तथा अङ्कुरों से दुःखी होते हैं। इससे हमारा मन व्याकुल होता है।

(१) इस श्लोक में गोपियों ने दो भावों की तरफ संकेत किया है। यह भगवद्विरह में उनकी व्याकुलता का चित्रण है।

(क) जब तुम व्रज से चले जाते हो तो जब तक नहीं लौटते, हमारा हृदय व्याकुल रहता है।

(ख) जब हमारा इतना अगाध निर्व्याज प्रेम है तो फिर तुम हमारे साथ छल का व्यवहार क्यों करते हो?

(२) नाथ तथा कान्त दोनों सम्बोधन गोपियों की व्याकुलता के प्राचुर्य को प्रकट करते हैं।

---

१. प्रकर्षेण हसितम्-प्रहसितम्।
२. विशेषेण हरणं आकारणम् इति विहरणम्।

(क) जब तुम सबके स्वामी हो तो फिर पशुचारण में घूम-घूम कर अपने चरणों को क्यों इतना कष्ट देते हो ? यह तो बुद्धिसंगत तथा युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

(ख) तुम कमनीयता के साकार विग्रह हो। तुम्हारे चरण तो गोपाङ्गनाओं के कोमल करों की निधि हैं। वन के तीक्ष्ण तृणों की नहीं।

अथवा, जब तुम सम्पूर्ण व्रजमण्डल के ईश्वर हो; सब के अन्तःकरण को मोहित करने वाले हो, तो तुम्हारे चरणों की व्यथा की कल्पना से हमारे हृदयों का दुःखी होना क्या स्वभावसिद्ध नहीं हैं ?

(३) यहां यदि 'नाथ' का अर्थ प्राणेश्वर करें तो इसका प्रयोग गोपियों ने केवल मन की व्याकुलता में किया है। यही भाव मानना चाहिए।

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
घनरजस्वलं दर्शयन्मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥१२॥

हे वीर! दिन की परिसमाप्ति पर नील केशपाश से युक्त, गोरज से आच्छादित, कमल के समान सुन्दर मुख को पुनः-पुनः दिखाकर तुम हममें काम-वासना उत्पन्न करते हो।

(१) इस श्लोक में मिलन की अवस्था में भी गोपियों के हृदयों की व्याकुलता का अत्यन्त मनोरम चित्र खींचा गया है। मुख के तीनों विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग किया गया है।

(क) नील केशपाश से घिरे हुए का अर्थ है कि मुखकमल पर लटकती हुई बालों की लटें सौन्दर्य की चरम सीमा का संकेत करती हैं।

(ख) गोरज भगवान् के मुखारविन्द पर छाई हुई थी।[१] वास्तव में गोपांगनाओं के

---

१. (क) **उस समय श्रीकृष्ण की काली-काली घुंघराली अलकावली पर गौओं के खुरों से उड़ी हुई धूलि के कण जमे होते थे। मस्तक पर मयूरपंख का मुकुट तथा केशों में वन्य-पुष्पों का गुम्फन होता था। इस प्रकार मनोहर ईक्षण तथा मन्द स्मित के साथ वंशी बजाते-बजाते श्रीकृष्ण लौटते थे तो कृष्ण-दर्शन की लालसा से तरसते हुए नयनों वाली गोपियां इकट्ठी होकर आ जाया करती थीं।**

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्त्ति गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन्समेताः।

श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, १५, ४२।

(ख) **भगवान् का यही स्वरूप गोपियों को अत्यन्त प्रिय था। प्रतिदिन सायङ्काल के समय जब श्रीबलराम के साथ गोपसखाओं से घिरे हुए श्रीकृष्ण व्रज में लौटते थे तो उनकी घुंघराली अलकावली पर तथा वैजयन्ती माला पर गौओं के खुरों से उड़ी हुई धूलि छायी रहती थी और वे मुरली बजाते हुए मन्द स्मित तथा कटाक्षपूर्वक निरीक्षण से गोपियों का मन आकर्षित कर लेते थे।**

भावों में गोपोचित वेष ही उथल-पुथल मचाने की शक्ति रखता है। यही कारण है कि भगवान् के इस प्रकार के रूप का वर्णन किया है।

(ग) पराग के साहचर्य से इन्दीवर की शोभा खिल जाती है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण के मुखकमल की शोभा गोरज से निखर उठी थी।

(२) गोपियों के हृदय में भगवद्दर्शन से कामभाव उत्पन्न होने के निम्नलिखित तीन कारण हैं।

(क) सन्ध्याकाल।

(ख) मुखारविन्द का नील केशपाश तथा गोरज से आच्छादित होना। जिस प्रकार भ्रमर तथा पराग के सम्पर्क से कमल की शोभा निखर उठती है, उसी प्रकार भगवान् के मुख की कान्ति भी द्विगुणित हो गई थी।

(ग) भगवान् का बार-बार अपने मुखारविन्द को दिखाना।

(३) (क) वीर पद से यह ध्वनि निकलती है कि तुम केवल कामभाव उद्दीपित करने में ही वीर हो। वास्तव में जब हमारे हृदयों में तुम्हारे दिव्य सौन्दर्य की छटा देखकर सायंकाल में ही कामभाव उत्पन्न होता था तो इस समय शरत्पूर्णिमा की शीतल ज्योत्स्ना में यदि विशेष काम प्रकट हो तो क्या स्वाभाविक नहीं है? अतः अब शीघ्र दर्शन देकर हमारी व्याकुलता दूर करो।

(ख) यहां यह भी ध्वनि निकलती है कि यद्यपि तुम हमारी इच्छापूर्ति के बिना ही चले गये हो फिर भी हमारे प्रेम में कोई अन्तर नहीं है। यही तथ्य सिद्ध करता है कि हमारा प्रेम निश्छल है और तुम्हारा छलपूर्ण।

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शन्तमञ्च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥१३॥

हे रमण! हे आधिविनाशक! प्रणत व्यक्तियों की कामना पूर्ति करने वाले, ब्रह्मा अथवा लक्ष्मी द्वारा अर्चित, वसुन्धरा के अलङ्कार-स्वरूप, आपत्ति-काल में ध्यान करने योग्य परम कल्याणकारक तुम्हारे चरणकमल हमारे स्तनों पर स्थापित करो।

(१) आधिहन् सम्बोधन का प्रयोग बताता है कि आप प्राणिमात्र की मानसिक काम-वासना के संस्कारों को नाश करने में समर्थ हो। आपके अवतार का प्रधान प्रयोजन है समस्त प्राणियों के दुःखों का नाश करना। अतः आपकी अपनी गोपांगनाओं की मनोव्यथा को भी नष्ट करो। यह ध्वनि निकलती है।

(२) केवल तुम्हारे चरणकमल के हमारे स्तनों पर रखने मात्र से ही हमारे समस्त मनो-रथों की पूर्ति हो जायगी क्योंकि उनमें सर्वविधफलप्रदायिका शक्ति ओतप्रोत है। यहां यह

योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो गोपैर्विशन् खुररजश्छुरितालकस्रक्।
वेणुं क्वणन् स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन चित्तं क्षिणोत्यमृमृते न कथं भवेम।

श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ३६, ३०

भाव भी प्रकट होता है कि यद्यपि गोपियों की यथार्थ भावना भगवच्चरणों को अपने अन्तर्हृदयों पर स्थापित करने की थी, किन्तु स्वयं अपनी असमर्थता के कारण भगवान् से ही प्रार्थना कर रही हैं कि आप ही में यह शक्ति है। अतः कृपा करके आप स्वयं वहां स्थापित कर दो। फिर तुम्हारे चरण छः प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त हैं। इनके सम्पर्क से हमारे समस्त प्रयोजन सिद्ध हो जायेंगे। इसी अभिप्राय से चरणकमलों की छः विशेषताएं बताई हैं।

(क) पंद्मजार्चितम्। ब्रह्मा तथा लक्ष्मी भी जिन चरणों की पूजा करते हैं। वत्सहरण के पश्चात् भगवान् के चरणों की अर्चना ब्रह्मा ने की थी। यह श्रीमद्भागवत से स्पष्ट है।[१]

(ख) धरणिमण्डनम्। वसुन्धरा जिनके संयोग से अलंकृत हो जाती है, तो क्या हमारे स्तन का परिमण्डन नहीं होगा? पृथ्वी पर आपके चरणों के दिव्य ध्वजादि चित्र की प्रतिकृति अंकित हो जाती है। इससे भगवच्चरणों के सौन्दर्य का अतिशय अभिव्यक्त होता है।

(ग) जब केवल इन चरणों के ध्यानमात्र से समस्त आपदाओं का ध्वंस हो जाता है तो स्पर्श से तो कामेच्छारूपी आपदा का लेश भी शेष नहीं रहेगा।

(घ) शंतमम्। परमकल्याण अर्थात् मोक्षपर्यन्त शान्ति की प्रतिष्ठा करने वाले हैं। अतः इनके स्पर्श से हमारे लिए भी मोक्ष अवश्यंभावी होगा। इस प्रकार यह आत्यन्तिक सुख का सम्पादक है।

---

१. **(क) वत्सहरण के पश्चात् ब्रह्मा द्वारा श्रीकृष्ण-प्रणति।**

"नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय।" श्रीमद्भागवत महापुराण, १०,१४,१।

(ख) भगवच्चरणों की महिमा का वर्णन करते हुए ब्रह्मा ने कहा है कि जिस व्यक्ति को आपके चरणारविन्द की अनुकम्पा का प्रसाद प्राप्त हो जाता है, वही आपकी महिमा का तत्त्वज्ञान करने में समर्थ होता है।

'अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।' वही, १०, १४, २९।

(ग) जिनकी अर्चना ब्रह्मा आदि नन्दनवन के पुष्प तथा गन्धादि द्वारा करते हैं।

ब्रह्माद्यैरर्चितो यस्तु गन्धपुष्पानुलेपनैः।
नन्दनादिसमुद्भूतैः सोऽर्च्यते वा कथं मया॥ विष्णुपुराण, ५, ७, ६६।

(घ) ब्रह्मा द्वारा भगवच्चरण की पूजा का प्रमाण वामनावतार में भी उपलब्ध होता है। जब भगवान् का चरण उन्नमित होकर सत्यलोक में पहुंचा तो भगवान् के नाभिकमल से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा ने स्वयं पूजा के जल से चरण को धोया और भक्तिपूर्वक अर्चना करके भगवान् की स्तुति की।

अथाऽऽद्रये प्रोन्नमिताय विष्णोरुपाहरत् पद्मभवोर्हणोदकम्।
समर्च्य भक्त्याभ्यगृणाच्छुचिश्रवा यन्नाभिपङ्केरुहसंभवः स्वयम्॥
श्रीमद्भागवत महापुराण, ८, २१, ३।

(ङ) ब्रह्मा, शङ्कर तथा लक्ष्मी तीनों द्वारा भगवदर्चना का एक और प्रमाण उपस्थित किया जाता है।

यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः। वही, १०, ३८, ८।

(ङ) प्रणतकामदम्। प्रणत कालियनाग तथा उसकी पत्नियों[1] की इच्छाओं की पूर्ति करने वाला है। यहां प्रणत पद विनयप्रधान प्रणामशील समस्त भक्तों का सामान्य रूप से ग्रहण करता है।[2]

(च) ध्येयमापदि। यह तो हमारा अनुभूत तथ्य है कि इन्द्र द्वारा प्रचण्ड प्रभंजन तथा वारिवाहों के मूसलधार आघातों से केवल आपके चरणों ने ही व्रजवासियों की रक्षा की थी।[3]

(३) रमण। यह सम्बोधन भगवान् के सौन्दर्य तथा माधुर्य की चरम सीमा का निर्देश करता है। यही कारण है कि आप अपने चरणों को हमारे स्तनों पर रख सकते हैं। इस सम्बोधन से यह भी ध्वनि निकलती है कि हम तुम्हें अत्यन्त कठोर तथा श्रमयुक्त कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा करने की धृष्टता कर रही हैं।

(४) स्वाभिमानसंपन्न गोपियों के हृदय में यह भाव प्रकट होता है कि यदि हमारे त्रिभुवनकमनीय लोकोत्तर सौन्दर्य के दर्शन से आपके हृदय में कामवासना का अंकुर प्रकट हो जाय तो उसका एकमात्र सरल उपाय है कि अपने चरणकमल हमारे स्तनों पर अर्पण कर दो[4] और इस प्रकार अपने हृदय की आधि का नाश कर लो। इसमें किसी भी प्रकार हमारे स्वाभिमान को ठेस नहीं पहुंचेगी क्योंकि तुम्हारे चरण समस्त कामनाओं की पूर्ति करने की शक्ति से संपन्न हैं।

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥

हे वीर! सुरतसुख की अभिवृद्धि करने वाला, शोक का नाश करने वाला, अच्छी प्रकार निनादित वेणु द्वारा चुम्बित, मनुष्यों की सांसारिक विषयों के प्रति इच्छा को भुलाने वाला तुम्हारे अधर का अमृत हमें बांट दो।

---

१. इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥ श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, १६, ५४।

२. यहां यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों को आत्मकल्याण की भावना से चाहने वाले के निमित्त भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल की अनुध्या ही एकमात्र कारण है।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः। एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्।
श्रीमद्भागवत महापुराण, ४, ८, ४१।

३. इन्द्र का कोप तथा व्रजवासियों की रक्षा। वही, १०, २५, ८–२८।

४. यद्यपि रासलीला के प्रसङ्ग में गोपियों की अपने स्तनों पर भगवच्चरण की स्थापना के हेतु केवल प्रार्थनामात्र प्राप्त होती है। इस प्रार्थना की पूर्ति का प्रमाण इन पांच अध्यायों में नहीं मिलता तथापि श्रीमद्भागवत के अन्य स्थल से इस प्रार्थना की पूर्ति का प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है।
गोचारणायानुचरैश्चरद्वने यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम्। वही, १०, ३८, ८।

(१) यहां भगवान् की अधरसुधा की चार विशेषताएं बताई हैं :

(क) यह सुरत के आनन्द की वृद्धि करता है। जिस प्रकार नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों का भोग क्षुधा की वृद्धि करता है, इसी प्रकार अधरामृत का पान सुरत की वृद्धि करता है।

(ख) यह अमृत सामान्य अमृत की अपेक्षा विशिष्ट है क्योंकि यह सांसारिक शोक का नाश करके मोक्ष प्रदान करने की शक्ति रखता है। सामान्य अमृत मादक होने से शोक उत्पन्न कर देता है।

(ग) जिस वेणु ने अपने मधुर निनाद द्वारा आपकी यशःपताका का विस्तार त्रिभुवन में किया है, उसी ने आपकी अधर-सुधा का चुम्बन किया है।

(घ) मनुष्यों की जितनी सार्वभौम सत्ता प्रभृति सांसारिक ऐश्वर्य की इच्छाएं हैं उन सब को यह तत्काल भुला देता है।

(२) इसमें एक भाव यह भी प्रतिपादित होता है कि आपकी अधर-सुधा सर्वप्रथम वेणु द्वारा चुम्बित होती है। चुम्बन से वेणु के सातों छिद्रों से अमृत की धारा बहने लगती है। यह धारा जब कर्ण में प्रविष्ट होकर हृदय में पहुंच जाती है तो अन्यान्य समस्त विषयों का विस्मरण हो जाता है। इस स्थिति में अन्तःकरण स्वयं वेणु के स्वरूप में ढल जाता है और हृदय के तार मुरली के तारों के साथ बजने लगते हैं तो हृदय द्वारा अधरसुधा का चुम्बन तो स्वयं हो जाता है। किन्तु गोपबालाओं को इस प्रकार के परम्परागत सम्बन्ध से अधरामृत का पान अभीष्ट नहीं था। वे तो साक्षात् पान की इच्छुक थीं और साक्षात्पान ही शोकनाशपूर्वक मोक्ष प्रदान करने की शक्ति से अधिजुष्ट होता है।

अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम् ॥१५॥

जब आप दिन में वन में चले जाते हो तो आपको नहीं देखने वालों के लिए एक क्षण भी युग के समान बन जाता है। घुंघराले कुन्तलों से सुशोभित आपके मुखारविन्द का दर्शन करने वाली नयन-चकोरियों पर पलकों के आवरण की रचना करने वाला ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होता है।

(१) श्लोक के पूर्वार्ध में गोपियों की तीव्र विरह की अवस्था का संकेत है कि भगवान् के वृन्दावन चले जाने पर एक-एक क्षण भी उनके लिए युग के समान बन जाता है। उत्तरार्ध में यह प्रकट किया है कि सायंकाल को वन से लौटने पर मिलन का आनन्द अपने चरम उत्कर्ष पर स्थित है। उस समय गोपियों को पलकों का व्यवधान भी विघ्न प्रतीत होता है। क्योंकि पलकों की विद्यमानता भगवद्दर्शन में बाधक बनती है। इस प्रकार गोपियों को भगवान् का निमेषमात्र भी विरह सह्य नहीं था।

(२) कानन शब्द का प्रयोग यहां वृन्दावन के अर्थ में किया गया है।[1]

---

१. **काननं वृन्दावनम्**। सारार्थदर्शिनी, श्रीमद्भागवतम् पृ० १२३६, श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारी।

(३) युगायते। एक क्षण का अर्धभाग भी युग के समान आचरण करने लगता है। इससे यह प्रकट होता है कि तुम्हारी निरन्तर अनुपस्थिति से तुम्हारे अनुपम सौन्दर्य की रूपमाधुरी के अभाव में हमें कितना दुःख हो रहा है। अभिप्राय यह है कि दुःख की अवस्था में क्षण का अर्धभाग भी अत्यन्त असह्य वेदनाएं प्रकट करता है। अतः तुम दया करके शीघ्र अपने दिव्यदर्शन से हमें कृतार्थ करो।

(४) (क) नेत्रपक्ष्मकृत्। संसार के अन्यान्य प्राणियों के नयनों पर यदि पलकों की रचना भी हुई तो कोई विशेष हानि नहीं किन्तु जो नेत्र भगवान् की रूपमाधुरी का दर्शन करते हैं उन पर पलकों की रचना करके ब्रह्मा ने अपनी मूर्खता का ही परिचय दिया है। इसलिए जड़ विशेषण का प्रयोग हुआ है। जड़ का अर्थ है जो दूसरों के सुख दुःख से सर्वथा अनभिज्ञ हो।

(ख) यदि कृती धातु का प्रयोग काटने के अर्थ[1] में मान कर अर्थ करें तो जो व्यक्ति आपका दर्शन करते समय नेत्रों की पलकों का विच्छेद कर सकते हैं वे ही वास्तव में अजड़ अर्थात् रसज्ञ भक्त हैं।[2] उन्हीं को आपका दिव्य दर्शन प्राप्त होता है। हम गोपियां तो नितान्त मूर्ख हैं। पुनः-पुनः हमारे नेत्रों की पलकें नेत्रों को ढकती हैं फिर आपका साक्षात्कार कैसे संभव हो सकता है।

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

हे अच्युत! हमारी गति को जानने वाले तुम्हारे गान से मोहित होकर, पति, पुत्र, कुटुम्बी तथा भाई-बन्धुओं का[3] उल्लंघन करके हम तुम्हारे पास आई हैं। हे कितव! रात्रि के समय कौन स्त्रियों का त्याग करेगा?

(१) गतिविदः। यह जब षष्ठी के एकवचन में होगा तो भगवान् का विशेषण बनेगा। इस पक्ष में यह भाव प्रकट होता है कि तुम संगीत की गति के आलाप में अच्छी प्रकार पारंगत हो और हमारे यहां आने की बात भी अच्छी तरह जानते हो। जब यह पद प्रथमा का बहुवचन होगा तो गोपियों का विशेषण बनेगा। अर्थात् हम तुम्हारी गति के स्वभाव को अच्छी तरह जानती हैं, फिर भी तुम्हारे गीत के प्रभाव से मोहित होकर खिचीं हुई तुम्हारे पास आ गईं हैं। यह वंशी की मादक ध्वनि तुमने जानबूझ कर बजाई थी, यह भाव भी "गतिविदः" पद से निकलता है। यदि कहा जाय कि भला यह कैसे संभव है कि कोई केवल मुरली में बजने वाले गीत की तान से मोहित हो जाय, तो यह पद प्रकट करता है कि तुम संगीत की गतियों तथा स्वरालापों के ज्ञान में इतने निपुण हो कि सहस्राक्ष देवराज इन्द्र तथा ब्रह्मा भी उस ध्वनि से मोह के जाल में फंस जाते हैं।

---

१. **कृती छेदने।**

२. **उदीक्षतां सतां पक्ष्मकृदेव अजडः।**

३. **मातरः पितरः पुत्राः भ्रातरः पतयश्च वः।**
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, २९, २०।

यदि कहा जाय कि जब तुमको हमारा स्वभाव मालूम था, हमारी मुरली की ध्वनि का चमत्कार मालूम था, तो फिर तुम क्यों जानबूझ कर आईं। तो गोपियों का एक ही उत्तर है कि तुम्हारा गान एक ऐसी मोहिनी शक्ति में मिला हुआ था कि हमें अपनी सुध-बुध ही नहीं रही।

(२) कितव। इस सम्बोधन का प्रयोग कपटी के अर्थ में इस कारण से किया गया है है कि तुमने अपने गान से हमें मोहित करके यहां बुलाया और अब त्याग करते हो। यहां यह भाव भी प्रकट होता है कि तुम्हारे कपट में भी एक विशेष चमत्कार है। क्योंकि साधारण रूप में जब कोई व्यक्ति कपटाचरण करता है तो उसके कपट के पीछे अपने अभिप्राय की पूर्ति का उद्देश्य प्रच्छन्न रूप में रहता है। किन्तु तुमने हमें नाम ले लेकर बुलाया। अपनी मोहिनी से मोहित करके बुलाया और फिर स्वयं ही हमारा त्याग करके छिप गये।

(३) अतिविलंघ्य। उनकी बात नहीं मानते हुए और विशेष रूप से उनके स्नेह तथा आज्ञा का तिरस्कार करके तथा धर्म की उपेक्षा करके हम यहां आई थीं। हमारे आने का प्रधान कारण था तुम्हारी मुरली की मधुर ध्वनि द्वारा मन का ठीक उस प्रकार मोह में पड़ जाना जिस प्रकार व्याध की संगीतलहरी की तान हिरणियों को फंसा लेती है।

(४) अच्युत। इस सम्बोधन का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि यद्यपि आपने कपट का व्यवहार किया किन्तु आपकी अपने स्वाभाविक गुणों से च्युति कभी भी नहीं होती।

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ॥१७॥

तुम्हारे एकान्त में संकेत करने वाले, काम-भावना का उदय करने वाले, प्रेमयुक्त निरीक्षण तथा मन्द-मन्द हास्ययुक्त मुखारविन्द को तथा भगवती लक्ष्मी के निवास-स्थानभूत विशाल वक्षःस्थल को देखकर हमारे हृदय में तुम्हारे प्रति अत्यन्त स्पृहा उत्पन्न हो गई है। इसलिए हमारा मन बार-बार मोह को प्राप्त होता है।

(१) यहां भगवान् के मुख के चार विशेषण हैं:
- (क) एकान्त में संकेत करने वाला।[1]
- (ख) कामभाव उत्पन्न करने वाला।
- (ग) प्रेमपूर्वक देखने वाला।
- (घ) मन्द स्मित वाला।

चारों विशेषणों से गोपियां यह बताना चाहती हैं कि भगवान् के ही हृदय में गोपियों के प्रति कामभाव का प्राकट्य हुआ था। इसलिए उन्होंने रात्रि के समय एकान्त में यमुनातट पर वंशीवट के नीचे अपनी अद्भुत मुरली का गान प्रारम्भ किया और इस गान के स्वर में गोपियों

---

१. **रहसि संविदं सांकेत्यं कर्म।**
श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, भागवतचन्द्रचन्द्रिका, मद्रास, १९१०, पृ० ३६०।

के पृथक्-पृथक् नाम निर्देशपूर्वक ध्वनि की लहरियां निकालीं। यही कारण था कि भगवान् के मुख पर एक दिव्य हास्य की छटा थी और निरीक्षण में प्रेम का सागर उमड़ रहा था। इस प्रकार जब प्रेम के सागर में डूब कर भगवान् ने गोपियों की तरफ देखा तो उनकी इस चितवन को तथा विशाल वक्षःस्थल को देख कर यदि गोपियों को मोह उत्पन्न हो गया तो क्या आश्चर्य की बात है?

(२) बृहदुरः। विशाल वक्षःस्थल पद का प्रयोग यह बताता है कि गोपियों के हृदय में भगवदालिङ्गन का भाव प्रकट हो चुका था।

(३) (क) वीक्ष्य तथा अतिस्पृहा। ये दोनों पद व्यक्त करते हैं कि पहले गोपियों ने अच्छी तरह भगवान् के मुखारविन्द की शोभा को देखा। तत्पश्चात् वक्षःस्थल के सौन्दर्यामृत-निस्यन्द का पान किया। तब उनके हृदय में स्पृहा प्रकट हुई।

(ख) यहां यदि 'उद्भवति' इस क्रिया का अध्याहार करें तो अर्थ होगा कि तुम्हारे कामोदय को देखकर ही हमारी स्पृहा प्रकट हुई है। इसमें हमारा लेशमात्र भी दोष नहीं है।

(ग) यदि 'अतिस्पृहा'[1] पद को तृतीया का एकवचन मानें, तो अतिस्पृहा के कारण ही हमारा मन बार-बार मोहित होता है, यह अर्थ स्वीकार करना होगा।

इस श्लोक में गोपियों ने स्पष्ट रूप से अपने भाव भगवान् के प्रति प्रकट किये हैं। किन्तु भगवान् के पक्ष से किञ्चिन्मात्र भी प्रतीकार की उपलब्धि तो दूर रही, गोपियां स्वयं भगवत्सन्निधि तथा भगवद्दर्शन से वंचित हो गईं। फलतः गोपियों के पक्ष से अत्यन्त दीनभावना यहां परिस्फुरित होती है।

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।
त्यज मनाक्च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥१८॥

हे अंग! व्रज में तुम्हारी अभिव्यक्ति व्रजनिवासियों तथा वृन्दावन-वासियों के दुःख का नाश करने वाली है और सम्पूर्ण जगत् का मङ्गल करने वाली है। तुम्हारे प्रति कामना रखने वाली हमको अपने भक्तों के हृद्रोग का निरसन करने वाली थोड़ी-सी औषधि दीजिये।

(१) व्यक्तिः। जब तुम एकबार व्रजमण्डल में प्रकट हो चुके हो तो फिर अन्तर्धान होना कहां तक युक्तिसंगत है? एक बार अपने प्राकट्य से तुमने समस्त व्रजवासियों के दुःखों का निराकरण किया है तथा सम्पूर्ण जगत् में मंगल का संचार किया है। किन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि हम गोपियों के लिए तुम दुःख का कारण बन रहे हो।

(२) अलम्। अलम् पद का अन्वय 'वृजिनहन्त्री' तथा 'विश्वमंगल' दोनों पदों के साथ किया जा सकता है। अर्थात् तुम्हारा प्रकट रूप समस्त व्रजवासियों के सब प्रकार के दुःखों का

---

१. **"सम्पदादिभ्यः क्विप्" इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय करने पर तृतीया के एकवचन में अतिस्पृहा होता है।**

आत्यन्तिक नाश करने वाला है और विश्व का अत्यन्त मंगल करने वाला है। अतः किसी ऐसे उपाय का हमें दान करो कि हमारे दुःख का भी निराकरण हो।

(३) त्वत्स्पृहात्मनाम्। यदि यह कहा जाय कि भगवान् की अभिव्यक्ति तो समस्त व्रजवासियों के दुःख का नाश करने वाली है और तुम भी व्रजमण्डल में रहती हो। अतः तुम्हारे दुःख का निवारण भी स्वतः हो जायगा फिर पृथक् दुःख निवारणार्थ प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है। इसी शंका का निराकरण करने के अभिप्राय से 'त्वत्स्पृहात्मनां' पद का प्रयोग हुआ है। अर्थात् हमारा मन तो केवल तुम्हारी कामना करता है। तुम्हारे मिलन के अभाव से ही दुःख की रचना हुई है और तुम्हारे मिलनमात्र से ही दुःख का नाश संभव है।

(४) (क) स्वजनहृद्रुजाम्। यदि कहा जाय कि हमारी प्राप्ति की कामना तथा हमारे मिलन की स्पृहा तो समस्त व्रजमण्डल करता है फिर तुम्हारी स्पृहा में क्या वैशिष्ट्य है कि विशेष कृपादान करें। तो इसका उत्तर भी इस पद में निहित है। अर्थात् ऐसी वस्तु का दान करो जो तुम्हारे अपने विशेष भक्तों के हृद्रोगों का उपशम करें। यहां गोपियां अपने आपको सामान्य श्रेणी से उठा कर विशेष भक्तों की श्रेणी में रखती है।

(ख) यहां 'हृद्रुजां' इस षष्ठी के बहुवचनान्त पद से एक तरफ तो हृदय के रोगों का प्राचुर्य है, दूसरी तरफ मनाक् पद से थोड़े-से उपाय की प्रार्थना है, जो असंगत प्रतीत होता है। वास्तव में यह याचकों की रीति होती है कि याचना पहले सर्वदा थोड़ी-सी करनी चाहिए किन्तु याचना के पीछे विशेष अभिप्राय छिपा रहता है। यहां भी यही संकेत है कि उपाय इतना अवश्य होना चाहिए कि हमारे हृदय के समस्त रोग तत्काल नष्ट हो जाँय। इस प्रकार थोड़ी-सी वस्तुयाचना के व्याज से दिव्यातिदिव्य भगवत्कृपा की प्राप्ति ही गोपियां का चरम लक्ष्य है।

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि यद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमसि धीर्भवदायुषां नः ॥१९॥

हे प्रिय! तुम्हारे जिस सुन्दर सुकुमार चरणकमल को हम अपने कर्कश स्तनों पर धीरे-धीरे डरती-डरती रखती हैं उसी चरण से तुम वन में पर्यटन करते हो। क्या ऐसे कोमल चरण को वहाँ कंकरों के संयोग से व्यथा नहीं होती? इसी से हमारी बुद्धि भ्रान्त है क्योंकि तुम्हारे से ही हमारा जीवन है।

(१) सुजातम्। वास्तव में चरणकमल पद से ही चरणों की कोमलता प्रकट हो जाती है। सुजात विशेषण का प्रयोग चरणों की अत्यधिक कोमलता का निर्देश करने के लिए किया गया है।

(२) भीताः। वैसे तो स्तन कर्कश हैं, इतने कथनमात्र से ही स्तनों की कठोरता अभिव्यक्त हो जाती है किन्तु डरते डरते कहने से चरणकमल में सुकुमारता का आधिक्य तथा स्तनों में कठोरता का आधिक्य प्रकट होता है।

(३) स्तनेषु। स्तनों पर भगवच्चरणारविन्द धारण करने का अभिप्राय यह है कि गोपियों का चरणों के प्रति अत्यधिक अनुराग हो गया था। उसका एकमात्र कारण था कि जो चरण रात को और दिन को भी वन में भ्रमण करते हैं तो वहां भ्रमण करते करते नाना प्रकार के अनिष्ट की संभावना रहती है। अतः अनिष्ट की संभावना ही विशेष अनुराग के प्रति कारण हो गई थी।

(४) कूर्पादिभिः। भगवान् के भ्रमण करने के दो स्थान थे :

(क) गोचारण के निमित्त वन में।

(२) लीला के लिए यमुना तट पर।

प्रस्तुत प्रसंग में रात्रि में गोचारण का तो प्रश्न ही नहीं था। केवल गौओं के पीछे-पीछे भ्रमणकाल में तो तृणमय स्थानों में कंकर चुभने की संभावना होती है, यहां यमुना के किनारे तो वृन्दावन के स्वाभाविक ऐश्वर्य के कारण एक भी कंकर नहीं था फिर भी गोपियों की इस प्रकार की शंका का आधार केवल प्रेम का आधिक्य था क्योंकि जब किसी के हृदय में स्नेह छलकता है तो वह अपने प्रिय के लिए सदा अनिष्ट की आशंका करता है।

(५) भ्रमति। बुद्धि की भ्रान्ति से यहां मोह की अवस्था से अभिप्राय है। क्योंकि हमारा जीवन तो तुम से है। वास्तव में गोपियों को इस भाव का अधिक अभ्यास हो गया है।[१]

(६) यहां यह भाव भी प्रकट होता है कि तुम्हारे चरणों की व्यथा इतनी तीव्र है कि हम भी स्वयं प्राणधारण करने में असमर्थ हो रही हैं क्योंकि हमारे जीवन का तो अत्यन्त निकट से आपके जीवन से सम्बन्ध है। इस प्रकार गोपियां यह बताती हैं कि हमारे हृदय का यही तो रोग है और इसका एकमात्र उपाय है कि तुम्हारे चरणों को हम प्रेमपूर्वक अपने हृदय पर धारण करें, तभी यह रोग नष्ट होगा। अतः हे करुणासागर ! अब शीघ्र प्रकट होकर हमें दर्शन दो।

---

१. (क) **त्वयि धृतासवः**। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ३१, १।

(ख) **अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्**। वही, १०, ३१, १५।

चौथा अध्याय[1]

श्रीशुकदेव बोले

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥१॥

हे राजन् ! इस प्रकार समस्त गोपियां श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा से परम प्रेमपूर्वक गाती हुईं तथा अनेक प्रकार के प्रलाप करती हुईं सुन्दर स्वर से रोने लगीं।

(१) प्रलाप पद से यह भाव प्रकट होता है कि भगवद्विरह की अवस्था में गोपियों को यह बोध नहीं रहा था कि किन शब्दों का प्रयोग उचित है और किन शब्दों का प्रयोग असंगत है। परिणाम यह हुआ कि उनके प्रलाप में अनेकानेक निरर्थक शब्दों की प्रचुरता विद्यमान थी।

(२) इस प्रकार जब भगवल्लीलाओं के अनुकरण से, सानुराग गानमाधुर्य से तथा भिन्न-भिन्न प्रलापों से भी भगवान् प्रकट नहीं हुए तो समस्त गोपियां परस्पर मिलकर रोने लगीं। गोपियों के रोने का कारण भगवान् के अन्तर्धान होने से अपने शरीर की रक्षा का भय नहीं था बल्कि एकमात्र कारण भगवद्दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा थी।

(३) गोपियों के रुदन के दो भाव थे :

(क) प्रथम भाव यह था कि जिस प्रकार दुःखी व्यक्ति किसी राजा के सम्मुख रोकर अपने दुःख का निवेदन करता है, उसी प्रकार गोपियां भी राजाओं के राजा देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्ण के सामने रो रोकर अपनी व्यथा प्रकट कर रहीं थीं।

(ख) रुदन का दूसरा आशय यह था कि गोपियों के समस्त साधनसम्बन्धी अभिमान अश्रुकणों के साथ धुल गये थे। अभिमान के नष्ट होते ही भगवान् ने सोचा कि अब थोड़े-से भी विलम्ब से गोपियों के प्राणवियोग का भय उपस्थित हो सकता है।

---

१. प्रस्तुत अध्याय में गोपसुन्दरियों की विरहावस्था के प्रति अपनी अहैतुकी अनुकम्पा के कारण भगवान् के प्रकट होने की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जब चिर-काल तक गोपियां लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र की विविध चरित्रलीलाओं का गान के साथ-साथ अनुकरण करती रहीं किन्तु भगवान् प्रकट नहीं हुए तो गोपियों को मूर्च्छा आने लगी और वे सब अर्धचेतनावस्था में प्रलाप करने लगीं। असंबद्ध प्रलाप करने पर भी जब भगवद्-दर्शन प्राप्त नहीं हुए तो वे सब मिलकर रोने लगीं।

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥२॥

साक्षात् कामदेव के मद का मथन करने वाले, पीताम्बर धारण करन वाले, वनमाला पहिने हुए तथा मन्द हास्य से परिमण्डित मुखारविन्द के साथ भगवान् श्रीकृष्ण उन गोपियों के मध्य में प्रकट हुए ।

(१) जब गोपसुन्दरियों ने सब प्रकार के साधनबल के त्यागपूर्वक केवल भगवदनुकम्पा का आश्रय लेकर रोना प्रारंभ किया तो भगवान् एकक्षण के लिए भी अन्तर्हित न रह सके और गोपियों के प्रबल प्रेमरज्जु से खिच कर वहां प्रकट हो गये ।

(२) स्मयमान । भगवान् के मन्द-हास्य के चार कारण थे ।

(क) भगवान् का मुखपद्म मन्द स्मित से परिमण्डित था । इसका प्रथम कारण भगवान् के अन्तःकरण में अपने अन्तर्धान होने से गोपियों के प्रति एक प्रकार की अपराध की भावना का प्रकट होना था । अपराध के लिए भगवान् ने गोपांगनाओं की मानसिक ग्लानि का निमित्त स्वयं अपने को माना । उसी अपराध के निराकरण के हेतु मन्द-मन्द स्मित से अलंकृत मुखकमल के साथ प्रकट हुए ।

(ख) भगवान् गोपियों को यह बताना चाहते थे कि मैं तो केवल यही जानने के लिए अन्तर्धान हुआ था कि मेरी अनुपस्थिति में तुम्हें विरह का विषाद कितने अंश में होता है । तुम्हारी विकलता देखकर मेरे समस्त सन्देह जड़मूल से नष्ट हो गये । वास्तव में मैं तुम्हारे साथ केवल उपहास कर रहा था । अब प्रसन्नता के प्रकर्ष में खिल रहा हूं ।

(ग) भगवान् ने विचार किया कि गोपियों को मेरे विरह का उतना तीव्र दुःख नहीं है जितना मेरे वन में रात्रि को भ्रमण करने से उत्पन्न होने वाले दुःख की आशंका का दुःख है । अतः यदि मैं गंभीर भाव से, चिन्तित मुखमुद्रा से अथवा औदासीन्य भाव से प्रकट होता हूं तो इन दुःखित गोपबालाओं का मन और भी दुःखी होगा । फलतः मन्द स्मित के साथ प्रकट होना उचित है ।

(घ) जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का अपराध करता है तो अपराध के पश्चात् किसी तृतीय व्यक्ति को साथ लेकर अन्य व्यक्ति के सामने आता है । इसका प्रधान उद्देश्य यह है कि तृतीय व्यक्ति की उपस्थिति में अपराधी व्यक्ति के प्रति क्रोध की मात्रा उतनी उत्कट नहीं होती । इसी कारण से भगवान् भी मन्द हास्य को साथ लेकर प्रकट हुए क्योंकि उनका भी गोपियों के प्रति यह अपराध था कि मुरली की मधुर स्वरलहरी में कामबीज का गान करके प्रत्येक गोपी को स्वतन्त्र रूप से पृथक्- पृथक् नाम लेकर बुलाया और फिर स्वयं अन्तर्धान हो गये ।

(३) पीताम्बरधरः । पीताम्बर को धारण करके भगवान् का प्रकट होना यह भाव बताता है कि वैकुंठ में भगवती लक्ष्मी के साथ रमण करने योग्य दिव्य विग्रह से भगवान् प्रकट हुए ।

(४) स्रग्वी । इस पद से भगवान् ने गोपियों को इस अर्थ की प्रतीति कराई कि मैंने

तो तुम्हारी पहिनाई हुई माला अभी तक धारण कर रखी है। वास्तव में मैं तो तुम्हारा स्मरण करते हुए एकान्तसेवन कर रहा था। यह भाव भी प्रकट होता है कि ऐसा सन्देह मन में कभी मत लाना कि मैं किसी अन्य स्त्री के प्रति आसक्त होकर तुम्हें छोड़ गया था। इसका यही प्रमाण है कि तुम्हारी पहिनाई हुई माला मलिन नहीं हुई है। जब मैं तुम्हारी माला को नहीं छोड़ सकता तो तुम्हें किस प्रकार विस्मृत कर सकता हूं।

(५) मन्मथमन्मथः। इस पद के निम्नलिखित दो भाव हैं :

(क) भगवान् ने गोपियों को केवल करुणा से द्रवित होकर दर्शन दिया था। भगवद्दर्शन में कामवासना के संस्कार का लेशमात्र भी निमित्त नहीं था। जो स्वयं कामदेव को मथित करने वाला है, उसमें काम की स्थिति सर्वथा असंभव है। पञ्चरात्र परम्परा में भगवान् के चार प्रधान व्यूहों का वर्णन प्राप्त होता है। इनको वासुदेव व्यूह, संकर्षण व्यूह, प्रद्युम्न व्यूह तथा अनिरुद्ध व्यूह कहते हैं। चतुर्व्यूह उपासना में अनिरुद्ध कामदेव अथवा अहंकार का ही प्रतिनिधान करता है और इस अनिरुद्धापरपर्याय कामदेव के भी श्रीकृष्ण ही प्रकाशक हैं।

(ख) भगवान् के मन में द्वितीय भाव यह था कि दुःखी व्यक्तियों के समीप तथा विरह-संतप्त गोपांगनाओं के पास ऐसा दिव्य रूप धारण करके चलूं कि वे तत्काल विरहताप को भूल जांय।

(६) साक्षात्। इस पद से यह अर्थ ध्वनित होता है कि भगवान् अनन्त कामदेवों के साक्षात् लावण्य से संयुक्त है। फलतः उनके दर्शनमात्र से गोपियों का सम्पूर्ण क्रोध तत्काल शान्त हो गया।

(७) उधर कामदेव को भगवान् ने इस अर्थ की प्रतीति कराई कि तुम्हारी गोपियों रूपी सेना से मेरा मन विचलित नहीं हुआ। अतः तुम पराजित हो। अब गोपियों ने रोकर अपने समस्त अभिमान तथा अनुष्ठान बल का परित्याग करके मेरी शरण ग्रहण की है। अतः इनकी जीवनरक्षा के निमित्त मैं पुनः प्रकट होता हूं।

(८) ईश्वरपक्ष में यह अर्थ निकलता है जब साधक के हृदय में अहंभाव का सर्वथा नाश हो जाता है, जब किसी भी विधि का, साधनापद्धति का, मन्त्रजप का, क्रिया अथवा चर्या का बल नहीं रहता, केवल तन्मय होकर भगवच्चरणों की शरणागति होती है, तो कृपासिन्धु भगवान् स्वयं तत्काल प्रकट हो जाते हैं।

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत्सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥३॥

अपने प्रियतम को आया हुआ देखकर गोपियों के नेत्र अनुराग से खिल गए। सब गोपियां एक साथ उठकर खड़ी हो गईं। ठीक उसी प्रकार जैसे प्राण के संयोग से शरीर खड़े हो जाते हैं।

(१) आगतम्। उस समय भगवान् के वियोग में गोपियां अत्यन्त व्याकुल थीं। अतः

उनके आगमन का ज्ञान गोपियों को भगवान् के दिव्य गन्ध के आघ्राण द्वारा हुआ। गन्ध के आघ्राण मात्र से 'भगवान् आ गये'—यह भाव प्रकट हुआ।

(२) प्रीति। गोपियों का भगवच्चरणों में इतना अनुराग था कि अनुराग के प्राचुर्य से उनका क्रोध तत्काल नष्ट हो गया और उनके नेत्रकमल खिल गये।

(३) अबलाः। यद्यपि गोपियां बलशून्य थीं। भगवान् के विरह में उनका बल और क्षीण हो गया था। किन्तु अपने प्रियतम को आया हुआ देख कर उनमें अकस्मात् बल का संचार हो गया और सब उठकर खड़ी हो गईं।

(४) प्राणमिवागतम्। (क) जिस प्रकार मृत शरीर में प्राणसंयोग से शरीर के समस्त अवयव तत्काल क्रियासम्पन्न हो जाते हैं।

(ख) जिस प्रकार योगी अपने प्राणशून्य शरीर में पुनः प्राण का संचार प्राप्त करके खड़ा हो जाता है।

(ग) 'प्राणं' इस एकवचन के प्रयोग से यह अर्थ प्रतीत होता है कि भगवान् कृष्ण अकेले ही समस्त गोपांगनाओं के प्राणस्वरूप थे।

(५) विलोक्य। (क) विशेषरूप से दर्शन करके। इसका यह अभिप्राय है कि रोने के कारण गोपियों को भगवान् के आने की प्रतीतिमात्र हुई। निश्चय नहीं हुआ। अश्रुकणों को पोंछ कर जब फिर ध्यान से देखा तब निश्चय हुआ।

(ख) रोते रोते गोपियां अर्धचेतनावस्था में थीं। जब कुछ-कुछ चेतनता हुई तो भगवान् को विशेष रूप से देखा।

काचित्करास्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।
काचिद्दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम् ॥४॥

किसी ने श्रीकृष्ण के करकमलों को आनन्द से अपने दोनों हाथों से थाम लिया। किसी ने उनकी चन्दनचर्चित भुजा को अपने कंधे पर रख लिया।[1]

भगवान् की अष्ट सखियों के नाम ये हैं:

(१) चन्द्रावली, (२) श्यामा, (३) शैव्या, (५) पद्मा, (५) राधा, (६) ललिता, (७) विशाखा, (८) भद्रा।

इन आठ सखियों में प्रारंभ की चार सखियों का स्वभाव अत्यन्त सरल है। इसलिए इनको दक्षिणा कहते हैं। अन्त की चार सखियों का स्वभाव कुछ टेढ़ा है। अतः इनको मानिनी कहते हैं। इसी लिए यहां प्रस्तुत प्रसंग में सरल सखियों की चेष्टाओं का वर्णन तो आधे-आधे श्लोक में किया गया है और मानिनी सखियों के स्वभाव का वर्णन एक-एक श्लोक में अभिवर्णित है। पूर्वार्ध की प्रत्येक सखी उत्तरार्ध की प्रत्येक सखी की क्रमशः प्रतिस्पर्धिनी है।

---

१. यद्यपि भगवान् के प्रकट होते ही समस्त गोपियां एक साथ उठकर खड़ी हो गई थीं तथापि प्रस्तुत प्रसङ्ग में केवल प्रधान गोपियों की चेष्टा का ही वर्णन किया गया है।

पहली सखी की चेष्टा

(१) सर्वप्रथम चन्द्रावली नाम की दक्षिणा सखी की चेष्टा का वर्णन है। यह मृदु नायिका है। चन्द्रावली अपने प्रियतम के सर्वथा अनुकूल तथा आधीन है और राधा की प्रतिस्पर्धिनी है। उसने भगवान् के दाहिने हाथ को अपने दोनों हाथों में थाम लिया। उसके मन में परम आनन्द था। दोनों हाथों से भगवान् का हाथ पकड़ने का अभिप्राय था कि स्थान-स्थान पर भ्रमण द्वारा जो शरीर में श्रम तथा क्लान्ति हुई होगी वह कोमल करतलों के सप्रेम स्पर्श से तत्काल नष्ट हो जायगी।

दूसरी सखी की चेष्टा

(२) द्वितीय चेष्टा में श्यामा नाम की दक्षिणा सखी की चेष्टा का वर्णन है। श्यामा राधा की प्रिया है और ललिता की प्रतिस्पर्धिनी सखी है। अपने कान्त प्रियतम को अपने आधीन रखती है। इसने भगवान् के चन्दनचर्चित बाहु को अपने कन्धे पर रखा। चन्दनचर्चित पद से यह स्पष्ट है कि उनकी भुजा में वियोग के ताप को शान्त करने की विलक्षण शक्ति थी।

काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम्।
एका तदंघ्रिकमलं संतप्ता स्तनयोरधात् ॥५॥

किसी तन्वी ने भगवान् के ताम्बूल का चर्बित रस अपनी अञ्जलि पर झेल लिया। एक संतप्त गोपी ने भगवान् का चरणकमल अपने स्तनों पर धारण किया।

तीसरी सखी की चेष्टा

(१) पूर्वार्ध में शैव्या नाम की दक्षिणा सखी की चेष्टा का वर्णन है। यह स्वयं मृदु नायिका है। यह चन्द्रावली की मित्र है और विशाखा की प्रतिस्पर्धिनी है। इसमें भी कान्त के आधीन रहने का विशेष गुण विद्यमान रहता है। इसने अपने दोनों हाथों का एक साथ प्रयोग किया। इसमें विशेष अभिप्राय यह था कि वह इतनी कोमलांगी थी कि एक हाथ से शायद ताम्बूल चर्वण धारण करने में समर्थ नहीं थी।

चौथी सखी की चेष्टा

(२) उत्तरार्ध में पद्मा नाम की दक्षिणा सखी की चेष्टा का मृदुल विन्यास है। पद्मा भी चन्द्रावली की सुहृद् है और भद्रा की प्रतिस्पर्धिनी है। इस समय भगवान् श्यामा का अवलम्बन लेकर स्वयं खड़े थे। पद्मा ने भगवान् का दक्षिण चरण स्वयं पृथ्वी पर बैठकर अपने स्तनों पर रखा क्योंकि वह विरह में संतप्त थी।

इस प्रकार यहां तक अष्ट सखियों में से प्रारम्भ की चार दक्षिणा सखियों की तात्कालिक चेष्टाओं का वर्णन समाप्त करके मानिनी सखियों की चेष्टा का वर्णन एक-एक श्लोक में करते हैं।

(३) रासक्रीड़ा के काल में प्रत्येक कुंज में योगमाया के माहात्म्य से पुष्पमालाएं, चन्दनद्रव तथा ताम्बूल आदि पदार्थ स्थापित कर दिये गये थे।

एका भ्रकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।
घ्नन्तीवैक्षत्कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा ॥६॥

प्रणय के कोप से व्याकुल होकर, भ्रकुटी चढ़ाकर, दाँतों से होठ को काटती हुई और कटाक्षों के आक्षेपों से ताड़ना करती हुई एक गोपी ने देखा।

पाँचवीं सखी की चेष्टा

यहां मानिनी राधा की चेष्टा का वर्णन है। श्रीराधा मानिनी गोपियों में सर्वश्रेष्ठ मानी गई हैं। गोपालतापिनी उपनिषद् में इनके लिए 'गान्धर्वी' शब्द का प्रयोग किया गया है।[1]

यहां श्रीराधा के मुखारविन्द पर भृकुटि तथा ओष्ठदंश द्वारा क्रोध का भाव प्रकट है। इस क्रोध में प्रणय की भावना ओतप्रोत है। इसी राधा को भगवान् समस्त गोपियों को छोड़ कर एकान्त में ले गये थे और फिर वहां इसका भी त्याग कर दिया था।

अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नातृप्यत्सन्तस्तच्चरणं यथा ॥७॥

दूसरी गोपी ने अपलक नयनों से भगवान् के मुखारविन्द का सेवन किया। पूर्णरूप से पान करके भी वह तृप्त नहीं हुई। जिस प्रकार सज्जन भगवान् के चरणों की सेवा करके तृप्त नहीं होते।

छठी सखी की चेष्टा

(१) यहां मानिनी ललिता की चेष्टा का वर्णन है। यहां कवि की कल्पना में नेत्र भ्रमर हैं जो मुखकमल की रसमाधुरी का आस्वादन कर रहे हैं। कहीं ये भ्रमर उड़ न जांय—इस भावना से ललिता अपलक नेत्रों से देखती हुई मुखकमल की सौन्दर्य-पीयूष-लहरी का पान कर रही थी। किन्तु पूर्ण पान करके भी वह तृप्त नहीं हुई। इसका एकमात्र कारण था कि अपने मान के कारण ललिता अपने स्थान से उठ कर भगवान् तक नहीं आई। वहीं बैठी-बैठी भगवन्मुख-माधुरी का पान करती रही। अतः उत्कण्ठा की पूर्ण शान्ति नहीं हो सकी।

(२) सन्तः। इस पद से यहां दास्यभक्ति में निष्ठा रखने वाले भक्त जनों का ग्रहण किया गया है।

(३) आपीतं। यहां पान करने का अर्थ है दर्शन करना। इस प्रकार ललिता अच्छी तरह भगवान् के मुखपद्म के पुनः दर्शन के व्याज से रसनिस्यन्दमाधुरी का पान करती हुई भी तृप्त नहीं हुई।

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च ।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसंप्लुता ॥८॥

किसी गोपी ने नेत्रों के द्वारा अपने प्रियतम भगवान् को हृदय में बिठा कर

---

१. "तासां मध्ये हि श्रेष्ठा गान्धर्वी ह्युवाच।" गोपाल-उत्तरतापिनी उपनिषद्, ५।

नेत्र बन्द कर लिये। परमानन्द से वह रोमाञ्चित हो गई। भगवान् का आन्तरिक आलिङ्गन करते हुए एक योगी के समान आनन्द में आप्लावित हो गई।

सातवीं सखी की चेष्टा

(१) यहां श्रीराधा की अनन्य सखी विशाखा की चेष्टा का वर्णन है। यह भी परम मानवती अपने स्थान पर बैठी रही। प्रथम तो प्रियतम को नेत्र के रास्ते से इसने हृदय में बिठाया और फिर नेत्र इस भाव से बन्द कर लिये कि कहीं वापिस लौट न जाय। हृदय में बैठे हुए भगवान् का जब उसने आलिंगन किया तो आनन्दसागर में डूब गई और उसका अंग-अंग पुलकित हो गया। मानिनी विशाखा का अभिप्राय था कि मैं तुम्हें तुम्हारे पास आलिंगन करने के लिए नहीं आती। तुम स्वयं मेरे पास आवो। किन्तु जैसे ही भगवत्साक्षात्कार हुआ तो लज्जा के कारण अपने आप उसके नेत्र बन्द हो गये।

दृष्टान्त में यह बताया गया है कि जिस प्रकार परम योगी समाधि की अवस्था में परमानन्द का अनुभव करता है उसी प्रकार इस गोपी ने परमानन्द का आस्वादन किया।

आठवीं सखी की चेष्टा

(२) इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि मानिनी भद्रा नाम की आठवीं सखी की चेष्टा का वर्णन श्रीमद्भागवत में नहीं मिलता। विष्णुपुराण में प्राप्त होता है। इसने भगवान् को आते हुए देखा तो हर्ष से विभोर हो उठी और कृष्ण कृष्ण कृष्ण नाम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बोल सकी ?[1] वास्तव में विष्णुपुराण में भद्रा नाम नहीं मिलता किन्तु जीव-गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा धनपति सूरि ने अपनी टीकाओं में आठवीं सखी की विष्णुपुराण में संवर्णित चेष्टा को भद्रा की चेष्टा के रूप में स्वीकार किया है।

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥९॥

भगवान् का दर्शन गोपियों के लिये एक दिव्य महोत्सव हुआ और उन्होंने उसके सुख में डूब कर भगवद्विरह के ताप का उसी प्रकार त्याग कर दिया जिस प्रकार ईश्वर को प्राप्त करके मुमुक्षु जन अपने ताप का त्याग कर देते हैं।

(१) प्राज्ञम्। इसके चार अभिप्राय हैं :

(क) जैसे परम पुरुषोत्तम सच्चिदानन्द परमेश्वर के सान्निध्य में मुमुक्षु भक्त जन त्रिविध ताप को भूल जाते हैं।

---

१. काचिदालोक्य गोविन्दमायान्तमतिहर्षिता।
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति प्राह नान्यदुदैरयत्। विष्णुपुराण, ५, १३, ४४।

(ख) जैसे ब्रह्मतत्ववेत्ता के पास जाकर मोक्षेच्छु जन मोक्ष के अभाव से उत्पन्न ताप को भल जाते हैं।

(ग) जैसे बुद्धिमान् मनुष्य के पास जाकर सामान्य जन अपने अज्ञानजन्य ताप को भूल जाते हैं।

(घ) जिस प्रकार जीव प्राण को पाकर सांसारिक ताप को भूल जाते हैं।

(२) जीव की तीन प्रकार की अवस्था होती है :

(क) जाग्रत्। इस अवस्था का साक्षी व्यष्टि-चैतन्य है जिसे पारिभाषिक रूप में 'विश्व' कहते हैं।

(ख) स्वप्न। इस अवस्था का साक्षी भी व्यष्टि-चैतन्य है। जिसे पारिभाषिक रूप में 'तैजस' कहते हैं।

(ग) सुषुप्ति। इस अवस्था का साक्षी भी व्यष्टि-चैतन्य है। इसी को पारिभाषिक रूप में 'प्राज्ञ' कहते हैं।

इसी प्राज्ञ का संकेत इस श्लोक में किया गया है। जिस समय जीव सुषुप्ति की अवस्था में इस प्राज्ञ की सन्निधि का अनुभव करता है तो सासारिक त्रिविध ताप का तत्काल विनाश प्रारंभ हो जाता है। यहां यह स्मरणीय है कि सुषुप्ति में प्राज्ञ की सन्निधिमात्र से त्रिविध ताप का तात्कालिक आत्यन्तिक नाश कभी नहीं होता बल्कि उनकी विनाशोन्मुख प्रवृत्ति प्रारंभ होती है। क्योंकि इस स्थिति में भी जीव के लिए अविद्या का भाव गूढ़ रूप से विद्यमान रहता है और अविद्या के आत्यन्तिक विनाश के पूर्व ताप का पूर्ण नाश नहीं होता। यही भाव यहां गोपियों के विषय में "प्राप्य" क्रिया द्वारा प्रकट किया गया है। भगवत्सन्निधि से गोपियों का विरहजन्य ताप नष्ट होने लगा। किन्तु ताप का अत्यन्ताभाव नहीं हुआ। इसका एकमात्र कारण यही था कि गोपललनाओं को यह भय था कि कहीं फिर भगवान् उन्हें छोड़ कर न चले जांय। यह संदेह का अंकुर उनके हृदय में गूढ़ रूप में जम गया था।

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥१०॥

हे तात! उन शोकरहित गोपरमणियों से घिरे हुए भगवान् अच्युत अत्यन्त अधिक शोभित हुए, जिस प्रकार शक्तियों से समावृत पुरुष शोभित होता है।

(१) 'तात' सम्बोधन से यह भाव प्रकट होता है कि श्रीशुकदेव का परीक्षित् के प्रति पुत्रतुल्य वात्सल्य भाव था। इसी लिए उन्होंने यह परम रहस्य प्रकट किया था। इस सम्बोधन से परम अनुकम्पा का भाव प्रकट होता है।

(२) भगवान् स्वयं ६ प्रकार के ऐश्वर्यों से सम्पन्न थे और स्वयं स्वरूपानन्द से कभी भी च्यत नहीं थे। फिर भी गोपियों के साहचर्य में उनकी विशेष शोभा प्रकट हुई।

(३) पुरुष। इस पद के निम्नलिखित तीन आशय हैं :

(क) जिस प्रकार जीव इन्द्रियों से युक्त होकर शोभित होता है।

(ख) जिस प्रकार उपासक ज्ञान, बल तथा वीर्यादि शक्ति से शोभित होता है।

(ग) जिस प्रकार परमात्मा सत्त्व आदि शक्ति से संयुक्त होकर शोभित होता है।

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः।
विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥११॥

तत्पश्चात् उन समस्त गोपाङ्गनाओं को लेकर भगवान् यमुना के तट पर आ गये। जहां खिले हुए कुन्द तथा मन्दार पुष्पों के सुगन्धित पवन से मत्त मधुकर गूंज रहे थे।

विष्णुपुराण से यह स्पष्ट है कि इन समस्त गोपबालाओं का विरहताप नष्ट हो गया था। किसी गोपी का संताप भगवान् ने मधुरातिमधुर वचनों से दूर किया, किसी का संताप अपने परम मधुर निरीक्षण से दूर किया, और किन्हीं को वे अनुनय के साथ हाथ पकड़ कर वहां ले गये।[1]

इस प्रकार मधुर आलाप के साथ हाथ थामे-थामे कालिन्दी के पुलिन पर आकर इन गोपबालाओं के संयोग से परम शोभित हुए।

(१) कालिन्द्याः। यहां कलिन्दकन्या कालिन्दी का यमुना के अर्थ में प्रयोग साभिप्राय है। यदि कलिन्द की 'व्युत्पत्ति 'कलि का नाश करने वाला' की जाय[2] तो इस भाव का स्फुरण होता है कि जो कलिन्द कलि अर्थात् कलह का विनाशक है उसी की पुत्री के पुलिन पर भगवान् का गोपियों के साथ कलहवाद नहीं हो सकता।

(२) विभुः। इसके दो अर्थ हैं।

(क) व्यापक होने के कारण भगवान् का उन समस्त गोपरमणियों में एकबुद्धि का भाव प्रकट किया गया है। क्योंकि विभु कभी भी एकदेशस्थायी नहीं होता।

(ख) जो व्यापक है वह कहीं भी जा सकता है।

(३) इसका आध्यात्मिक अर्थ है कि जब गोपीरूपी श्रुतियों का ज्ञान शुद्ध चिदाकाश में प्रकट होता है तो आत्मा प्रसन्न हो जाती है। कुन्द तथा मन्दार के पुष्प ही योगमार्ग के यम-नियम हैं। उनके अभ्यास द्वारा जब प्राणवायु पर अधिकार उत्पन्न होता है तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य रूपी षड्वर्ग स्वतः निरुद्ध हो जाता है।

शरच्चन्द्रांशुसंदोहध्वस्तदोषातमः शिवम्।
कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम् ॥१२॥

शरत्पूर्णिमा के चन्द्रमा की किरणों के समूह से निशा का अंधकार नष्ट

---

१. ततः काञ्चित् प्रियालापैः काञ्चित् भ्रूभङ्गवीक्षितैः।
निन्येऽनुनयमन्यां च करस्पर्शेन माधवः। विष्णुपुराण, ५, १३, ४७।

२. कलिं द्यति खण्डयति इति कलिन्दः।

हो गया था। परम मंगल का साम्राज्य था। यमुना ने अपने तरङ्गरूपी हाथों से कोमल बालुका बिछाई थी।

(१) शरत्पूर्णिमा की धवल ज्योत्स्ना से यमुना का तट दिन के समान उज्ज्वल हो गया था।

(२) यमुना के लिए 'कृष्णा' शब्द का प्रयोग यह बताता है कि कृष्ण के सदृश नाम तथा वर्ण के कारण कृष्णा कृष्ण की सखी थी। उसने भगवान् के रास-रमण के लिए स्वयं अपने हाथों से पुलिन की बालू फैलाई थी। यमुना की तरंगों द्वारा तटसिकता की समतल रचना से तरंगों में हाथ के आरोप की कल्पना अत्यन्त संगत प्रतीत होती है।

(३) आध्यात्मिक अर्थ में शरत्काल से भगवान् के आराधनारूपी उस शुद्ध कर्म से अभिप्राय है जिसके द्वारा आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में विवेकरूपी चन्द्रमा का उदय होता है। इस विवेकचन्द्र की किरणें विचार की धाराएँ हैं। उनके समूह से काम-क्रोध, राग-द्वेष, हर्ष तथा शोकरूपी अन्धकार मन से निकल जाता है। अन्धकार के नाश होते ही आत्मा के दिव्य परम मंगलमय गुण प्रकट होते हैं। तत्पश्चात् कृष्णा अर्थात् अविद्या की तरङ्गों से मन की वृत्तियों का कभी भी स्पर्श नहीं होता। अविद्या की तरंगों से यहां आत्मा तथा परमात्मा के विषय में अज्ञानात्मक भेदवृत्ति का अभिप्राय है।

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥१३॥

भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन से गोपियों को परम आनन्द हुआ। उनके हृदय की सम्पूर्ण व्यथा नष्ट हो गई। उनके समस्त मनोरथ उसी प्रकार पूर्ण हो गए जिस प्रकार परमात्मा से समन्वित होकर श्रुतियां पूर्ण होती हैं। उन्होंने अपने स्तनों पर लेप किए हुए कुंकुम द्वारा चिह्नित उत्तरीयों से अपने आत्मबन्धु श्यामसुन्दर के बैठने के लिए आसन बना दिए।

(१) इस समय पूर्णकाम भगवान् श्यामसुन्दर स्वयं रासक्रीड़ा के लिए उत्सुक थे। ऐसे रूप में उनका दर्शन पाकर गोपांगनाओं की समस्त आधियां नष्ट हो गईं।

(२) आसन बिछाने का यह भाव है कि पहिले गोपियों को भगवान् ने उपदेश देना प्रारंभ किया था किन्तु वह अधूरा ही रह गया। क्योंकि गोपियों ने उस उपदेश को सुनने में अपनी थोड़ी सी भी तत्परता नहीं दिखाई बल्कि उसका निवारण करने का प्रयत्न किया। संभवतः इसी लिए भगवान् दुःखी होकर अन्तर्धान हो गये। अब गोपियों ने आसन बिछाकर यह भाव प्रकट किया कि इस आसन पर बैठ कर पहले अपने मुखारविन्द से दिव्य उपदेश द्वारा हमें कृतकृत्य करो।

(३) आध्यात्मिक अर्थ में जब प्रत्यगभिन्न परमात्मा के ज्ञान का उदय स्वतःशुद्ध अन्तः-

करण में होता है, तो उसके आनन्द से कामवासना नष्ट हो जाती है और साधक परब्रह्म को अपनी साधना के विश्वास के आलोक में आसीन करता है। यह आलोक कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के माध्यम से परमात्मा के अनुराग में अनुरंजित है।

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽचितस्त्र्यैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥१४॥

योगीश्वरों के विशुद्ध एकनिष्ठ अन्तःकरण में जिनके आसन की कल्पना होती है, वे ही सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण यमुनातट पर गोपियों के उत्तरीय पर बैठ गए। गोपियों की मण्डली ने उन्हें घेर कर उनकी अर्चना प्रारम्भ की। तीनों लोकों के सम्पूर्ण सौन्दर्य के एकमात्र आधार वाले दिव्य विग्रह को धारण करके भगवान् अत्यन्त शोभित हुए।

(क) योगेश्वर पद से ब्रह्मादि देवों की ओर संकेत है।

(ख) अर्चना से अभिप्राय है कि ताम्बूल अर्पण, मन्द स्मित तथा हास्य वचन आदि से अर्चना प्रारम्भ की।

(ग) गोपियों की मंडली से घिरे हुए श्यामसुन्दर के रूप का ध्यान योगीश्वरों के हृदयासनों पर होता है।

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥१५॥

गोपियां अपने हास्ययुक्त लीलाकटाक्ष के विलासयुक्त भ्रूविन्यास से, अपने उत्सङ्ग में रखे हुए भगवान् के चरणकमल तथा करकमल का स्पर्श करके, थोड़े से कोप-भाव के साथ विशुद्ध काम-भाव का उद्दीपन करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण का सम्मान करके प्रशंसापूर्वक कहने लगीं।

(१) अनङ्गदीपनं। इस पद के दो अर्थ संभव हैं। (क) यह श्रीकृष्ण का विशेषण होगा जो गोपियों के कामभाव को उद्दीपन करने वाले हैं।[1]

(ख) जिस श्रीकृष्ण का काम उद्दीपन हो गया है।[2]

(२) अपनी गोद में रखे हुए भगवान् के चरणों के कोमल स्पर्श से गोपियों ने यह भाव प्रकट किया कि आपकी अद्भुत शीतलता से हमारा ताप शान्त हो गया।

(३) भगवान् के दर्शनमात्र से गोपियों का सम्पूर्ण क्रोध सर्वथा कुंठित हो गया था। इसलिए ईषत् शब्द का प्रयोग किया गया है कि वे थोड़ी-सी क्रोधित होकर कहने लगीं।

---

१. अनङ्गं दीपयतीति तमनङ्गदीपनम्।
२. अनङ्गस्य दीपनं यस्य तमनङ्गदीपनम्।

गोपियों ने कहा[1]

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् ।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥१६॥

कुछ प्राणी तो अनुराग करने वालों से अनुराग करते हैं। कुछ अनुराग नहीं करने वालों से भी अनुराग करते हैं। कुछ अनुराग करने वालों और नहीं करने वालों दोनों से अनुराग नहीं करते। हे प्रियतम! इस विषय को हमें अच्छी प्रकार समझाओ।

(१) भोः। इस सम्बोधन का अभिप्राय है कि सावधान होकर ध्यानपूर्वक हमारे प्रश्न का उत्तर दो।

(२) एतत्। इस पद का प्रस्तुत श्लोक में गुम्फित तीन प्रश्नों के आशय से प्रयोग किया गया है। यहां गोपियों ने भगवान् से निम्नलिखित तीन प्रश्न पूछे हैं :

(क) पारस्परिक अनुरागशीलता।

(ख) अनुराग के अभाव में भी अनुरागनिष्ठता।

(ग) निरनुराग तथा सानुराग दोनों के प्रति अनुरागहीनता की प्रवृत्ति।

भगवान् ने कहा

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते ।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥१७॥

हे सखियो! जो लोग एक-दूसरे से पारस्परिक अनुराग करते हैं उनका उद्यम एकान्ततः स्वार्थपरायण है। वहां मित्रतापूर्ण प्रेम नहीं होता। धर्म नहीं होता। उनकी चेष्टा केवल स्वार्थभाव की पूर्ति के लिए होती है और कोई प्रयोजन नहीं होता।

(१) जब पारस्परिक प्रेम में यदि एक-दूसरे से किसी प्रकार के लाभ की, उपकार की अथवा स्वार्थभाव की पूर्ति की भावना छुपी रहती है तो उस प्रेम का प्रासाद सदा स्वार्थ की आधार-शिला पर खड़ा होता है।

(२) हि। इस पद का अभिप्राय है कि यह बात तो सर्वथा असंदिग्ध है। इसमें प्रमाणों का इतना प्राचुर्य है कि एक भी उदाहरण की अपेक्षा नहीं रहती।

---

१. **गोपियों ने भगवान् के बैठने के लिए अपने-अपने उत्तरीय-रूपी आसन बिछाकर यह भाव प्रकट किया कि आपके मन की उपदेश करने की भाववृत्ति हम अच्छी तरह जान चुकी हैं। अब यदि आप हमें उपदेश करना ही चाहते हो तो हमारे प्रश्नों के उत्तर के रूप में ही उपदेश करो। इस प्रकार आपकी उपदेश करने की अभिलाषा भी पूर्ण हो जायगी और हमारे ज्ञान की भी वृद्धि होगी।**

(३) सौहृदम्। उस मित्रतापूर्ण प्रेम को कहते हैं जिसमें बिना किसी छल, छिद्र, कपट व प्रयोजन के हितेच्छा का भाव ठसाठस ओतप्रोत होता है।

(४) सख्यः। सखियों के रूप से भगवान् का यह संबोधन प्रकट करता है कि मेरी और तुम्हारी मित्रता का स्नेहभाव इस प्रकार का नहीं है। वह तो सर्वथा निरुपाधिक है, निर्व्याज है, निश्छल है, निष्कपट है।

(५) पूर्व श्लोक में गोपियों ने भगवान् से तीन प्रश्न पूछे थे। प्रस्तुत श्लोक में गोपियों के प्रथम प्रश्न का उत्तर है।

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदञ्च सुमध्यमाः ॥१८॥

हे सुन्दरियो! जो लोग प्रेम नहीं करने वालों से प्रेम करते हैं। जैसे निसर्गतः करुणाहृदय तथा माता-पिता। इसमें किसी भी प्रकार के अपवाद से रहित धर्म तथा सौहार्द भरा रहता है।

(१) यह गोपियों के द्वितीय प्रश्न का उत्तर है। यहां "सुमध्यमाः" यह सम्बोधन साभिप्राय है। इसके दो अर्थ हैं।

(क) हे सुन्दर कटिवाली रमणियो।

(ख) हे सुन्दर मध्यम प्रश्न वाली स्त्रियो।

(२) जो बिना प्रेम के भी प्रेम करते हैं। ऐसे व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं :

(क) स्वभाव से जिनका अन्तःकरण करुणा से भरा रहता है। ये दयार्द्रहृदय बिना किसी सम्बन्ध के प्रेम करते हैं।

(ख) द्वितीय कोटि में वे लोग आते हैं जो अपने किसी सम्बन्ध के कारण बिना प्रेम के भी प्रेम करते हैं जैसे माता-पिता।

(अ) प्रथम कोटि में निर्दोष धर्म की प्रचुरता रहती है जिसमें उपाधिहीनता के कारण चिरन्तनता का आदर्श सन्निहित रहता है तो द्वितीय कोटि में निर्दोष सौहार्द का भाव संवलित है।

(ब) अथवा दोनों कोटियों में निर्दोष धर्म तथा सौहार्द रहता है।

(स) अथवा सौहार्दरूपी धर्म निर्दोष होकर दोनों पक्ष में अपनी प्रधानता रखता है।

(३) दोनों उदाहरणों से भगवान् ने यह भाव प्रकट किया कि स्त्रीत्व के कारण तुम करुणा की पात्र हो। फिर मेरे साथ तुम्हारा सरल भाव का सम्बन्ध है। दोनों स्थिति में मैं तुमसे पूर्ण अनुराग करता हूं। अतः किसी प्रकार की शंका को मन में स्थान मत दो।

भजतोऽपि न वै केचिद्भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥१९॥

कुछ लोग सानुराग व्यक्तियों से भी प्रेम नहीं करते, निरनुराग व्यक्तियों

से तो प्रेम की बात ही क्या ? इस प्रकार के व्यक्ति आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही होते हैं।

यह गोपियों के तृतीय प्रश्न का उत्तर है। यहां चार प्रकार के व्यक्तियों का समाकरण किया गया है।

(१) आत्मारामाः। जो आत्मा के स्वरूपानन्द में निरन्तर रमण करते हैं। इनकी समस्त वृत्तियां अन्तर्मुखी होती हैं।

(२) आप्तकामाः। जिनकी समस्त कामनाएं पूर्ण हो गई हैं। इनकी वृत्तियां तो बहिर्मुखी होती हैं किन्तु ये पूर्णकाम होने के कारण किसी भी व्यक्ति से उपकार की अपेक्षा नहीं करते।

(३) अकृतज्ञाः। जो कृतज्ञ नहीं हैं। किये हुए उपकार के प्रति जिनके हृदय में कृतज्ञता का भाव नहीं होता। ये मूढ़ हैं जिन्हें प्रेम तथा उपकार का स्मरण नहीं होता।

(४) गुरुद्रुहः। जो अहैतुकी अनुकम्पा करने वाले गुरुओं से भी द्रोह रखते हैं। चतुर्थ श्रेणी के व्यक्ति अत्यन्त मूढ़ हैं जो गुरुओं के उपकार तथा कृपाभाव के प्रति कृतज्ञ होना तो दूर रहा, उनका अपकार करने में भी संकुचित नहीं होते।

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥२०॥

हे सखियो ! मैं तो सानुराग प्राणियों से भी प्रेम नहीं करता। उनकी मनोवृत्ति निरन्तर मुझमें लगायी रखने के लिए। जिस प्रकार एक धनहीन दरिद्र प्राणी मिले हुए द्रव्य के नष्ट हो जाने पर उसी चिन्ता में डूबा हुआ अन्य किसी वस्तु का चिंतन नहीं करता।

जब भगवान् ने गोपियों के तीनों प्रश्नों का उत्तर दे दिया, तो गोपियों ने तृतीय प्रश्न के उत्तर पर मन्दस्मित के साथ यह भाव प्रकट किया कि ठीक है, तुमने स्वयं ही अपनी श्रेणी प्रकट कर दी। तुम्हारी श्रेणी तृतीय है अथवा चतुर्थ ? इस समय गोपियों के मुख पर एक संतोष की अद्भुत रेखा प्रकट हुई। उनका अभिप्राय जानकर भगवान् ने इस श्लोक में उत्तर दिया है।

(१) अनुवृत्तये। मैं तो प्रेम करने पर भी प्रेम नहीं करता', यह कहकर भगवान् ने स्वयं 'अनुवृत्ति' पद से इसका कारण बताया कि मेरे भक्तों के मन की वृत्तियां मेरे में निरन्तर लगी रहें—यही एकमात्र कारण है। मेरा प्रेम नहीं करना भी प्रेममूलक है, अकृतज्ञतामूलक नहीं।

(२) सख्यः। यह सम्बोधन यह भाव व्यक्त करता है कि जब मेरी ऐसी प्रवृत्ति प्राणिमात्र के प्रति है तो तुम मेरी प्रिय सखियां हो। मेरा अन्तर्धान होकर तुम्हारे प्रेम की वृत्तियां मेरी तरफ दृढ़ करने का प्रकार केवल कारुण्यप्रधान, सौहार्दप्रधान तथा अनुरागप्रधान है। इसमें अकृतज्ञता तथा निरनुरागता का लेशमात्र भी नहीं है।

(३) दृष्टान्त द्वारा यह बताया गया है कि जिस प्रकार किसी निर्धन व्यक्ति को मिली हुई अपार धनराशि के विनाश पर अहर्निश पुनः द्रव्यप्राप्ति की ही चिन्ता लगी रहती है। उसी

प्रकार मैं भी अपने प्रिय भक्तों को मिल कर फिर छिप जाता हूं। उनको दिव्य प्रेम की एक झलक दिखाकर उदासीन हो जाता हूं। जिससे उनकी समस्त वृत्तियां फिर मुझे ढूंढने में तत्पर हो जांय और वे सदा मेरा ही चिन्तन करें जो उनके परम कल्याण का कारण बन सके।

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः ॥२१॥

हे गोपरमणियो! इस प्रकार मेरे निमित्त से लोकमर्यादा, वेद प्रतिपादित मार्ग तथा अपने संबंधी जनों को परित्याग करने वाली तुम लोगों की मनोवृत्तियां मेरे में निरन्तर लगाई रखने के लिए ही, मैं तुम्हारी आंख बचा कर, तुम्हारे मधुर स्नेह का आस्वादन करते हुए तिरोहित हो गया था। हे प्रियाओ! अपने प्रिय मेरे प्रति असूया करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।

(१) अबलाः। (क) इस सम्बोधन का प्रथम भाव है कि तुम तो अबला हो। मेरे अन्तर्धान का कारण तुम्हारे जैसी अबलाओं के प्रति बलदर्शन नहीं था बल्कि मैं तो तुम्हारी वृत्तियां मेरे प्रति स्थिरतर करने के लक्ष्य से छिपा था।

(ख) इस सम्बोधन से दूसरा भाव यह निकलता है कि यद्यपि तुमने मेरे लिए लोकमर्यादा का त्याग किया। योग्य अयोग्य क्रियाकलाप का विचार नहीं किया। श्रुति, स्मृति, तथा पुराणप्रतिपादित धर्म-अधर्म का विचार नहीं किया। अपने सम्बन्धियों की स्नेह मधुरिमा का विचार नहीं किया। किन्तु अपने प्रियतम के वियोग में तुम इस लोक का त्याग नहीं कर सकी। तुम्हारा शरीर धारण इसी प्रकार स्थिर रहा। इसलिए तुम बलहीन प्रतीत होती हो।

(२) प्रियाः। यह दूसरा सम्बोधन यह भाव प्रकट करता है कि जिस प्रकार मैं तुम्हें प्रिय हूं, उसी प्रकार तुम भी मेरी प्रियतमा हो। अतः अपने उस प्रियतम में किसी भी प्रकार के दोष का अन्वेषण करना तुम्हें शोभा नहीं देता जो तुम्हें अपनी प्रियतमा समझता है। फिर जब मैं अन्तर्धान हुआ तब भी प्रतिक्षण तुम्हारे निर्व्याज स्नेह-सुधासागर की मधुर तरंगों में ही डूबा था।

(३) मानिनी गोपियों के पक्ष में इस अर्थ की प्रतीति होती है कि मेरे जैसे प्रियतम के प्रति तुम असूया करने के योग्य नहीं हो, ऐसी बात नहीं है क्योंकि प्रियतम का अपनी प्रियतमाओं के प्रति इस प्रकार व्यवहार कभी भी उचित नहीं है। अतः तुम्हारे पक्ष में तुम्हारी मेरे प्रति दोषान्वेषणात्मिका असूया सर्वथा युक्तिसंगत है।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या मा भजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

जिन्होंने अत्यन्त कठिनता से तोड़े जाने वाली गृहस्थ की शृंखलाओं को तोड़ कर मुझे भजा। ऐसा तुम लोगों का मेरे साथ मिलन सर्वथा दोष-शून्य है। तुम्हारे मेरे प्रति किए गए स्नेह कर्म का प्रतीकार मैं देवताओं की-सी आयु

पाकर भी नहीं कर सकता। वह तो तुम्हारे सौजन्यमय कृपाभाव से ही उतर सकता है।

(१) निरवद्यसंयुजाम्। यद्यपि साधारण मनुष्यों को तुम्हारा और मेरा साहचर्यात्मक संयोग कामेच्छापरक प्रतीत होता है किन्तु यथार्थ में यह सर्वथा मिथ्या है क्योंकि इस मिलन की भित्ति परम निर्मल प्रेम की शिला पर खड़ी है। अतः तुम्हारी मेरे प्रति अन्तःकरण की एक-निष्ठता, अंगस्पर्श द्वारा दिव्य विभावों की रसरसता सर्वथा निर्दोष है। मेरे में कर्तृत्व आदि का कोई भी दोष नहीं है। अतः मेरे संयोग से तुम में कोई दोष प्रकट नहीं हो सकता।

(२) संसार तथा गृहस्थ की जिन कठोर शृंखलाओं को बड़े-बड़े योगी, बड़े-बड़े महात्मा और बड़े-बड़े भक्त भी अपनी साधना के निरन्तर अभ्यास से नहीं तोड़ पाते। उनको तोड़ कर तुमने मुझसे प्रेम किया है। तुम्हारे इस स्नेह का प्रतीकार मैं देवताओं की सी दीर्घ आयु पाकर भी नहीं कर सकता।

(३) विबुधायुषा। इस पद का सामान्य अर्थ है कि देवताओं के तुल्य आयु प्राप्त करके भी मैं तुम्हारे स्नेह का प्रतीकार नहीं कर सकता। वास्तव में इस पद को अत्यन्त दीर्घकाल के अर्थ में लाक्षणिक मानना चाहिए।

(क) श्रीमद्विजयध्वजतीर्थ के मतानुसार इसका अभिप्राय एक दिव्य वर्ष द्वारा परिमित जीवनकाल के अर्थ में निष्ठ है।[1] किन्तु यह व्याख्या संगत नहीं प्रतीत होती क्योंकि देवताओं की आयु का यह परिमाण कहीं भी स्वीकृत नहीं है। मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं के एक अहोरात्र के बराबर होता है।[2] और देवताओं के ३६० अहोरात्र एक दिव्य वर्ष के बराबर होते हैं।[3] इस प्रकार एक दिव्य वर्ष मनुष्यों के ३६० वर्ष के तुल्य स्थिर होता है।

(ख) श्रीमद्वल्लभाचार्य के मतानुसार ब्रह्मा की आयु के तुल्य काल अथवा एक मन्वन्तर के काल द्वारा परिमित आयु का काल अपेक्षित है।[4] इस व्याख्या में विकल्पार्थक वा पद की संगति नहीं बैठती, क्योंकि ब्रह्मा की आयु का काल तथा एक मन्वन्तर का काल तुल्य नहीं है।

(ग) हमारे मत में 'विबुधायुषा' पद का अर्थ एक मन्वन्तर के काल द्वारा परिमित काल के अर्थ में स्वीकार करना चाहिए। इसी काल को पौराणिक परम्परा में देवताओं की आयु का काल माना गया है। विष्णुपुराण के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्यों का एक चतुर्युग ब्रह्मा के एक दिन के बराबर होता है। सप्तर्षि, देवता, इन्द्र तथा मनु आदि की एक साथ रचना तथा एक साथ संहार होता है। ७१ चतुर्युग से कुछ अधिक काल एक मन्वन्तर का काल स्वीकार किया जाता है। यही मनु तथा देवगणों का काल है। इस प्रकार विष्णुपुराण के अनुसार एक

---

१. **दिव्यवत्सरकल्पितजीवनलक्षणेनापि।** पदरत्नावली। श्रीमद्भागवतम् पृ० १२९५, (१०, ३२, २२) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९६४।

२. **वर्षेण दैवतः।** अमरकोष, १, ४, २१।

३. **दैवैः षष्टयधिकैस्त्रिभिरहोरात्रशतैर्दिव्यं वर्षम्।** अमरकोष व्याख्या सुधा। १, ४, २१।

४. **ब्रह्मायुषा मन्वन्तरपरिमितायुषा वा।** सुबोधिनी। श्रीमद्भागवतम् पृ० १२९६, (१०, ३२, २२) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९६४।

मन्वन्तर में ८५,२,००० दिव्य वर्ष तथा ३०,६७,२०,००० मानुष वर्ष होते हैं।[१] विष्णुपुराण की यह गणना अमरकोष तथा मनुस्मति की परम्परा से मेल खाती है। दोनों के अनुसार १२,००० दिव्य वर्ष का एक मानुष चतुर्युग अथवा एक दिव्ययुग होता है। एक सहस्र दिव्ययुग ब्रह्मा के एक दिन के बराबर होते हैं।[२] और ७१ दिव्य युगों का एक मन्वन्तर माना जाता है।[३] मन्वन्तर के काल को ही देवताओं की आयु का परिमापक काल स्वीकार किया गया है।[४] इस प्रकार मन्वन्तर का काल निम्नलिखित रूप में जानना चाहिए।

१—१ मानुष वर्ष = १ दैव अथवा दिव्य अहोरात्र।

२—१ दिव्य वर्ष = ३६० दिव्य अहोरात्र अथवा ३६० मानुष वर्ष।

३—१२,००० दिव्य वर्ष = १ दिव्य युग अथवा १ मानुष चतुर्युग।

४—१२,००० दिव्य वर्ष × ३६० मानुष वर्ष = ४३,२०,००० मानुष वर्ष अथवा एक एक दिव्ययुग अथवा १ मानुष चतुर्युग।

५—४३,२०,००० मानुष वर्ष × ७१ दिव्ययुग = ३०,६७,२०,००० मानुष वर्ष का १ मन्वन्तर।

अथवा, १२,००० दिव्य वर्ष × ७१ दिव्ययुग = ८,५२,००० दिव्य वर्ष।

८,५२,००० दिव्य वर्ष × ३६० मानुष वर्ष = ३०,६७,२०,००० मानुषवर्ष का मन्वन्तर।

अब यह समस्या है कि १,००० दिव्य युग का ब्रह्मा का एक दिन माना गया है। इस प्रकार १२००० दिव्य वर्ष × १,००० दिव्य युग = १,२०,००,००० दिव्य वर्ष तथा १,२०,००,००० दिव्य वर्ष × ३६० मानुष वर्ष = ४,३२,००,००,००० मानुष वर्ष ब्रह्मा के एक दिन में बनते हैं। ब्रह्मा के एक दिन में १४ मन्वन्तर होते हैं।[५] फलतः आदि ब्रह्मा के एक दिन की मानुष वर्षों की संख्या में १४ का भाग दिया जाय तो एक मन्वन्तर के हेतु ३०,८५,७१,४२८ मानुष वर्ष, ६ मास तथा २५ दिन के लगभग काल का एक मन्वन्तर का काल आता है। काल गणना की यह संख्या पूर्वोक्त संख्या से भिन्न है। इसका समाधान 'एकसप्तति' पद में 'एकाधिका

---

१. विष्णुपुराण, १, ३, १५–२१।

२. (क) **तैर्द्वादशभिः सहस्रैर्मानुषं चतुर्युगम्। तच्च देवानामेकं युगम्। तत्सहस्रं ब्रह्मणो दिनम्।** अमरकोष, व्याख्यासुधा, १, ४, २१।

(ख) **एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते।**
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च॥ मनुस्मृति, १, ७१-७२।

३. (क) **यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।**
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते। वही, १, ७९।

(ख) **मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः।** अमरकोष, १, ४, २२।

४. **सप्तर्षयः सुराः शक्रो मनुस्तत्सूनवो नृपाः।**
एककाले हि सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत्। विष्णुपुराण, १, ३, १७।

५. **ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन्मनवस्तु चतुर्दश।** विष्णुपुराण, १, १, ३।

सप्ततिः' इस प्रकार मध्यमपदलोपी समास द्वारा संभव होता है। इस समास द्वारा ७१ दिव्ययुगों के काल को किंचित् अधिक करके माना जाता है। ७१ दिव्ययुगों के काल को यदि १४ मन्वन्तरों के काल के साथ गुणित करें तो ९९४ दिव्ययुग बनते हैं। यहां यह स्मरणीय है कि ब्रह्मा के एक दिन में १,००० दिव्ययुग की संख्या स्वीकृत है। फलतः ६ दिव्ययुग अधिक शेष रह जाते हैं। इसका विभाजन करने पर ७१ दिव्ययुग के स्थान पर ७१.४३ दिव्ययुग के लगभग संख्या बन जाने से दोनों संख्याओं में किसी भी प्रकार की असंगति नहीं रहती। हमारी गणना का मेल शब्द-सागर[1] के साथ तो ठीक बैठ जाता है किन्तु मोनियर विलियम्स तथा वामन शिवराम आप्टे की गणना के साथ नहीं बैठता। इन दोनों कोषों की गणना विचारणीय है।

(४) मेरी प्रत्युपकार में असमर्थता में तीन कारण हैं :

(क) प्रेम प्रतिप्रेम करना जीव का धर्म है। मैं तो परब्रह्म हूं। जीवधर्म का आरोप मेरे में संभव नहीं है।

(ख) मेरा चित्त तो माता, पिता, भाई आदि सम्बन्धियों में स्निग्ध है। तुम्हारे प्रेम का प्रतीकार तो वह व्यक्ति कर सकता है जो सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों से अपनी मनोवृत्तियों का प्रत्याहार करके उन वृत्तियों को केवल तुम्हारे प्रेम में डूबो दे। मेरे लिए यह भी संभव नहीं।

(ग) कुछ गोपियों को इस भाव की प्रतीति हुई। मेरा चित्त तो अनेकानेक गोपियों में अनुरक्त है किन्तु तुम्हारे प्रेम का प्रतीकार तो तभी हो सकता है जब कि केवल तुम्हीं में अनन्य रूप से मेरी समस्त वृत्तियां केन्द्रित हों। यह भी मेरे लिए संभव नहीं। फलतः तुम्हारे प्रेम का प्रतीकार केवल तुम्हारे सौजन्य से, सौशील्य से तथा अनुकम्पाभाव से हो सकता है। मेरे पक्ष में ऐसा एक भी उपाय नहीं है जो मुझे उऋण कर सके।

(५) इसका आध्यात्मिक अर्थ है कि जब साधक भगवान् के लिए सांसारिक बन्धनों का त्याग कर देता है, वेदादिप्रतिपादित कर्मकाण्ड का त्याग कर देता है। अपने बन्धुओं को छोड़ देता है। ऐसे विवेकियों के लिए भी भगवान् प्रकट नहीं होते। अतः जब तक ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता, तब तक भगवान् के प्रति अनुराग की वृद्धि की कारणभूत चिन्तनात्मक आवृत्ति निरन्तर करते रहनी चाहिए।[2]

---

१. मन्वन्तर। The reign of Manu, a period equal to seventy one ages of the gods, or 306,720,000 years of mortals. *Shabda-Sagara, Jivananda Vidyasagara, Calcutta*, 1900, p. 552.

२. **(क) एक ही प्रकार की क्रिया के पुनः-पुनः अभ्यास को आवृत्ति कहा जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में चिन्तनात्मक आवृत्ति द्वारा लीला का श्रवण, लीला के अर्थ का मनन और लीला के अर्थ के मनन से प्रकट होने वाले स्वरूपविग्रह का निदिध्यासन समझना चाहिये। यही कारण है कि आवृत्ति को समस्त शास्त्रों के बोध की अपेक्षा भी बलवती माना गया है।**

'**आवृत्तिः सर्वशास्त्राणां बोधादपि गरीयसी।**' उद्भट, उद्धृत न्यायकोश, भीमाचार्य झलकीकर, बोम्बे संस्कृत प्राकृत सीरीज, नं, ४९, पूना, १९२८, पृ० १३१।

(ख) शास्त्रों की पुनः पुनः आवृत्ति द्वारा ही ब्रह्मज्ञान का उदय अद्वैत परम्परा में स्वीकार किया जाता है। "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्।" ब्रह्मसूत्र, ४, १, १।

पांचवां अध्याय

श्रीशुकदेव बोले

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥१॥

इस प्रकार भगवान् की अत्यन्त मनोहर वाणी सुन कर और भगवान् के अङ्गस्पर्श द्वारा अपने मनोरथों को पूर्ण कर, गोपियों ने विरह से उत्पन्न होने वाले संताप का परित्याग किया।

(१) 'तदङ्गोपचिताशिषः।'[1] यह पद प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में और षष्ठी विभक्ति के एकवचन में माना जा सकता है। प्रथम पक्ष में यह उन गोपियों का विशेषण होगा जिनके सम्पूर्ण मनोरथ भगवान् के चरणादि अङ्गस्पर्श द्वारा पूर्ण हो गये हैं। द्वितीय पक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण का विशेषण बनेगा जिनके मनोरथ गोपियों के अंगस्पर्श द्वारा पूर्ण हो गये हैं।

(२) यद्यपि श्रीमद्भागवत में गोपियों के विरह से उत्पन्न होने वाले संताप के नाश का उल्लेख पहले आ चुका है।[2] प्रस्तुत श्लोक में उसका पुनःनिर्देश करना पुनरुक्ति दोष की शंका उत्पन्न करता है। इसका समाधान यह है कि प्रथम उल्लेख के काल में गोपियों के समस्त अतीत संतापों के नाश से अभिप्राय है। यहां उनके तीनों काल के सर्वविध ताप नष्ट माने जाते हैं। यहां तापनाश का दूसरी बार उल्लेख यह स्पष्ट रूप से बताता है कि प्रथम बार ताप के नाश हो जाने पर भी गोपियों के मन में यह सन्देह बना हुआ था कि कहीं फिर श्रीकृष्ण का विरह न हो जाय। किन्तु इस समय गोपियों के मन से इस प्रकार की शंका नष्ट हो गई थी।

---

१. **प्रस्तुत श्लोक में आशीः का अर्थ मनोरथ स्वीकार किया गया है। इस आशय में आशीः का प्रयोग श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। भगवान् के चरणारविन्द की शुश्रूषा में रत सत्यभामा आदि अपनी अभिलषित पारिजात प्रभृति उन समस्त वस्तुओं का उपभोग करती थीं जिनका भोग इन्द्राणी के लिए परिसीमित था। समरस्थली में देवताओं के पराजय के पश्चात् ये वस्तुएँ सत्यभामा आदि को उपहार के रूप में समर्पित की जाती थीं।**

निर्जित्य संख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः ।

श्रीमद्भागवत महापुराण, १, १४, ३७।

२. **जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ।** वही, १०, ३२, ९।

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीड़ामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥

वहाँ पर गोविन्द ने अत्यन्त प्रमुदित, अनुव्रत तथा परस्पर भुजाओं से आबद्ध स्त्री-रत्नों से संयुक्त होकर रास-क्रीड़ा प्रारम्भ की।

(१) गोपियों के मन में एक सूक्ष्म वासना के रूप से यह संस्कार अभी विद्यमान था कि कहीं श्रीकृष्ण फिर न चले जांय। इसी कारण यहां आबद्ध क्रिया का प्रयोग किया गया है। "आ" उपसर्ग से तात्पर्य है कि चारों तरफ से मण्डलाकार में स्थित गोपियों की भुजायें परस्पर एक-दूसरे से बंधी हुई थी। इस मण्डल के बाहर निकलना सरल व्यापार नहीं था।

(२) यहां व्रजसुन्दरियों की चार विशेषताएं बताई गई हैं।

(क) अनुव्रत। गोपियों की पहिली विशेषता का संकेत अनुव्रत पद से किया गया है। श्रीकृष्ण की इच्छा के अनुसार तत्काल क्रियाकारिता में तत्पर होना, और श्रीकृष्ण के संकल्प के अनुसार कार्यविशेष में लगने के व्रत का पालन करना।

(ख) प्रीत। दूसरी विशेषता 'प्रीत' पद के द्वारा व्यक्त की गई है। श्रीकृष्ण के प्रति उनकी उमड़ती हुई स्नेहराशि के कारण उनके मन अत्यन्त प्रसन्न थे।

(ग) स्त्रीरत्न। तीसरी विशेषता स्त्रीरत्न पद से प्रकट होती है। ये समस्त भूमण्डल की रमणियों में श्रेष्ठ रत्न के सदृश थीं।

(घ) बद्धबाहु। चौथी विशेषता का निदर्शन बद्धबाहु पद से होता है। इनकी भुजाएं एक-दूसरे की भुजाओं में पाश के समान बंधी हुई थीं।

ये चारों विशेषताएं गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की रास-क्रीड़ा की शोभा को अद्भुत बनाती हैं। जब प्रेम के प्रकर्ष में नायिका की नायक के प्रति एकतानता प्रकट होती है, तो उसके मन की भावप्रवणता एकरस में बहने लगती है। उसकी प्रत्येक क्रिया नायक के संकल्प की पूर्त्ति का साधन बन जाती है, और उसकी इच्छाएं नायक की इच्छाओं के आकार में ढल जाती हैं। तभी क्रीड़ा का वास्तविक आनन्द व्यक्त होता है।

रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥३॥
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥३॥

कण्ठ में ग्रहण की हुई उन दो-दो गोपियों के मध्य में प्रविष्ट योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा गोपियों के मण्डल से परिमण्डित रास का उत्सव सम्यक् प्रकार से प्रवृत्त हुआ। इस समय सभी स्त्रियाँ श्रीकृष्ण को अपने-अपने समीप में अनुभव करने लगीं।

(१) रस के समूह को रास कहते हैं। उत्सव का अर्थ है सुख की लीला का अद्भुत प्रकार। इस प्रकार रासलीला उस परम आनन्दमयी लीला का प्रतिरूप है जिसका प्रवर्त्तन

केवल आनन्दमय आदिपुरुष द्वारा ही संभव हो सकता है। यही कारण है कि इस श्लोक में श्रीकृष्ण द्वारा रास के उत्सव का प्रवर्त्तन स्वीकार करके श्रीकृष्ण को परमानन्दस्वरूप माना गया है।

(२) प्रत्येक दो-दो गोपियों के मध्य में प्रवेश करके भगवान् ने अपनी दोनों भुजाओं से दोनों पार्श्व में गोपियों के कण्ठ ग्रहण कर रखे थे। इस प्रकार प्रत्येक गोपी को अपने दोनों पार्श्व में श्रीकृष्ण के अंगस्पर्श का दिव्य आनन्द प्राप्त हो रहा था। भगवान् की आनन्दप्रद यही स्थिति रासलीला के परमानन्द रूप के अनुदान को अभिव्यक्त करती है।

(३) यहां दो-दो गोपियों के बीच में श्रीकृष्ण की स्थिति का निर्देश श्रीकृष्ण के पक्ष से गोपियों के प्रति सामान्य भाव के उद्रेक को प्रकट करता है। केवल दो गोपियों के बीच में कहने से दो गोपियों पर विशेष कृपा का बोध होता है किन्तु यहां सब पर समदृष्टि का बोध कराने के अभिप्राय से दो-दो गोपियों के बीच में कहा है।

(४) यहां श्रीकृष्ण के लिए योगेश्वर शब्द का प्रयोग किया गया है।

(क) योग शब्द का अर्थ है—योगमाया रूप से विद्यमान अचिन्तनीय शक्ति का विशेष प्रकार—उसके ईश्वर। अर्थात् योगमाया के प्रभाव से स्वतः ही ऐसी रचना प्रकट हो गई।

(ख) योगमार्ग में जब परम योगी कायव्यूह की साधना द्वारा सिद्ध अवस्था में प्रविष्ट होता है, तो एक साथ अनेक रूप धारण करने की शक्ति प्रकट होती है। श्रीकृष्णलीला में हमें ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। जब ब्रह्मा ने गोपों तथा गौओं का मोहवश हरण किया था, तब एक वर्ष तक श्रीकृष्ण ने ही सब का रूप धारण किया था।[1]

यं मन्येरन् नभस्तावद्विमानशतसङ्कुलम्।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥४॥
ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्प वृष्टयः।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥५॥

उत्कण्ठा से खिचे हुए मन वाले देवताओं के गण अपनी-अपनी पत्नियों के साथ वहां आये और उनके सैकड़ों विमानों द्वारा नभोमण्डल अच्छी तरह व्याप्त हो गया[2]। इसके पश्चात् दुन्दुभियां बजने लगीं। पुष्पों की वर्षा होने लगी। गन्धर्वपति अपनी पत्नियों के साथ श्रीकृष्ण की निर्मल कीर्त्ति का गान करने लगे।

(१) (क) देवताओं के लिए यहां "दिवौकसां' शब्द का प्रयोग किया गया है।

---

१. **ततः कृष्णो मुदं कर्त्तुं तन्मातृणां च कस्य च।**
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः। श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, १३, १८।

२. **लोलिम्बराज की रचना में भी रासलीला के वर्णन में इसी प्रकार का चित्र प्राप्त होता है।**
तद्रासमण्डलविलोकनकौतुकेन देव्यो ययुस्त्रिदशवर्त्म सुवर्णवर्णाः। हरिविलास, २, २८।

नभोमण्डल में निवास करने के हेतु देवताओं को यह संज्ञा मिली है।[1] प्राचीन काल में देवगण आकाशमार्ग से भ्रमण करते थे। रासलीला के प्रारंभ में सभी गगनसंचारी वहां एकत्रित हो गये थे।

(ख) यहां पर अनुध्येय है कि देवताओं के विमानों की परम्परा स्वतः इस प्रकार गगन-मण्डल में सजी थी जिससे उदय होने वाले भगवान् कुमुद-बान्धव की रश्मियों के प्रकाश तथा रास-मण्डल के मध्य में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं हो।

(२) यह स्मरणीय है कि इस समय देवताओं के मन किसी उत्कण्ठाविशेष के कारण अत्यधिक आकर्षित थे। यह उत्कण्ठा नृत्यपरक थी। इसमें विलासांश का लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं था। भगवान् की अचिन्त्य महिमामयी योगमाया के विलक्षण प्रभाव के कारण देवताओं की दृष्टि पर एक ऐसा व्यवधान पड़ गया था कि वे केवल रासनृत्य का ही दर्शन कर सकते थे। रास-विलास का दर्शन करने के पक्ष से तो उनकी दृष्टि सर्वथा अन्धी थी।

(३) निर्मल यश से उस कीर्ति का तात्पर्य है जिसके श्रवणमात्र से अन्तःकरण में पवित्र भावों का उदय हो जाता है और मन की समस्त मलिन वासनाएं नष्ट हो जाती हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि देवताओं के मन में रासनृत्य के दर्शनमात्र से पवित्रता का उज्ज्वल आलोक प्रकाशित हो चुका था।

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनाञ्च योषिताम्।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥६॥

श्रीकृष्ण की प्रिय रमणियों के हस्तवलय, चरणनूपुर तथा क्षुद्र घण्टिकाओं का रासमण्डल में तुमुल शब्द होने लगा।

(१) पूर्वोक्त श्लोक में देवताओं की परम्परा की नभोमण्डल में स्थिति का वर्णन करके प्रस्तुत श्लोक में सर्वप्रथम नृत्य के प्रसंग से हाथ के कंगनों, पैरों के नूपुरों तथा नूपुरों में हिलने वाली क्षुद्र घण्टिकाओं के शब्द के व्याज से वाद्यसंगीत का प्रवर्त्तन किया गया है।

(२) रासलीला के अवसर की चरणनूपुरों की ध्वनि का स्मरण गोपियों ने उद्धव को कराया है कि क्या भगवान् उन रात्रियों का कभी स्मरण कर देते हैं जिन रात्रियों में श्रीकृष्ण ने रासलीला की थी और हमारे पैरों के नूपुर एक मधुर झंकृति के साथ बज रहे थे।[2]

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥७॥

वहाँ रासमण्डल में देवकीपुत्र[3] भगवान् श्रीकृष्ण उन गोपसुन्दरियों के

---

१. **दिवं ओकः येषां ते दिवौकसः।**

२. **रेमे क्वचिन्नूपुररासगोष्ठ्याम्।** श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ४७, ४३।

३. **देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण का सर्वप्रथम निर्देश छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त होता है।**
"तद्धैतत् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्राय उवाच।" छान्दोग्य उपनिषद्, ३, १७, ६।

मध्य में उसी प्रकार अत्यधिक शोभित हुए, जिस प्रकार सोने की मणियों के मध्य में महान् मरकत मणि शोभित होती है।

(१) (क) यहां श्रीकृष्ण की नीलमणि के साथ और गोपियों की सुवर्ण-मणियों के साथ तुलना की गई है। दोनों तुलनाओं के वर्ण का आशय श्रीकृष्ण तथा गोपियों के श्यामवर्ण तथा गौर-वर्ण को व्यक्त करता है। मणि के साथ तुलना का आशय श्रीकृष्ण तथा गोपियों के सर्वाङ्गमनोरम सुडौल अवयवों के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है।

(ख) इस समय प्रत्येक गोपी को श्रीकृष्ण की अपने निकट सन्निधि का बोध हो रहा था। इसीलिए इस श्लोक में श्रीकृष्ण की तुलना में नीलमणि पद एकवचन में रखा गया है। इसका अभिप्राय है कि प्रत्येक गोपी के पास श्रीकृष्णरूपी नीलमणि की सत्ता थी।

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥८॥

श्रीकृष्ण की प्रिय गोपिकाएं उस समय श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान करती हुईं जलधरों के समूह में सौदामनियों के समान शोभित हो रही थीं। चरण विन्यास के कारण, भुजाओं के विक्षेप के कारण, स्मितपूर्वक भ्रूविलास के कारण, लोच खा कर टूटते हुए के समान कटि प्रदेश के कारण, स्तनों के चंचल वस्त्रों तथा कपोलों पर हिलते हुए कुण्डलों के कारण इनके मुख पर स्वेद की बूंदें थीं। वेणी तथा मेखला की ग्रन्थियां दृढ़ थीं।

(१) श्लोक के पूर्वार्ध में वर्णित गोपियों के विविध क्रियाकलाप यह स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि गान के साथ-साथ इस समय गोपियां नृत्य भी कर रही थीं।[1] नृत्यकाल में चरण-विन्यास, हस्तविक्षेप, सस्मित भ्रूविलास, चंचल स्तनवस्त्र तथा चंचल कुण्डल अपनी स्वाभाविकता के उत्कर्ष को ओर अधिक आकर्षक बना रहे हैं।

(२) (क) श्रीकृष्ण के लिए यहां 'मेघचक्र' शब्द का प्रयोग यह बताता है कि श्रीकृष्ण ने कायव्यूह के द्वारा अनेक रूप धारण कर रखे थे।

(ख) जलधरों के समूह में सौदामनियों की स्वाभाविक स्थिति के कारण गोपियों को चपला के रूप में चित्रित किया गया है।

---

१. **रासलीला के अवसर पर नृत्य के साथ-साथ भगवान् की मनोज्ञ लीला-कथाओं के गान का स्मरण गोपियों ने उद्धव को कराया था।**
"अस्माभिरीड़ितमनोज्ञकथः कदाचित्।" श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ४७, ४३।

(ग) जब मेघ तथा बिजली का संयोग बनता है तो वृष्टि की जलधारा प्रकट होती है। अतः यहां गोपियों के मुख पर स्वेद की बूंदें जलधारा की बिन्दुओं के समान मानी गई हैं।

(घ) मेघ, बिजली और वृष्टि इन तीनों की विद्यमानता में मेघगर्जन होना एक अनिवार्य अंग बन जाता है। यहां गोपियों के श्रीकृष्णपरक गान की तुलना मेघध्वनि के साथ की गई है।

(३) गोपियों के लिए कृष्णवधू शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप में श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ नित्य सम्बन्ध प्रकट करता है।

उच्चैर्जगुर्नृत्यमानाः रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥९॥

मधुर कण्ठ वाली तथा अनुराग में आसक्त गोपियाँ श्रीकृष्ण के स्पर्श से प्रमुदित हो कर नाचते-नाचते उच्च स्वर से गाने लगीं। जिस गान से सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो गया।

(१) यहां गोपियों के चार विशेषण प्राप्त होते हैं।

(क) रक्तकण्ठी। प्रथम विशेषण बताता है कि गोपियों की संगीतशास्त्र में विलक्षण निपुणता थी। रक्त शब्द का सामान्य अर्थ मधुर होता है। किन्तु गोपियों के कण्ठ में गीत गाते समय केवल मधुरता का पुट ही नहीं था बल्कि संगीतशास्त्र के विविध आलाप, आरोह-अवरोह तथा स्वरादि का लोकोत्तर चमत्कार संवलित था। गोपियों के कण्ठ की मधुरता के कारण गान-मधुरिमा भी द्विगुणित हो उठी थी।

(ख) रतिप्रिया। दूसरा विशेषण यह बताता है कि गोपियों का प्रेम श्रीकृष्णविषयक अनुराग में डूबा हुआ था। इस प्रकार उनके गान तथा नृत्य का आशय श्रीकृष्ण के अनुराग की प्राप्ति में पर्यवसित था। इसी आशा से उनकी ये दोनों क्रियाएं चल रही थीं।

(ग) नृत्यमाना। वे नाच रही थीं। इसका यह भी अर्थ संभव है कि गोपियों के नृत्य से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण ने गोपियों को विशेष मान प्रदान किया था।[1]

(घ) कृष्णाभिमर्शमुदिता। चौथी विशेषता है कि वे श्रीकृष्ण के स्पर्श से पुलकित थीं।

(२) रासलीला के नृत्य के काल में गोपियां आनन्दविभोर हो चुकी थीं। इसी आनन्द की मादकता का प्रथम चिह्न नृत्य द्वारा प्रकट हुआ। जैसे-जैसे आनन्द की मात्रा बढ़ती गई वैसे-वैसे नृत्य की गति तीव्र होती गई और नृत्य के साथ-साथ उच्चस्वर से गान प्रारंभ हुआ। वस्तुतः इसका प्रधान कारण श्रीकृष्ण के स्पर्श द्वारा गोपियों का परमानन्द में रोमांचित हो जाना था। जब कोई व्यक्ति परम आनन्द के महार्णव में डूबता है तो उसे किसी भी प्रकार के श्रम की सुधि नहीं रहती। यही स्थिति गोपियों की भी हुई थी।

---

१. **गोपिकानां नृत्येन मानः श्रीकृष्णसम्पादितमानो यासां ताः नृत्यमानाः।**

काचित्समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।
उन्निन्ये पूजिता येन प्रीयता साधु साध्विति ।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानञ्च बह्वदात् ॥१०॥

किसी गोपी ने श्रीकृष्ण के साथ मिश्रित नहीं होने वाली अपने स्वरों की गति को ऊपर उठाया। श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर धन्य-धन्य कहते हुए उसका सत्कार किया। किसी गोपी ने उसी स्वर को ध्रुव नामक ताल के साथ ऊपर उठाया। श्रीकृष्ण ने उसको भी बहुत सम्मान दिया।

(१) पूर्वार्ध में श्रीप्रिया राधा की प्रिय सखी ललिता की चेष्टा का संकेत किया गया है। इसने श्रीकृष्ण के स्वर की अपेक्षा अपने स्वरों के विलक्षण आलाप को अत्यधिक तीव्र किया था। फलतः इसके स्वरों का मिश्रण श्रीकृष्ण के स्वरों के साथ नहीं हुआ। उनकी पृथक् स्वतन्त्र अनुभूति थी।

(२) उत्तरार्ध में श्रीराधा की सखी विशाखा के गानमाधुर्य का निर्देश प्राप्त होता है। भगवान् ने इनके ध्रुव नामक ताल की गीति का श्रवण करके इनका ललिता की अपेक्षा अधिक सम्मान किया था।

काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥११॥

किसी गोपी ने रासलीला से थक कर अपने पार्श्व में स्थित गदाधर श्रीकृष्ण के कंधे को अपनी भुजा से थामा। इस गोपी के कंगन और मल्लिका पुष्प ढीले पड़ गये थे।

(१) इस श्लोक में अभिवर्णित चेष्टा से यह प्रतीत होता है कि यहां श्रीराधा की चेष्टा का वर्णन किया गया है। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं।

(क) यह गोपी श्रीकृष्ण के अत्यन्त निकट थी। श्रीकृष्ण इसके पार्श्व में विद्यमान थे।

(ख) इसने अपने एकाधिकार का भाव प्रकट करते हुए किसी भी प्रकार के संकोच के बिना श्रीकृष्ण के कंधे पर अपना हाथ रख रखा था।

द्वितीय कारण इस गोपी के अन्तर्भाव को व्यक्त करते हुए यह बताता है कि इसका अपने प्रियतम पर साधिकार प्रभाव था। यह प्रभाव गोपियों के यूथ में केवल श्रीप्रिया का ही स्वीकार किया गया है।

(२) यहां श्रीकृष्ण का विशेषण गदाधर दिया गया है। इसके तीन आशय प्रतीत होते हैं।

(क) पौराणिक परम्परा के अनुसार श्रीकृष्ण अपने विलास में कौमोदकी नाम की गदा धारण करते हैं।[1]

---

१. **श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां गदां कौमोदकीं मम ।** श्रीमद्भागवत महापुराण, ८, ४, १९।

(ख) यदि गदा शब्द की व्युत्पत्ति गद व्यक्तायां धातु से स्वीकार करें तो गदा का अर्थ मुरली हो जाता है।[1] इस प्रकार मुरलीवादनचातुरी में अत्यन्त निपुण श्रीकृष्ण का चित्रण यहां उपस्थित होता है।

(ग) गदा शब्द का प्रयोग श्रीकृष्ण के निजवपु के लिए माना जाय तो श्यामसुन्दर की त्रिभंगललित देह-रचना-विन्यास की मधुरिमा प्रकट होती है। नृत्यकाल में श्रीकृष्ण का वपु गदा के आकार का बन जाता था।[2]

(३) नृत्य तथा गान के श्रम से गोपियां परिक्लान्त हो गई थीं। उसके दो चिह्न यहां बताये गये हैं।

(क) उनके हाथों से कंगन खिसकने लगे थे।

(ख) उनकी वेणी में गूंथे हुए बेला के फूल बिखर रहे थे।

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम्।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥१२॥

किसा गोपी ने श्रीकृष्ण की नील कमल के सौरभ के समान सुगन्धित, चन्दन से अनुलिप्त तथा अपने कंधे पर स्थापित भुजा को सूंघ कर रोमाञ्चित होकर चुम्बन किया।

यह राधा की सखी श्यामला की चेष्टा का वर्णन है।

(१) श्रीकृष्ण की भुजा के दो गुण थे :

(क) उससे नैसर्गिक गन्ध फूट कर निकल रहा था। यह गन्ध नीलकमल के गन्ध के तुल्य था।

(ख) निसर्गतः सुगन्धित भुजा पर चन्दन का लेप किया गया था।

(२) इस गोपी के रोमांच के प्रति श्रीकृष्ण की भुजा के निम्नलिखित दोनों गुण कारण बने थे।

(क) भुजा का अनिर्वचनीय आनन्ददायक स्पर्शसुख।

(ख) स्वाभाविक गन्ध के साथ चन्दन के दिव्य गन्ध का प्राकट्य।

(३) यहां प्रगल्भता नामक अनुभाव है। जब नायिका के पक्ष से चुम्बनादि प्रयोग क्रिया में किसी भी प्रकार की आशंका नहीं होती और उसकी स्वतः प्रवृत्ति का प्रवर्तन होता है, तो प्रगल्भता नामक अनुभाव कहा जाता है।[3]

---

१. **गदेति वर्णात्मकं शब्दं निगदतीति गदा वंशी।** वैष्णवतोषिणी, श्रीमद्भागवतम्, पृ० १३२३ (१०, ३३, ११,) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९६४।

२. **गदा गदाकारा काचिन्नटनागरस्य नृत्ये गदाचालनदावर्त्तमाना यष्टिः।** भावभावविभाविका। श्रीमद्भागवतम्, पृ० १३२५ (१०, ३३, ११) नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी।

३. **निःशङ्कत्वं प्रयोगेषु बुधैरुक्ता प्रगल्भता।** उज्ज्वलनीलमणि, अनुभावप्रकरण, १९।

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम् ।
गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥१३॥

नाचने के कारण चलायमान कुण्डलों की कान्ति से परिमण्डित कपोल को श्रीकृष्ण के कपोल पर टिकाने वाली किसी गोपी को श्रीकृष्ण ने अपना चर्वित ताम्बूल दिया।

(१) यह चन्द्रावली की सखी शैव्या की चेष्टा का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय के पंचम श्लोक में ताम्बूलचर्वण की क्रिया की समानता इस चेष्टा को शैव्या की चेष्टा सिद्ध करती है।[1] शैव्या भी रासनृत्य में विभोर थी। उसके कपोलों की कान्ति कानों में झूलते हुए कुण्डलों की कान्ति से द्विगुणित हो रही थी। उसने रासनृत्य में थक कर अपने कपोल श्रीकृष्ण के कपोल पर टिका रखे थे। श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर उसे अपना चर्वित ताम्बूल प्रदान किया था।

नृत्यन्ती गायती काचित्कूजन्नूपुरमेखला ।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात्स्तनयोः शिवम् ॥१४॥

कोई गोपी नाच रही थी और गा रही थी। उसके चरण-नूपुर तथा कटि-मेखला बज रही थी। उसने थककर अपने पार्श्व में स्थित अच्युत के माङ्गलिक करारविन्द को अपने स्तनयुगल पर रख लिया।

(१) यह चन्द्रावली की चेष्टा का वर्णन है। चन्द्रावली की चेष्टा में नृत्य तथा गान एक साथ चल रहे थे। उसके नूपुरों तथा मेखला की क्षुद्र घण्टिकाओं की मधुर ध्वनि चारों तरफ फैल रही थी। जब वह भी थक गई तो उसने अपने समीप में स्थित अच्युत के कल्याणकारक कर-कमल को अपने कुचयुगल पर रख लिया।

(२) भगवान् के करारविन्द का स्तनों पर स्थापित करने का एकमात्र अभिप्राय यहां 'शिवम्' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। शिव का अर्थ कल्याणकारक है। इस प्रकार थकी हुई गोपी के श्रम की निवृत्ति का तात्कालिक उपाय श्रीकृष्ण के करकमल का आश्रय था।

गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ॥१५॥

गोपियों ने भगवती लक्ष्मी के एकान्तप्रिय अच्युत श्रीकृष्ण को प्रियतम के रूप से प्राप्त करके, श्रीकृष्ण की दोनों भुजाओं द्वारा कण्ठ में गृहीत होकर श्रीकृष्ण का गुणगान करते हुए विहार प्रारम्भ किया।

(१) यहां भगवान् श्रीकृष्ण की दो विशेषता बताई गई हैं :

---

१. **काचिदञ्जलिनागृह्णात् तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।**
श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ३२, ५ ।

(क) अच्युत। जो कभी भी अपनी महिमा से च्युत नहीं होते। जो सर्वदा अपने स्वरूप में एकरस होकर अधिष्ठित रहते हैं।

(ख) भगवती लक्ष्मी के एकमात्र प्रियतम।

(२) वास्तव में यहां भगवती लक्ष्मी की अपेक्षा गोपबालाओं के उत्कर्ष की महिमा का वर्णन प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण यद्यपि लक्ष्मी के एकमात्र प्रियतम थे। किन्तु जिस रमणविषयक आनन्द का उल्लास गोपियों की उपस्थिति में हो रहा था, वह लक्ष्मी को प्राप्त नहीं था। गोपबालाओं के पक्ष में श्रीकृष्ण को एक क्षण का भी वियोग सह्य नहीं था। इसी भाव से यहां खींचे हुए चित्र में श्रीकृष्ण ने अपनी दोनों भुजाएं गोपियों के कण्ठ में डाल रखी हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण के आलिंगन के आनन्द में विभोर गोपियों ने प्रसन्नता के प्रकर्ष में श्रीकृष्ण के गुणों का गान करते हुए विहार प्रारम्भ किया।

कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म-
वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-
स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥१६॥

कानों के अरविन्दों से, घुंघराली अलकावली से अलङ्कृत कपोलों से तथा स्वेदबिन्दुओं से शोभित मुख वाली गोपियों ने भगवान् श्रीकृष्ण के साथ करकङ्कनों तथा चरणनूपुरों के शब्दरूपी वाद्ययंत्रों द्वारा और भ्रमररूपी गायकों द्वारा परिमण्डित रासगोष्ठी में नृत्य करना प्रारम्भ किया। इस समय इन गोपियों के केशों में पुष्पमालाएं ढीली पड़ रही थीं।

(१) रासगोष्ठी में भगवान् के साथ नृत्यपरायण गोपियों के शृंगार के विषय में यहां पांच बातें बताई गई हैं।

(क) उनके कानों में कमल के फूल थे।

(ख) कपोलों पर अलकावली लटक रही थी।

(ग) नृत्य के श्रम के कारण मुख पर पसीने की बूंदें झलक रही थीं।

(घ) वेणी में पुष्पमालाएं गूंथीं हुई थी, जो नृत्य के कारण खिसकने लगी थीं।

(ङ) गोपियों ने हाथों में कंगन तथा पैरों में नूपुरों के आभूषण पहिन रखे थे।

(२) रासगोष्ठी के उपक्रम के लिए दो वस्तुओं का रूपक यहां स्वीकार किया गया है।

(क) भंवरों की गुंजनध्वनि गोष्ठी में मधुर गायक के रूप से चित्रित की गई है।

(ख) गायक के गान की मधुरिमा की वृद्धि के अभिप्राय से अथवा नृत्य में तालसंगीत के आशय से वाद्यसंगीत की कल्पना की पूर्ति गोपियों के कंगनों तथा नूपुरों की ध्वनि के व्याज से मानी गई है।

(३) गोपियों की वेणियों से ढीली पड़कर खिसकने वाली मालाओं के सम्बन्ध में एक

आशय यह प्रतीत होता है कि वाद्य-संगीत तथा नृत्य-सौन्दर्य के कारण उनके केशपाश अत्यधिक प्रसन्न थे। अतः पुष्पमालाओं को गिराने के छल से पुष्पवर्षा का उपक्रम कर रहे थे।

एवं परिष्वङ्करताभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥१७॥

अपने प्रतिबिम्ब के प्रति क्रीड़ापरायण बालक के समान लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियों के साथ इस प्रकार आलिङ्गन, कर-स्पर्श, सप्रेम-निरीक्षण, उद्दाम विलास तथा स्मित के साथ रमण करने लगे।

(१) इस श्लोक से दो बातें स्पष्ट होती हैं :

(क) यद्यपि गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण के साथ रमण का वर्णन पहिले किया जा चुका है, तथापि पुनः इस रमण के वर्णन से यह भाव प्रकट होता है कि यहां भगवान् अपनी आलिंगन तथा करस्पर्श आदि क्रियाओं द्वारा गोपियों के मन में परम माधुर्य के रस का संचार करते हुए स्वयं रमण प्रारम्भ करते हैं।

(ख) बालक का अपने प्रतिबिम्ब के साथ क्रीड़ा करने का दृष्टान्त यह स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि जिस प्रकार प्रतिबिम्ब में बालक अपने स्वयं के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर क्रीड़ा करता रहता है किन्तु उसकी आसक्ति और वासना की उत्पत्ति अपने प्रतिबिम्ब के प्रति नहीं होती। उसी प्रकार भगवान् भी अपने ही सौन्दर्य तथा माधुर्य का अनुभव प्रतिबिम्बरूपा गोपांगनाओं में करते हुए आसक्त नहीं हुए।

(२) यहां श्रीकृष्ण को लक्ष्मीपति कहा गया है। भगवती लक्ष्मी के स्वामी होकर भी उनका व्रजसुन्दरियों के साथ रमण लक्ष्मी की अपेक्षा गोपियों की प्रीति, भक्ति तथा रमणीयता के उत्कर्ष को प्रतिपादन करने के आशय को व्यक्त करता है।

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥१८॥

हे कुरुश्रेष्ठ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण के अङ्ग-स्पर्श के आनन्द के प्रकर्ष से विह्वल इन्द्रियों वाली व्रजसुन्दरियाँ अपने केशपाशों को, उत्तरीय को तथा चोली को शीघ्र धारण करने में समर्थ नहीं हो सकीं। इस समय उनकी मालाएं तथा अलंकार अस्त-व्यस्त हो रहे थे।

इस श्लोक में अभिवर्णित चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्ण के उद्दाम विलास से तथा आलिङ्गनादि क्रियाकलाप से गोपियां अत्यन्त व्याकुल हो उठी थीं। व्याकुलता की स्थिति का बोध निम्नलिखित तीन प्रकारों से हो जाता है।

(१) गोपियों के सजे हुए केशपाश बिखर गये थे।

(२) उनके रेशमी उत्तरीय तथा कुचपट्टिकाएं खिसक रही थीं।

(३) फूलों की मालाएं तथा अलंकार अस्त-व्यस्त हो रहे थे।

कृष्णविक्रीड़ितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः ।
कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥१९॥

श्रीकृष्ण की यह विशिष्ट क्रीड़ा देखकर काम से पीड़ित देवताओं की स्त्रियाँ मोहित हो गईं और तारागण के सहित सुधाँशु विस्मित हो गया ।

(१) भगवान् की रासलीला के दो प्रत्यक्ष प्रभाव हुए ।

(क) व्रजसुन्दरियों की मानसिक विह्वलता के साथ साथ देवाङ्गनाएं भी व्याकुल हो उठी थीं ।

(ख) नभोमण्डल में कुमुदबान्धव नक्षत्रमंडल के साथ आश्चर्यचकित हो गया । चन्द्रमा के चकित होने का यह आशय था कि विस्मय की अवस्था में स्तब्ध चन्द्रमा तथा नक्षत्रमण्डल को अपनी स्वाभाविक गति विस्मृत हो गई थी । फलतः शरत्पूर्णिमा का आयाम अत्यन्त विस्तृत हो गया और इस प्रकार चन्द्रमा भगवान् की विलक्षण रासलीला के विलास के हेतु सहायक बना ।

(२) देवताओं के लिए खेचर[1] शब्द का प्रयोग यह बताता है कि देवगण तथा देवाङ्गनाएं नभोमण्डल में अपने अपने विमानों में[2] रासलीला का दर्शन कर रहे थे । देवाङ्गनाओं के मन में काम की पीड़ा से यहां केवल भगवान् के सम्बन्ध से अप्राकृत काम का ही अभिप्राय है ।

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥२०॥

भगवान् ने आत्माराम होकर भी जितनी गोपरमणियाँ थीं उतने ही रूप में अपने को बनाकर, उनके साथ लीलापूर्वक रमण करना प्रारम्भ किया ।

(१) श्रीकृष्ण की एक साथ अनेक रूप धारण करने की क्षमता का यह तीसरा उदाहरण प्राप्त होता है ।

(२) श्रीकृष्ण के लिए यहां आत्माराम विशेषण दिया गया है । इसका अर्थ है जो केवल अपनी आत्मा की प्रसक्ति में रमण करते हैं । उन श्रीकृष्ण का गोपसुन्दरियों के साथ रमण प्रारम्भ करना प्रस्तुत विशेषण के अर्थ के साथ क्रियापक्ष की असंगति तथा भावविरोध प्रकट करता है । इसका समाधान "लीलया" पद से होता है । वास्तव में श्रीकृष्ण ने यह लीला केवल लीला के लिए की थी । किसी भी प्रकार की वासनात्मक उत्तेजना अथवा कामपरायणता से नहीं की थी ।

(३) गोपियों की उपस्थित संख्या के बराबर रूप धारण करके, प्रत्येक गोपी के साथ पृथक्-पृथक् विहार करके भगवान् ने पूर्वकाल में निहित अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया है । जो

---

१. **खे आकाशे चरति गच्छतीति खेचरः ।**

२. **नभस्तावद् विमानशतसंकुलम् ।** श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ३३, ४ ।

प्रतिज्ञा उन्होंने गोपकन्याओं के कात्यायनीव्रत (भागवत १०, २२, १–६) से प्रसन्न होकर वरदान के रूप में की थी।[1]

तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।
प्रामृजत्करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग ! पाणिना ॥२१॥

हे अङ्ग परीक्षित् ! अत्यधिक विहार के कारण परिक्लान्त गोपसुन्दरियों के मुख-कमलों को करुणामय श्रीकृष्ण अपने परम माङ्गलिक करारविन्द द्वारा पोंछने लगे।

(१) यहां गोपियों के श्रमनिवारण के हेतु उनके मुखारविन्द का श्रीकृष्ण द्वारा प्रमार्जन तीन कारणों पर अवलम्बित था।

(क) विहार में नृत्य तथा गानादि की अधिकता से गोपियां पूर्णरूप से परिक्लान्त हो चुकी थीं।

(ख) श्रीकृष्ण स्वयं करुणामय थे। गोपियों की श्रान्त अवस्था देखकर उनकी करुणा का महार्णव उमड़ पड़ा था।

(ग) श्रीकृष्ण के करारविन्द में समस्त ताप नाश करने की शक्ति अथवा परम सुख दान करने की शक्ति अथवा परम मांगलिकता स्थापित करने की शक्ति थी।

(२) परमहंसों को यह अर्थ प्रतीत होता है कि साधना के पथ पर क्रिया तथा चर्या करते-करते जब साधक बिल्कुल थक जाता है तो तत्काल भगवत्कृपा हो जाती है।

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्-
गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि
पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥२२॥

श्रीकृष्ण के नखस्पर्श से प्रमुदित गोपियाँ, चमकते हुए सोने के कुण्डलों तथा अलकावली की कान्ति से परिमण्डित गण्डस्थल की शोभा द्वारा तथा पीयूषमधुर हास्ययुक्त निरीक्षण द्वारा आदर करती हुई, उन पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्ण के पवित्र लीला-चरित्रों का गान करने लगीं।

(१) भगवान् श्रीकृष्ण के नखस्पर्श द्वारा गोपियों की सम्पूर्ण वृत्तियां परमानन्द में डूब गई थीं। यहां गोपियों के पक्ष से अधोनिर्दिष्ट तीन प्रकार से उनका श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने का प्रयत्न प्रदर्शित किया गया है। यह स्मरणीय है कि इन तीनों प्रकारों में उत्तरोत्तर बलविशेष का उत्कर्ष है।

---

१. **यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।**
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः॥ श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, २२, २७।

(क) अपने सौन्दर्य की मधुरिमा द्वारा श्रीकृष्ण को आकर्षित करके प्रसन्न करने का प्रयत्न। स्त्रीजाति का यह स्वभाव होता है कि अपने प्रियतम को प्रसन्न करने के हेतु सर्वप्रथम अपनी सुन्दरता का प्रयोग करती है। गोपियों ने सुवर्ण के भास्वर कुण्डल धारण कर रखे थे। उनके मुख पर श्यामवर्ण की घुंघराली अलकावली लटक रही थी। दोनों कारणों से कपोलों की कान्ति द्विगुणित हो उठी थी। इस प्रकार गोपियों का प्रथम प्रयत्न अपने मुखसौन्दर्य द्वारा हुआ।

(ख) द्वितीय प्रयत्न स्मितपूर्वक निरीक्षण पर अवलम्बित था। गोपियों का निरीक्षण ऐसे अद्‌भुत मन्द हास्य से युक्त था मानों अमृत की तुलना में रखा जा सके। स्त्रियों के स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रति जब प्रियतम का मन आकर्षित नहीं होता तो वे अपने कटाक्षों का प्रयोग करती हैं, क्योंकि सस्मित कटाक्षमय निरीक्षण उनका द्वितीय शस्त्र माना गया है।

(ग) इसका संवलन श्रीकृष्ण के पवित्र लीला-चरित्रों के गान में हुआ था। जब स्त्रियों के दोनों प्रयोग निष्फल हो जाते हैं, तो वह प्रियतम के गुणानुवाद का आश्रय लेती हैं। अपने स्वयं की गुणों की प्रशंसा सुनकर पुरुष को उसी रमणी-विशेष में विश्वास होता है कि यह मेरे प्रति आकर्षित है।

(२) परमहंसों को इन तीनों प्रयत्नों में यह प्रतीति होती है :

(क) साधक अपने गुणों द्वारा तथा मन की निर्मलता द्वारा, भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है, किन्तु यह साधन गोपियों की भांति सफल नहीं होता।

(ख) द्वितीय स्थान में चर्या तथा क्रिया आती है। जहां विधि के द्वारा भगवत्प्राप्ति का यत्न होता है। यह साधन भी सर्वाङ्गसफलताप्रद नहीं होता।

(ग) तृतीय स्थिति में साधक साधना की विविध विधियों को त्याग कर, केवल भगवान् के नाम तथा गुणों के गान में लग जाता है। यही संकीर्तन का प्रकार होता है। जिससे पूर्वोक्त दोनों साधनों की अपेक्षा भगवत्प्राप्ति की शीघ्र संभावना होती है। श्रीमद्‌भागवत में प्रतिपादित धर्म का निचोड़ संकीर्त्तन के पक्ष के रूप में अन्तिम श्लोक में किया गया है। यहां यह स्पष्ट रूप में कहा गया है कि भगवान् के नाम का संकीर्तन समस्त पापों के सर्वथा नाश करने की शक्ति से अधिजुष्ट है।[1]

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-
घृष्टस्रजः स कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः
श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥२३॥

जिस प्रकार परिक्लान्त गजराज हथिनियों के साथ सेतु की मर्यादा तोड़-

---

१. **नामसङ्कीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।**
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥ श्रीमद्‌भागवत महापुराण, १२, १३, २३।

कर जल में प्रवेश करता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अपना श्रम दूर करने के आशय से उन गोपबालाओं के साथ कालिन्दी के जल में प्रवेश किया। भगवान् के अङ्गस्पर्श से उनकी पुष्पमालाएं अनुमर्दित थीं और कुचयुगल के कुङ्कुम से अनुरञ्जित थीं। उन मालाओं द्वारा आकृष्ट भ्रमरगण श्रीकृष्ण का अनुकरण कर रहे थे।

(१) अब भगवान् श्रीकृष्ण अपने तथा गोपबालाओं के श्रम का निवारण करने के आशय से कालिन्दी के शीतल जल में प्रवेश करते हैं। इस समय भगवान् की उपमा गजराज के साथ तथा गोपियों की तुलना हथिनियों के साथ की गई है।

(२) (क) पुष्पमालाओं के नैसर्गिक सौरभ के कारण भ्रमरगण उन पर आकृष्ट होकर गोपियों के साथ-साथ उड़ रहे थे। भ्रमरों के हेतु यहां गन्धर्वपालिन् शब्द का प्रयोग यह बताता है कि इन भ्रमरों में गन्धर्वों के सदृश विलक्षण गान करने की शक्ति थी। इस प्रकार लीला के साथ-साथ संगीत की मधुरिमा का प्रणयन भ्रमरगान द्वारा हो रहा था।

(ख) गोपियों द्वारा पहिनी हुई पुष्पमालाएं कुन्द पुष्प की थीं। इसका आधार निम्नलिखित कारण पर स्थित है।

(ग) ये पुष्पमालाएं स्तनों के कुंकुम से अरुण वर्ण की हो रही थीं। केवल श्वेतपुष्पों की मालाओं में ही कुंकुमसंयोग अरुणिमा उत्पन्न कर सकता है।

(३) जिस प्रकार गजराज तरंगिणी के तट को छिन्न-भिन्न करता हुआ जल में प्रवेश करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी कालिन्दी में प्रवेश किया। श्रीकृष्ण के पक्ष से सेतु का अर्थ मर्यादा लिया जाता है। जो वैदिक तथा लौकिक परम्परा के क्रम से सम्बद्ध है।

सोऽम्भस्थलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥२४॥

हे अङ्ग परीक्षित्! कालिन्दी के जल में खिलखिलाकर हंसती हुई गोपयुवतियों द्वारा चारों तरफ से खूब जल छिड़के जाते हुए, इधर से उधर प्रेमपूर्वक देखे जाते हुए, और विमानों में स्थित पुष्पों की वर्षा करने वाले देवताओं द्वारा स्तुति किये जाते हुए, स्वयं साक्षात् आत्माराम श्रीकृष्ण गजेन्द्र की लीलाओं के तुल्य लीलापरायण होकर रमण करने लगे।

(१) यह भगवान् की गोपतरुणियों के साथ कालिन्दी के नीर में जलविहार की लीला है। जलविहारक्रीड़ा में गोपियां भगवान् के ऊपर अत्यन्त प्रसन्न होकर जल के छींटे मार रही थीं और साथ-साथ खिलखिलाकर हँसती जा रही थीं।

(क) जलकणों द्वारा श्रीकृष्ण पर छींटे मारने के चार अभिप्राय थे।

१—श्रीकृष्ण के साथ इस क्रीड़ा में गोपियों की प्रत्येक प्रकार की आशंका निवृत्त हो चुकी थी।

२—उनका श्रीकृष्ण के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध स्थापित था।

३—श्रीकृष्णको बाहर से अच्छी प्रकार भिगोना था।

४—इस क्रिया द्वारा श्रीकृष्ण को अपने प्रति जल उछाल कर खेलने के निमित्त अनुप्रेरित करना था।

(ख) इस प्रकार गोपियां श्रीकृष्ण को जल द्वारा बाहर से सींच रहीं थीं तो प्रेमपूर्वक निरीक्षण से श्रीकृष्ण के अन्तस्तल को सींच रही थीं।

(२) गोपियों की इस क्रीड़ा का परिणाम 'स्वयं' शब्द के प्रयोग के पीछे प्रच्छन्न है। श्रीकृष्ण भी स्वयं रमण करने लगे। अर्थात् गोपियों की भांति उन्हें जल से तथा सप्रेम निरीक्षण से बाहर और भीतर सींचने लगे।

(३) गगनमण्डल में विमानगामी देवगण तथा देवाङ्गनाओं द्वारा पुष्पवर्षा तथा स्तुति श्रीकृष्ण के लोकोत्तर उत्कर्ष तथा महिमा को व्यक्त करती है।

(४) श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त स्वरति शब्द के तीन अर्थ होते हैं।

(क) अपने में रमण करने वाला।[1]

(ख) अपने भक्त जनों में अनुराग करने वाला।[2]

(ग) अपनी स्वयं की गोपसुन्दरियों में प्रीति करने वाला।[3]

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥२५॥

तत्पश्चात् हथिनियों के साथ भ्रमरप्रमदाओं से समावृत मदस्रावी गजराज के तुल्य भगवान् श्रीकृष्ण भ्रमरगण तथा गोपप्रमदागण से घिरे हुए यमुनातट के उपवन में विचरण करने लगे। इस उपवन की दिशाओं के प्रान्तभाग जलपुष्पों तथा स्थलपुष्पों के सुगन्धित पवन से अधिजुष्ट थे।

प्रस्तुत श्लोक में उपवनलीला का वर्णन किया गया है।

(१) कालिन्दी के शीतल जल में विहारक्रीड़ा के पश्चात् गोपियों से घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण यमुनातट के उपवन में विहार करने लगे।

(२) जललीला के पश्चात् उपवनलीला का उपस्थान अत्यन्त ही मनोरम तथा संगत प्रतीत होता है। जललीला के कारण गोपियों का शृंगार सर्वथा अस्त-व्यस्त हो गया था। सजे हुए केशपाश की चित्ताकर्षक प्रसाधनसज्जा, पुष्पमालाओं के हार, कुङ्कुम का लेप तथा नेत्रों का

---

१. स्वस्मिन् आत्मनि रतिः रमणं यस्य।

२. स्वेषु स्वभक्तेषु रतिः अनुरागः यस्य।

३. स्वासु स्वकीयासु गोपसुन्दरीषु रतिः प्रीतिः यस्य।

कज्जल इन सबने जल में भीगकर गोपियों के स्वभावमधुर सौन्दर्य को निखार दिया था। यह सौन्दर्य वनलीला के उपयुक्त था, क्योंकि वनलीला में किसी भी प्रकार के कृत्रिम सौन्दर्य करने वाले व्यक्ति को प्रवेश नहीं मिलता। इस प्रकार गोपियों का वन्यसौन्दर्य वनलीला के लिए अत्यन्त ही विचारसंगत प्रतीत हो रहा था।

(३) वनलीला के तीन अंग थे।

(क) कालिन्दी के सैकतधवल पुलिन पर विचरण करना।

(ख) जल व स्थल में प्रफुल्ल पुष्पों के गन्ध से आकृष्ट होकर विचरण करते-करते कभी-कभी पुष्प तोड़कर परस्पर भेंट करना और इस प्रकार अपने अन्तःप्रेम को व्यक्त करना।

(ग) कभी-कभी यमुना के तट पर सघन निकुंजों में प्रवेश करना और वहां कुछ काल तक एकान्त स्थिति द्वारा विशेष कृपा करना। यह अनुकम्पा जिस गोपी के प्रति विशेष रूप से होती थी, उसी के अभिप्राय से श्रीकृष्ण अपना स्वतन्त्र अभिनव रूप धारण करके निकुंजलीला में प्रवेश करते थे।

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥२६॥

अपने में सुरत-भावना का निरोध करने वाले सत्य-संकल्प श्रीकृष्ण ने—जिनमें गोपसुन्दरियों का समूह अनुरक्त था—इस प्रकार चन्द्रमा की रश्मियों से सुशोभित उन समस्त निशाओं का सेवन प्रारम्भ किया जो निशाएं शरद्ऋतु की काव्य-कथाओं के रस की आधार थीं।

(१) इस श्लोक में भगवान् की रासक्रीड़ा की समाप्ति हो जाती है। इस चित्र में श्रीकृष्ण के तीन विशेषण दिये गये हैं। इन विशेषणों द्वारा श्रीकृष्ण की कामदेव पर विजय सिद्ध होती है।

(क) सत्यकामः। केवल अपने संकल्प की सत्यता के कारण ही उन्होंने रासलीला का निर्विघ्न पर्यवसान किया था।

(ख) अनुरताबलागणः। गोपबालाओं का गण उन पर अनुरक्त था। अतः गोपियों के अनुराग से आकृष्ट होकर रासलीला का विभ्रम रचकर उसका उपसंहार किया था।

(ग) आत्मन्यवरुद्धसौरतः। रासलीला के विविध उपादानों में क्रियाशील होकर भी अपनी स्वरूपस्थिति में सुरतभावना के पक्ष से स्वयं अस्खलित थे।

(२) शरत्काल से सम्बद्ध काव्यकथाओं में जितने रस हैं, वे सभी एकाकार होकर इन रात्रियों में प्रकट थे। इसका यह अभिप्राय है कि शरत्काल की उस विशिष्ट पूर्णिमा में रासलीला के प्रथम प्रवर्त्तन के पश्चात् भगवान् शरद् ऋतु की पूर्णिमाओं के संयोग में सर्वदा उन लीलाओं को करते थे। इस विचार की पुष्टि विष्णुपुराण के प्रमाण से होती है जहां स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है कि रासानुरागिणी गोपांगनाएं अपने पति आदि सम्बन्धियों के रोकने पर भी रात्रि के समय

श्रीकृष्ण के साथ रमण करती थीं।[1] इसी प्रकार एक दिन सायंकाल के समय जब श्रीकृष्ण रास-लीला में तत्पर थे, अरिष्ट नामक असुर सब को त्रस्त करता हुआ वहां आया।[2]

परीक्षित् बोले

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥२७॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥२८॥

जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्म की सम्यक् प्रकार से स्थापना करने के हेतु तथा अधर्म का शमन करने के निमित्त अंश से अवतार ग्रहण किया था। यह सर्वथा सुप्रसिद्ध तथा सुनिश्चित है। हे ब्रह्मन्! धर्म की मर्यादाओं के स्वयं उपदेष्टा, कर्त्ता तथा संरक्षक होकर उन्होंने पर-स्त्रियों के स्पर्शतुल्य विपरीत आचरण को कैसे किया?

(१) श्रीशुकदेव परमानन्द की अमन्द मन्दाकिनी में निमज्जित होकर भगवान् की इस अद्भुत लीला का वर्णन कर रहे थे। परीक्षित् भी परम श्रद्धा के साथ इस लीला के तत्सुख आनन्द में तन्मय थे। प्रस्तुत तीन श्लोकों में संवलित परीक्षित् का प्रश्न केवल यह भाव प्रकट करता है कि श्रोताओं में किसी के मन में इस प्रकार की शंका हो तो निवृत्त हो जाय। स्वयं परीक्षित् के मन में तो ऐसे सन्देह का अंकुर भी नहीं था। अन्यथा लीलाश्रवण से विराग और विराग से विरसता उत्पन्न हो जाती। यह परीक्षित् द्वारा श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त दोनों विशेषणों से स्पष्ट हो जाता है।

(क) भगवान्। (ख) जगदीश्वर।

यदि परीक्षित् के मन में भगवान् की भगवत्ता तथा मर्यादा के अतिक्रमण का भाव होता तो इन विशेषणों का प्रयोग नहीं करता।

(२) श्रीकृष्ण के अवतार ग्रहण करने के दो उद्देश्य थे।

(क) धर्म की स्थापना। यहां धर्म से उन धार्मिक परम्पराओं का अभिप्राय है जो काल-विपर्यास से लुप्त हो चुकी हैं। उनको पुनः अच्छी तरह स्थापित करना और जो धार्मिक परम्पराएं प्रचलित हैं, उनकी रक्षा करना।

(ख) अधर्म का नाश। अधर्म के नाश का आशय सम्पूर्ण अधार्मिक वासनाओं, संस्कारों,

---

१. **ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा।**
कृष्णं गोपाङ्गना रात्रौ रमयन्ति रतिप्रियाः ॥ विष्णुपुराण, ५, १३, ५९।

२. **प्रदोषाग्रे कदाचित्तु रसासक्ते जनार्दने।**
त्रासयन्समदो गोष्ठमरिष्टः समुपागमत् ॥ वही, ५, १४, १।

प्रवृत्तियों तथा प्रवर्त्तकों से है। द्वितीय उद्देश्य की पूर्त्ति प्रथम की पूर्त्ति में सहायक होती है। वास्तव में दोनों उद्देश्य अन्योन्याश्रित है। दोनों उद्देश्य श्रीमद्भगवद्गीता में संवर्णित अवतार-वाद के सिद्धान्त-सूत्रों से मेल खाते हैं।[1]

(३) श्रीकृष्ण को परीक्षित् ने धर्म की मर्यादाओं अथवा धर्मरूपी मर्यादाओं का उप-देष्टा, अनुष्ठाता और संरक्षक कहा है। वास्तव में किसी भी प्रकार के उपदेश का पूर्ण प्रभाव तभी होता है जब कि उपदेश करनेवाला स्वयं उसी प्रकार अपने जीवन में आचरण करता है। रासलीला के प्रसंग में श्रीकृष्ण का अन्यथा आचरण परीक्षित् को इस प्रश्न के लिए प्रेरित करता है।

(४) श्रीशुकदेव को परीक्षित् ने 'ब्रह्मन्' कहकर संबोधित किया है। इसका अर्थ है कि आप वेदों के ज्ञान में अच्छी तरह निष्णात हैं। अतः वैदिक मर्यादाओं से परिचित हैं। साधा-रण बुद्धि श्रीकृष्ण के इस आचरण को समझने में असमर्थ हैं। केवल आप ही इसे समझा सकते है।

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान्वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥२९॥

यदुपति भगवान् श्रीकृष्ण तो पूर्णकाम हैं। उन्होंने यह निन्दनीय कार्य किस अभिप्राय से किया ? हे सुव्रत ! हमारे इस संदेह का छेदन करो।

(१) यहां भी परीक्षित् ने श्रीकृष्ण भगवान् के लिए 'आप्तकाम' विशेषण का प्रयोग किया है। यह प्रयोग भी बताता है कि परीक्षित् के मन में किसी भी प्रकार की अश्रद्धा अथवा सन्देह की उत्पत्ति नहीं थी। केवल अन्यान्य सामान्य जनों के पक्ष से प्रश्न किया था, जिनके मन में भक्ति की निष्ठा का पूर्ण उदय नहीं हुआ था।

(क) आप्तकाम का अर्थ है जिसकी कामनाएं सर्वदा पूर्ण हैं। इस प्रकार जब श्रीकृष्ण के मन में किसी भी प्रकार की कामना का उदय नहीं हो सकता तो इस लीला के द्वारा यह विरोध क्यों प्रतीत होता है।

(२) श्रीशुकदेव के लिए यहां 'सुव्रत' सम्बोधन का प्रयोग किया है इसके दो अर्थ हैं :

(क) व्रत का अर्थ है ब्रह्मचर्यादि व्रत में अधिष्ठान अथवा श्रुतिस्मृतिपुराणप्रतिपादित शोभन व्रतों में संलग्न। इस प्रकार इन व्रतों के आचरण द्वारा श्रीशुकदेव में अत्यन्त विशुद्ध निष्ठा तथा बुद्धि की सत्ता मानी गई है। ऐसा ही व्यक्ति पूर्वोक्त संदेह की निराकृति में समर्थ माना जा सकता है।

(ख) द्वितीय अर्थ है कि आप ब्रह्मचर्यादि व्रतों के अनुष्ठाताओं में मूर्धन्य हैं। आपके तुल्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए तो इस प्रकार के लोकाचारविरुद्ध आचरण का प्रतिपादन कभी

---

१. **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ श्रीमद्भगवद्गीता, ४, ८।

भी संभव नहीं हो सकता। किन्तु आपके द्वारा प्रतिपादित कथा से प्रतीत होता है कि अवश्य ही इसका अत्यन्त गूढ़ आशय है, जो तुच्छ बुद्धि के ज्ञान से प्रकाशित नहीं होता। यदि आप भी इस कृत्य को निन्दनीय स्वीकार करेंगे, तो यह अवश्य निन्दनीय कहा जायगा।

श्रीशुकदेव बोले

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥३०॥

ईश्वरों का साहस तथा धर्म का व्यतिक्रम देखा गया है। तेजस्वियों का कार्य सर्वभक्षी अग्नि के समान दोष का कारण नहीं बनता।

यहां से सात श्लोकों में श्रीशुकदेव ने परीक्षित् के प्रश्न का उत्तर दिया है।

(१) यहां ईश्वर शब्द ईश्वर के समान सामर्थ्य वाले समस्त देवगणों के अर्थ में उपलक्षण है। दार्शनिक परम्परा के अनुसार ईश्वर कर्म के बन्ध में नहीं फंसता। सामान्य रीति से भी जिस कार्य को एक शक्तिशाली पुरुषविशेष सम्पादित कर सकता है, उसको निर्बल व्यक्ति भी कर सके, यह आवश्यक नहीं है।

(२) यहां अग्नि का दृष्टान्त दिया गया है। अग्नि सर्वभक्षी होता है। अपवित्र तथा पवित्र पदार्थों के भक्षण से अग्नि की पवित्रता में किसी भी प्रकार के दोष का संसर्ग उत्पन्न नहीं होता। जो अग्नि अपवित्र मृत देह का भक्षण करता है, वही अग्नि यज्ञ की आहुतियां भी ग्रहण करता है।

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥३१॥

जो ईश्वर नहीं है, वह कभी मन से भी ऐसा आचरण नहीं करे। जैसे मूर्खता से आचरण करता हुआ रुद्र से भिन्न व्यक्ति समुद्रोत्पन्न विष के कारण नष्ट हो जाता है।

(१) 'एतत्' शब्द का आशय ईश्वर के असाधारण धर्मादि विपरिणाम से है। जो मनुष्य ईश्वर के सदृश शक्तियुक्त नहीं हैं। जिनमें जितेन्द्रियता तथा ईश्वरनिष्ठ ऐश्वर्य का लेशमात्र भी नहीं है। उनके लिए धर्म का व्यतिक्रम किसी भी अंश में हितकर नहीं है। व्यतिक्रम में क्रियापक्ष तो अत्यन्त दूर रहा, मानसिक चिन्तन भी शास्त्रनिषिद्ध माना गया है। जो अज्ञानवश इस प्रकार की चेष्टा में प्रवृत्त होते हैं, उनकी वही स्थिति होती है जो रुद्र से भिन्न व्यक्ति की सागरोत्पन्न विष के कारण संभव है।

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥३२॥

ईश्वरों के वचन सत्य हैं। कहीं-कहीं आचरण भी उसी प्रकार यथार्थ

होते हैं। उनकी अपनी वाणी के अनुकूल जो आचरण है—बुद्धिमान् व्यक्ति उन्हीं का सम्यक् प्रकार से आचरण करे।

(१) ईश्वरकोटि के महापुरुषों की वाणी के उपदेश तथ्यानुस्यूत होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को प्रामाणिक रूप से केवल उपदेश को स्वीकार करना चाहिए।

(२) जो व्यक्ति उनकी वाक्यनिष्ठ प्रामाणिकता की अपेक्षा आचारनिष्ठ प्रामाणिकता का सम्बल लेकर स्वयं धर्मातिक्रान्त स्वच्छन्द पथ का आश्रय लेते हैं, वे बुद्धिहीन हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए महापुरुषों की उन्हीं लीलाओं का अनुकरण श्रेयस्कर होता है, जो लीलाएं उनके उपदेशात्मक वाग्विन्यास के अनुकूल होती है।

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो ॥३३॥

हे राजन्! इस जगत् में ऐसे निरहङ्कारी व्यक्तियों का कुशल आचरण के द्वारा कोई स्वार्थ नहीं होता और विपरीत आचरण से अनर्थ नहीं होता।

(१) जब प्राणी का मन अहंकार के ऊपर उठ जाता है तो वह कर्मबन्ध के प्रपंच में नहीं फंसता। ईश्वर-कोटि के महापुरुषों के लिए किसी शुद्ध कर्मविशेष के अनुष्ठान द्वारा अपने किसी स्वार्थ की पूर्त्ति का प्रश्न नहीं रहता और शुभेतर अशुभ कर्म द्वारा कोई अनर्थ नहीं होता। इसलिए ऐसे महापुरुषों के जीवन के उपदेश ग्राह्य होते हैं, उनकी क्रियाएं ग्राह्य नहीं होती।

(२) साधारण मनुष्यों के पक्ष से इसे जीवन्मुक्त की श्रेणी के परमहंसों के अर्थ में समझा जा सकता है। जिनकी देहयात्रा का एकमात्र उद्देश्य केवल अपने शुभ अशुभ प्रारब्धों का भोग करना होता है।[1] जिनकी दृष्टि शुभ-अशुभ में सम हो जाती है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय, जिनके लिए तुल्य ब न जाते हैं। उनके जीवन की क्रियाएं भी असाधारण सी प्रतीत होने लगती हैं। फिर ईश्वरकोटि के देवताओं, अवतारों तथा महापुरुषों की तो बात ही निराली है।

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥३४॥

फिर शासन करने योग्य समस्त प्राणियों, पशु-पक्षी, मानव तथा देवताओं के नियन्ता श्रीकृष्ण का कुशल तथा अकुशल से क्या सम्बन्ध हो सकता है?

(१) यहां श्रीकृष्ण को तीनों प्रकारों के प्राणियों का नियन्ता स्वीकार किया गया है।

---

१. अयं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्·····। वेदान्तसार, सं० एम० हिरियन्ना, पूना, १६२६, पृ० १५।

(क) पशुपक्षी। जो तिर्यक् योनि में रहते हैं। इनके द्वारा तमोगुण का अधिष्ठान माना जाता है।

(ख) मानव। मनुष्य योनि के प्राणी जो रजोगुण का प्रतिनिधान करते हैं।

(ग) देवता। देवयोनि के व्यक्ति जो शुद्ध सत्वगुण के आधायक हैं।

(२) (क) सामान्य रीति से जब जीव ईश्वरकोटि के तुल्य धरातल पर आता है तो उसमें अद्भुत शक्तियों का उद्भव हो जाता है। इस समय उसमें अहंकार नहीं होता। अहंकार के अभाव में वह शुभ अशुभ कर्म के चक्र से ऊपर उठ जाता है। तो सत्वगुण, रजोगुण, तथा तमोगुण इन तीनों गुणों के प्राणियों का नियमन करने वाले जगन्नियन्ता परमेश्वर श्रीकृष्ण शुभ अशुभ कर्म के चक्र में कैसे फंस सकते हैं।

(ख) वास्तव में जो व्यक्ति नियम्य होते हैं उनके लिए नियमों का विधान किया जाता है। नियमों का विधान नियामक करता है, जो स्वयं नियमों की परिधि से ऊपर होता है। इसका मुख्य कारण उसके अपने अन्यान्य विशेष नियमों की पालकता पर स्थित है। यही स्थिति परमेश्वर श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से भी जगन्नियामक होने के कारण मर्यादा के अतिक्रमण के रूप में सामान्य बुद्धि से प्रतिभासित होने वाली रासलीला के विषय में समझनी चाहिए।

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥३५॥

जिनके चरणारविन्द के पराग के सेवन से संतृप्त तथा योग के प्रभाव से समस्त कर्म-बंधनों का विनाश करने वाले मुनि भी बंधनमुक्त होकर स्वेच्छा से विचरण करते हैं। फिर अपनी इच्छा से शरीर धारण करने वाले उन भगवान् श्रीकृष्ण में बन्ध कैसे हो सकता है।

(१) यहां भक्तिमार्ग तथा योगमार्ग का संकेत किया गया है।

(क) प्रथम विशेषण भक्तों के अभिप्राय से रखा गया है। श्रीकृष्ण के चरणकमल की रज की निरन्तर अनुचिन्तनात्मक सेवा से भक्तों के मन में समस्त कामना की पूर्त्ति हो जाती है। फलतः वे इच्छानुसार विचरण करते हैं। उनमें किसी प्रकार का बन्ध शेष नहीं रहता।

(ख) द्वितीय विशेषण योगियों के आशय से है। जब ध्यानपरम्परा में योगी का मन श्रीकृष्ण के रूप के आकार में ढल जाता है तो समस्त कर्मों के बन्धन शिथिल हो जाते हैं। ऐसे योगी भी यथेच्छ विचरणपरायण होते हैं। कुछ साम्प्रदायिक टीकाकार इस विशेषण को भी भक्तियोग के पक्ष में ही मानते हैं किन्तु मुनि शब्द का प्रयोग इसको योगपक्ष में ही दृढ़ करता है।

(ग) ये दोनों विशेषण स्पष्ट रूप से बताते हैं कि जब साधक कर्म के बन्ध से मुक्त हो

जाता है तो विधेय और अविधेय दोनों प्रकार के कार्यों के अनुष्ठान पुनः बन्ध का कारण नहीं बनते।

(२) श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं। कर्त्तुं अकर्त्तुं अन्यथाकर्त्तुं समर्थ हैं। वे केवल लीला के लिए अपनी इच्छा से ही शरीर धारण करने में प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार पूर्वकर्मों के बन्धन साधारण जीवों के जन्म के प्रति कारण बनते हैं, उस प्रकार श्रीकृष्ण के विषय में जन्म का कोई निमित्त नहीं होता। अतः किसी भी कर्म में उनकी प्रवृत्ति बन्धन का कारण नहीं बन सकती।

गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥३६॥

जो गोपाङ्गनाओं के, उनके पतियों के तथा समस्त देहधारियों के हृदय में विचरण करते हैं। सबके अधिपति हैं। उन्होंने लीला के हेतु देह धारण किया है।

(१) यहां श्रीकृष्ण के लिए दो बातें कही हैं:

(क) श्रीकृष्ण सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में विचरण करते हैं। यह पक्ष उनका अन्तर्यामित्व सिद्ध करता है।

(ख) श्रीकृष्ण को 'अध्यक्ष' कहा गया है। जो अध्यक्ष होता है वह कर्त्ता नहीं होता। केवल द्रष्टा अथवा साक्षी होता है। जो कर्त्ता है वही कर्म के फल का भोग करता है और भोग के कारण बन्ध में फंस जाता है। द्रष्टा की फल के प्रति कभी भी आधायकता नहीं होती। अतः वह कर्म करते हुए भी बन्ध में नहीं पड़ता। इस प्रकार जब श्रीकृष्ण अपने व्यापक रूप से सभी की बुद्धि के साक्षी हैं, तो उनके पक्ष से स्वकीय अथवा परकीय का प्रश्न नहीं उठता।[1]

(२) यहां फिर स्पष्ट रूप से बताया गया है कि श्रीकृष्ण के देहधारण का कारण कर्म-पारतन्त्र्य नहीं था बल्कि लीला के लिए स्वेच्छामात्र था।

(३) इस प्रकार श्रीकृष्ण का सामान्य जीवों से भेद सिद्ध होता है और इसी भेद के कारण श्रीकृष्ण परमेश्वर के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

---

१. **मनुष्य रूप को धारण करके भी जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अधिनायक हैं। एक छोटी सी मूर्त्ति के विग्रह में स्थित रहकर भी जो त्रिलोकी में व्याप्त हैं। वे श्रीकृष्ण सर्वदा पाप के संस्पर्श से शून्य हैं।**

अपि परयुवतीप्सुः पापसंस्पर्शशून्यः दधदपि मनुजत्वं सर्वदैवैकनाथः।
अपि तनुतरमूर्त्तिर्व्याप्तलोकत्रयोऽसौ नवजलधरधामा नन्दधामाससाद।

हरिविलास, २, ३४।

जीवपक्ष	कृष्णपक्ष
(क) जीव कर्म के बन्ध से देह धारण करता है।	(क) श्रीकृष्ण के लिए कर्म का बन्ध नहीं होता। वे केवल लीला के लिए स्वेच्छा से देह धारण करते हैं।
(ख) जीवात्मा एकदेशस्थायी है। अतः अल्पज्ञ है।	(ख) श्रीकृष्ण समस्त प्राणियों के मन में निवास करने के कारण बहुदेशस्थायी हैं। अतः सर्वज्ञ हैं।
(ग) जीव कर्त्ता है, अतः फल का भोक्ता है।	(ग) श्रीकृष्ण साक्षी हैं, अतः फल का भोग नहीं करते।

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥३७॥

भगवान् श्रीकृष्ण प्राणियों पर अनुकम्पा करने के लिए मनुष्य शरीर में स्थित होकर उस प्रकार की लीलाएँ करते हैं जिन्हें सुनकर मनुष्य भी श्रीकृष्ण-परायण हो जाय।

(१) यहां यह प्रश्न है कि भगवान् श्रीकृष्ण तो पूर्णकाम थे। फिर उनकी लौकिक लीलाओं में प्रवृत्ति कैसे हुई! इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत श्लोक के प्रथम चरण से दिया गया है कि भगवल्लीलाओं का एकमात्र उद्देश्य जीवमात्र पर अपनी स्वाभाविक अहैतुकी कृपा की वर्षा करना था। जिस प्रकार एक छोटे-से घुटने के बल रेंगकर खेलते हुए बालक के साथ-साथ तरुण तथा वृद्ध व्यक्ति भी उसके सदृश चेष्टा में संलग्न हो जाता है, उसी प्रकार समस्त सांसारिक कामनाओं के बन्ध से मुक्त भी भगवान् केवल प्राणियों पर कृपा करने के तात्पर्य से लीलानिष्ठ होते हैं।

(२) तादृशीः। इस पद से भगवान् की लोकोत्तर चमत्कारविशिष्ट लीलाओं का संकेत किया गया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता प्राणिमात्र के अन्तःकरण की वृत्तियों को आकर्षित करने के रूप में थीं। सामान्य रूप से भी भगवान् की लीलाओं में एक अनूठा आकर्षण प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहता है। फिर विशेष लीलाओं के प्रवर्त्तन में समस्त जगत् को आकर्षित करने की शक्ति रहे तो क्या आश्चर्य है!

(३) (क) प्रथम अन्वय। भगवान् मनुष्य शरीर में स्थित होकर वैसी लीलाएं करते हैं कि समस्त प्राणी उन्हें सुनकर भगवत्परायण हो जाते हैं।[1]

(ख) द्वितीय अन्वय। यदि 'मानुषं देहमास्थितः' इस श्लोकांश को श्रीकृष्ण का विशेषण न मानकर जीव का विशेषण मानें तो अर्थ होगा कि मनुष्य देह को धारण करने वाले समस्त प्राणी

---

१. मानुषं देहमास्थितः (भगवान्) तादृशीः क्रीड़ाः भजते-याः श्रुत्वा (मनुष्यः) तत्परो भवेत्।

भगवल्लीलाश्रवण के अनन्तर भगवत्परायण हो जाते हैं।[1] यही भगवान् की इन विशेष लीलाओं का लोकोत्तर चमत्कार है।

(ग) तृतीय अन्वय। तृतीय प्रकार के अन्वय करने पर इसका अर्थ इस प्रकार होगा कि भगवान् ऐसी क्रीड़ा करते हैं कि जिनका श्रवण करके वे स्वयं अपनी ही लीलाओं के प्रति परायण हो जाते हैं।[2]

(४) भूतानां। यहां भूतानां तथा भक्तानां दो पाठभेद प्राप्त होते हैं। हमने अपने संस्करण में प्रथम पाठ स्वीकार किया है। इस पाठ से जगत् के समस्त प्राणियों का ग्रहण होता है। इसके द्वारा भगवान् की भगवत्ता तथा परमदयालुता का उत्कर्ष अभिव्यक्त होता है। क्योंकि भूत शब्द भक्त तथा अभक्त, मुक्त तथा मुमुक्षु, आस्तिक तथा नास्तिक सभी का ग्रहण करता है।

नासूयन्खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥३८॥

श्रीकृष्ण की माया से मोहित होकर, अपनी-अपनी स्त्रियों को अपने समीप मानते हुए व्रजवासियों ने श्रीकृष्ण के प्रति ईर्ष्या नहीं की।

(१) सैंतीसवें श्लोक में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हो चुका है कि भगवान् श्रीकृष्ण का इन लीलाओं के प्रवर्त्तन का उद्देश्य समस्त प्राणियों पर एक विशिष्ट अनुग्रहबुद्धि का संवलन था। इस पक्ष की आलोचना करने पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब लीलाओं का उद्देश्य सामान्य रूप से समस्त प्राणियों का ग्रहण करता है तो गोपरमणियों के साथ रासलीला यद्यपि उनके प्रति कृपाविशेष को भले ही अभिव्यक्त करे, किन्तु उन गोपों के प्रति तो अवश्य ही कृपा के भाव का वही स्तर श्रीकृष्ण में नहीं हो सकता। इसी प्रश्न के समाधान करने के अभिप्राय से प्रस्तुत श्लोक में उसका उत्तर सन्निहित है कि भगवान् की माया के प्रभाव से मोहित होकर गोपियों के पतियों ने श्रीकृष्ण के प्रति दोषबुद्धि नहीं की।

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ॥३९॥

तत्पश्चात् ब्राह्म मुहूर्त्त आ जाने पर वासुदेव का अनुमोदन पाकर भगवान् श्रीकृष्ण की प्रिय गोपियां इच्छा नहीं होने पर भी अपने-अपने घरों को चली गईं।

(१) (क) वास्तव में गोपसुन्दरियां तो श्रीकृष्ण के लिए समस्त सांसारिक बन्ध का त्याग करके इस लीला में प्रवृत्त हुई थीं। अतः केवल ब्राह्म मुहूर्त्त उनको अपने-अपने घर लौटने

---

१. मानुषं देहमास्थितः (मनुष्यः) तत्परो भवेत्।
२. (भगवान्) तादृशीः क्रीड़ाः भजते याः श्रुत्वा (स्वयं) तत्परो भवेत्।

के लिए निमित्त नहीं हो सकता था। फलतः लौटने का एकमात्र कारण श्रीकृष्ण का अनुमोदन प्रतीत होता है।

(ख) श्रीकृष्ण द्वारा गोपियों को लौटने की अनुज्ञा के अनुमोदन का यह अभिप्राय था कि प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त्त में श्रीकृष्ण सदा नन्द की सेवा में संलग्न रहते थे। इसी अपेक्षा से उन्होंने गोपियों को लौटने के लिए सानुनय संकेत किया था।

(ग) अनुमोदन पद से यह भाव भी प्रकट होता है कि इस लौटने के आग्रह में निकट भविष्य में पुनः मिलन का आश्वासन छिपा हुआ था।

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥४०॥

श्रद्धा से युक्त होकर जो धीर पुरुष व्रजवधुओं के साथ श्रीकृष्ण की इस क्रीड़ा का पुनः-पुनः श्रवण करेगा अथवा वर्णन करेगा, वह शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्ण में पराभक्ति[1] को प्राप्त करके हृदय के विकारभूत काम-रोग का तत्काल परित्याग करता है।

(१) यह प्रतिपादन किया जा चुका है कि रासलीला का उद्देश्य कामदेव पर श्रीकृष्ण का विजय प्राप्त करना था। अन्तिम श्लोक में यह बताया है कि रासलीला के श्रवणमात्र से भक्त के मन के सम्पूर्ण कामविकार नष्ट हो जाते हैं।

(२) श्रीकृष्ण के लिए यहां विष्णु शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रीकृष्ण के लिए विष्णु का प्रयोग कालिदास ने भी अपने मेघदूत में किया है।[2] अन्तिम श्लोक में विष्णु शब्द के प्रयोग द्वारा श्रीकृष्ण की व्यापकशक्ति की ओर संकेत किया गया है जिसके प्रभाव का निर्देश दो-दो गोपियों के बीच में श्रीकृष्ण द्वारा भिन्न-भिन्न रूप धारण करने के व्याज से किया गया है।[3]

श्रीरासपञ्चाध्यायी की सांस्कृतिक व्याख्या समाप्त

---

१. **पराभक्ति का यहां प्रेमाभक्ति से तात्पर्य है।**

२. **गोपवेशस्य विष्णोः।** मेघदूत पूर्वमेघ, १५।

३. **योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।** श्रीमद्भागवत महापुराण, १०, ३३, ३।

परिशिष्ट १

(लेखकाः—पण्डितश्रीरामप्रतापशास्त्रिणः)

(नागपुरविश्वविद्यालयीयसंस्कृतपालीप्राकृतादिविभागानां भूतपूर्वाध्यक्षाः)

कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यद् बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।
अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥

श्रीमद्भागवतम् १०, २९, २९ ।

न काचिन्नारीणां विषमदुरवस्थामपि गता त्यजेत्यग्रे दृग्जलकणमपीत्येष नियमः ।
कथं तन्मुञ्चामस्त्रिभुवनपतेरस्य पुरतस्ततस्तन्निह्नोतुं मुखततिमधस्ताद्विदधिरे ॥ १ ॥
मृदुप्रकृतिरच्युतो ननु कठोरचित्ता वयं निरीक्ष्य रुदतीः क्वचिद्युगपदेव नो दुःखिताः ।
अपारकरुणावशाद्द्रुतमना न रुद्यादयं ततो नु मुखमण्डलान्यवचकार गोपीजनः ॥ २ ॥

श्रुत्वाद्यास्य कठोरवाक्ततिमिमां दुःखाब्धिमग्ना वयं
पीडेयञ्च कुतोऽस्मदीयहृदये सञ्जायते दुःसहा ।
तत्किं दीर्णमभूदिदं हि सहसेत्यालोकितुं वा स्त्रियः
स्वीयान्याननपंकजानि विदधुः शोकेन नीचैस्तदा ॥ ३ ॥

त्वं नः स्वामी सेविकास्ते वयञ्च तत्ते वाचः श्रोतुमर्हा मुरारे ।
एतद्भावं दर्शयन्त्यः समन्तात् किं ताः सर्वा भेजिरेऽवाङ्मुखीत्वम् ॥ ४ ॥

शुकाचार्येण प्राक्कमलनयनोऽसौ निगदितो
वयं प्रोक्ताः सर्वाः सततमिह पूर्णेन्दुवदनाः ।
ततोऽसंख्यातेन्दूदयपिहितनेत्रः परिचिनो-
त्ययं नास्मानेवं किमिह विदधुस्ता मुखनतिम् ॥ ५ ॥
कृष्णोऽस्माकं न कटुवाक् सोऽयमेवान्य एव वा ।
इति संदिह्य निश्चित्य चिन्तया किं तथाभवन् ॥ ६ ॥
स्वत आगमनेऽस्माकं गर्वितोऽयमवाङ्मुखीः ।
उदासीनाश्च वीक्ष्यानुनेष्यतीति तथा व्यधुः ॥ ७ ॥
मैवं वाच्यं तूष्णीं भवेति किं ताः स्वचेष्टितेनैव ।
तत्कटुभाषणवारणकामा जाता अवाङ्मुख्यः ॥ ८ ॥
नास्मानेवं वदति परुषं तत्किमस्मद्भ्रमेणै-
वान्याः काश्चिद्वयमुपगता वस्तुतो वा वयं स्मः ।
इत्थं मुग्धाः सततमभितस्ता निजावेक्षणार्थं
गोप्यः किं वा झटिति विदधुः स्वीयवक्त्राण्यधस्तात् ॥ ९ ॥

एवं दशाश्रिता गोप्यः किं विधेयमतः परम् ।
प्रष्टुं निजनिजात्मानमिव जातास्तथाविधाः ॥१०॥
अस्मद्भालविलोकनादवगतां दृष्ट्वाशु दुर्भाग्यता-
मेवास्मानवमन्यते त्रपयते चैवं वदन् सर्ववित् ।
तन्नास्मै स्वविशालभालपटली संदर्शनीया पुन-
स्तस्मात्ता निजभालगोपनधिया वक्त्राण्यवाङ् चक्रिरे ॥११॥
गोलोकं प्रविहाय भक्तिभरतः कृष्णेन सार्धं पुनः
क्रीडार्थं भुवमागताः पुनरिहाभीरीषु जन्मादृतम् ।
वैगुण्यं त्वयि जन्मनैव वसुधे जातञ्च सर्वं वृथै-
तत्ता भर्त्सयितुं भुवं किमभवन्निम्नानना गोपिकाः ॥१२॥
आहूताः स्वयमेतेन संभाव्या अप्यनादृताः ।
इति रोषवशादेताः किं वा तस्थुर्नताननाः ॥१३॥
प्रेम्णास्य पत्यादिसमस्तबन्धूंस्त्यक्त्वा तृणत्याजमिहागताः स्मः ।
कुर्मः कथं कुत्र च याम एवं त्रपानतास्याः किमु ता बभूवुः ॥१४॥
अहो वयमिमां गताः परमशोचनीयां दशा-
मितो व्रजगताः कथं स्वमुखमीक्षयिष्यामहे ।
कथञ्च निजबन्धुवाक्शरतर्तिं सहिष्यामहे
त्रपाभरनतानना: किमिति चिन्तया वाऽभवन् ॥१५॥
किं वा वक्ष्यति मामियं सहचरी सा वा सखी किं वदि-
ष्यत्येषा कथमाचरिष्यति पुनर्दृष्टाधुना वाऽन्यदा ।
इत्यन्योन्यमपत्रपापरवशाः स्वस्वाननापह्नवे
व्यग्रास्ताः किमु गोपिकाः समभवन्निम्नाननास्तत्क्षणे ॥१६॥
दम्भैः सम्पुटितस्य वज्रकठिनस्यान्तस्य निःस्नेहिनः
कृष्णस्यान्तिकमागता झटिति धिग् धिग् योषितां चापलम् ।
आहूयैवमयञ्च सम्प्रति वचांसीदृंशि नः श्रावय-
त्येतद्वक्त्रमतो न दृश्यमिति तास्तादृग्दशा वाऽभवन् ॥१७॥
कृष्णस्वान्तमविक्षदस्मदुचितः कान्तोऽवहित्थागुणो-
स्माकं चेतसि चाविशन्मुररिपोर्दाक्षिण्यरूपो गुणः ।
अन्योन्याक्षिविलोकनाद्विनिमितान्योन्यस्वभावा वयं
तस्माल्लोचनगोपनार्थमिह वा जाता नतास्याः स्त्रियः ॥१८॥
दृष्ट्वास्मानभिमानलेशरहिताः कान्तेन चानादृताः
किं ब्रूयुः सुभगाः सुरादिवनिता एता विमानस्थिताः ।
एताभ्यः कथमाननानि सहसा संदर्शयामोऽधुने-
त्यासां काममपत्रपाभरनतान्यास्यान्यभूवंस्तदा ॥१९॥

त्यक्त्वा स्वरूपं श्रुतयोऽत्र रन्तुं कृष्णेन जाता भुवि गोपकन्याः।
सर्वं वृथाऽद्येत्यनुतापमाविष्कर्त्तुं तथासन्किमु निम्नवक्त्राः ॥२०॥
कृष्णोऽवतीर्णः क्षितिभारहृत्यै किं भारभूता वयमेव लब्धाः।
नाशाय यासां प्रथमं प्रवृत्तस्तत्प्रष्टुमुर्वीमिह ता नतास्याः ॥२१॥
शुष्यद्बिम्बौष्ठदर्शं नः कातर्यं माद्य वेत्त्वयम्।
इति तद्गोपनार्थं वा गोप्यो जाता नताननाः ॥२२॥
शुष्यद्बिम्बाधरजास्मन्मुखवैवर्ण्यदर्शनादस्य।
चेतसि न प्रादुःस्यादरुचिस्तस्मात्तथाऽऽसंस्ताः ॥२३॥
क्वास्मद्वम्यतमारुणाधरयुगं क्वैतच्च तुण्डीफलं
नाद्यावध्युपमानमस्य समभूत् किन्त्वद्य शुष्कं शुचा।
तद्बिम्बोपममुक्तमद्य मुनिना बिम्बेक्षणाच्च स्मृति-
भ्रंशः स्यादिति तस्य गोपनधिया गोप्योऽभवन् किं तथा ॥२४॥
वक्षोजाविव चोलिकावृततयोन्मीलन्महामाधुरी-
पूरेणैतदपि प्रियस्य मनसि प्रीतिं परां वर्धयेत्।
इत्थं शोकजदीर्घनिःश्वसनसुम्लानोऽधरो द्राक्षया
प्राप्तः साम्यमतोऽस्य गोपनधिया वाऽऽसन्नतास्याः स्त्रियः ॥२५॥
शोकोच्छ्वासैः सहास्माकं किं जीवोऽपि विनिर्गतः।
हृद्गतिं ज्ञातुकामास्ताः किं वा सर्वास्तथाऽभवन् ॥२६॥
अस्माकं हृदयाद् दृगास्यविवरैः शोकाग्निसंधुक्षिता-
न्निर्यान्तीभिरिहायतोष्णपवनज्वालाभिरावेष्टितः।
नायं तापमवाप्नुयादिति धिया गोपाङ्गनाभिस्तदा
क्षिप्रं ताभिरपाकृतानि भगवद्गात्रान्निजास्यानि तत् ॥२७॥
ध्येयं सदा परिभवघ्नमिति स्तुतं श्रीपादाम्बुजं परिभवार्त्तिहरं शरण्यम्।
नेदिष्ठमिष्टदमवाप्य निजापमानाद्युच्छेत्तुमङ्घ्रिनमनाय नतानना वा ॥२८॥
प्राणोद्गमः सह शुचः श्वसनैर्भवेत्तद्रोधाय वा किमभवन्वनिता नतास्याः।
वक्ष्यन्त्यनन्यगतिकत्वधिया वचोग्रे ध्यानेन याम पदयोरिति वा नतास्याः ॥२९॥
अस्यारुन्तुदवाक्यसन्ततिसमुद्भूतोग्रदुःखार्दिता
भ्रान्तस्वान्तविलोचना गतधियो मा वा पतेम क्षितौ।
इत्थं ता दृढमङ्घ्रिरोपणधिया भूमौ समस्ताः स्त्रिय-
स्तस्थुर्भूमितलं लिखन्त्य इति ता निम्नाननत्वं गताः ॥३०॥
नैवंविधानि परुषाणि वचांस्यनेन प्रोक्तानि पूर्वमयि मेदिनि देहि मार्गम्।
ह्रीताः क्षितेः खननकर्मणि दत्तचित्ता निम्नाननाः समभवन् किमु गोपवध्वः ॥३१॥
एतादृश्यान्यपि कटूनि वचांसि वक्तुं शक्तोऽयमत्र नहि कोऽपि जनः प्रतीयात्।
किन्त्वद्य वक्तुमयमुद्यत एवमस्मिन् साक्ष्यं भुवोऽर्थयितुमेव नतानना किम् ॥३२॥

आस्थान्यां चरणेन भूमिलिखनाद् भूमिप्रवेशात्मकात्
प्राप्तोऽस्त्यात्तिपरम्परामिह भवान् सीताचरित्रात्पुरा ।
सैवेयं स्थितिरागताद्य पुनरित्यासूचयन्त्योऽबला-
स्तस्युस्ताश्चरणेन भूमिलिखनव्यग्रा नतास्याः किमु ॥३३॥

अस्मत्तोधिकसौभगा क्षितिरियं धन्या बिभर्त्यादराद्-
या पादाब्जयुगं प्रियस्य सततं स्वाङ्केषु सर्वेष्वपि ।
काठिन्यं बहु भूमितोऽपि मनुते किं वास्मदङ्केष्वयं
पश्यन्त्यो भुवमेव तत्तुलयितुं जातास्तथा वा स्त्रियः ॥३४॥

अस्यासीद्धृदयं नितान्तमृदुलं हैय्यङ्गवीनादपि
प्रेष्ठोऽद्य क्षितिमप्ययं कठिनतावादेऽतिशेते कथम् ।
इत्थं विस्मितमानसाः क्षितितलन्यस्तेक्षणा गोपिका-
स्तद्याथार्थ्यविनिर्णयार्थमिव ता निम्नानना बाऽभवन् ॥३५॥

गोप्यो विलोलनयनाञ्चलपुण्डरीकप्रश्च्योतदश्रुमकरन्दरसप्रवाहैः ।
विष्वक् स्फुरन्मधुविलोभिमुरारिचञ्चत्चेतो महामधुपलोभमुदञ्चयन्ति ॥३६॥

वृष्ट्या बाह्यसहस्रदृग्रचितया त्रस्तो व्रजो रक्षितो
धृत्वा प्राग्गिरिराजमत्रभवता किन्त्वद्य तैरान्तरैः ।
संख्यातीतसहस्रदृग्भिरभितो वृष्ट्यार्दिते गोकुले
संजाते गृहभेद एव भवताप्येवं कथं स्थीयते ॥३७॥

एकेनैव पुरा सहस्रनयनेनोत्तापितो वर्षणैः
स्वक्रीडागिरिरुद्धृतो वयमपि त्रातास्त्वया सत्वरम् ।
दृक्साहस्रनिकामवृष्ट्यभिहतानस्मद्गिरीनद्य भो
नो धत्से न च रक्षसीह विकला अस्मान्न किं लज्जसे ॥३८॥

बाह्यौकाकिसहस्रदृग्विरचिताद्वर्षात्त्वयाश्वात्मनो
धृत्वैकं गिरिमेव केलिसदनं सर्वा वयं रक्षिताः ।
अद्यानेकसहस्रदृग्विरचिते वर्षे स्तनाद्रीनिमा-
नस्माकं न बिभर्षि चेद्वद कथं सम्भाव्यते रक्षणम् ॥३९॥

नाद्याप्यप्रियनिष्ठुराणि वचनान्यस्येदृशानि श्रुता-
नीत्युद्दीप्तशुगग्निदग्धहृदयस्फोटेन मा मृष्महि ।
इत्यस्रैर्मिलिताञ्जनैः स्वहृदयान्यासेक्तुमेता नता
दग्धे हि प्रथमं चिकित्सितमिह प्रोक्तं मषीलेपनम् ॥४०॥

यद्वा रुष्टे प्रेष्ठे मत्वा शृङ्गारमेव ता व्यर्थम् ।
नेत्राञ्जनकुचकुङ्कुमशोभामस्रैरपाकुर्वन् ॥४१॥

हृदयस्थः श्यामोऽस्मद्दुःखादस्रैरलं द्रुतो वहति ।
अस्रैः साकं त्वं पुनरत्र कठोरो न हि द्रवसि ॥४२॥

यद्वा सम्प्रति रुष्टे प्रेष्ठे शृङ्गारकल्पना व्यर्था।
इति ता रुष्टाश्चक्रुः स्तनयोरुभयोर्मषीलेपम् ॥४३॥
यदि वा वहद्भिरस्रैः श्यामैः स्यन्देत तारकाप्यक्ष्णोः।
द्रक्ष्यामस्त्वां कथमिह परिहर तत्प्रेष्ठ पारुष्यम् ॥४४॥
यद्वा बहिर्निमग्नाः श्यामे रागे यथा वयं नित्यम्।
मग्नास्तथान्तरङ्गेप्यमिते वर्णे हि सूचितं चास्रैः ॥४५॥
श्यामं श्यामतयैव सुन्दरतमं प्रेमातिरेकास्पदं
मत्वा प्रीतिमतन्महीह परमां किन्त्वद्य तन्निष्फलम्।
ज्ञाता वञ्चकतास्य नः समुदिता श्यामेष्वविश्वास्यता
नेत्रश्यामलताप्यतोऽश्रुनिवहैर्निःसार्यते किं रुषा ॥४६॥
वक्त्राणां नमनेन तत्र भगवत्सांमुख्यमन्तर्हितं
तासामश्रुभिरिन्द्रियव्यतिकरोऽप्यन्तर्हितः सत्वरम्।
पद्भिर्भूमिविलेखनेन च तिरोधानं तनूनामपि
क्लान्तान्तःकरणापवारणमलं शोकातिरेकादभूत् ॥४७॥
तासां कामरसोऽपि चान्तरदधाच्छोषेण बिम्बोष्ठयोः
कान्तिः कुङ्कुममार्जनादपगता रागो मषीलेपतः।
भूयो दुःखभरेण भावृतमभूत्तासां सुखं तत्क्षणात्
शुक्ष्वासैरसुपीडया च पिहितं दुःखञ्च मूर्च्छोदयात् ॥४८॥
तूष्णीं स्थित्वा सपदि युगपद्गोपसीमन्तिनीनां
निःशेषाणामनुमितमभूत्तत्र निश्चेतनत्वम्।
तेनैतासां निरुपकरणाज्जन्मसामग्र्यभावा-
न्निर्व्यापाराल्लय इव परे ब्रह्मणि व्यक्त आसीत् ॥४९॥

परिशिष्ट २

श्रीगोपीगीतरहस्यम्

(लेखकाः––पण्डितश्रीरामप्रतापशास्त्रिणः)

(नागपुरविश्वविद्यालयीयसंस्कृतपालीप्राकृतादिविभागानां भूतपूर्वाध्यक्षाः)

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥ १ ॥

श्रीमद्भागवतम् १०, ३१, १ ।

जयतीति । पूर्वाध्यायान्ते "तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः", "समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकांक्षिताः" इति चोक्तम् । तदेव गानं वर्णयितुं प्रक्रमते जयतीति । अहो वयमपि वेणुगानविमोहिता हठादाकृष्टा इव पूर्वं प्रेष्ठान्तिकमुपागतास्तथैव सोऽप्यस्मद्गानेनाकृष्टोवश्यमेवास्मत्सविधे समायास्यतीत्याशयेनैव ता गातुं प्रववृतिरे––हे कृष्ण ! इत्यध्याहार्यम् । ते तव जन्मना व्रजो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । गोपीगीतस्य सर्वोत्कर्षत्वान्मङ्गलाधायकत्वाच्च सर्वोत्कर्षवाचिना जयतिशब्देन तदारम्भः । व्रजन्त्यस्मिन्निवासार्थं गोपा इति व्रजो गोपनिवासस्थानं, गोचरसञ्चरवहव्रजेत्यादिना करणाधिकरणव्युत्पत्तौ घान्तो निपातितः । व्रजशब्देन तत्रस्था जना अपि लक्ष्यन्ते । तव जन्मना स्वेच्छया प्रादुर्भावेन व्रजो व्रजभूमिः भूर्भुवःस्वर्लोकादिप्रदेशेभ्यः सर्वेभ्यो ब्रह्मलोकपर्यन्तेभ्यश्चोत्कर्षेण वर्तते । यद्यपि तव नित्यविहारास्पदत्वात्सदैवायं व्रजः सर्वेभ्य एव भूरादिलोकेभ्यः सर्वोत्कर्षवानस्ति । अधुना तव जन्मना तु नूनमधिकं जयति। अधिकजयो वैकुण्ठादप्युत्कर्षं व्यञ्जयति । नहि वैकुण्ठे भगवानेवंविधं जन्मादायैवं लीलाः करोति । अतो वैकुण्ठः सर्वोत्कृष्ट एवास्ति । व्रजस्तु सर्वोत्कृष्टतम इति ज्ञेयम् । यद्यपि भगवतो मथुरापि जन्मस्थानं तथापि तत्र केवलं देवकीवसुदेवाभ्यामेव स्वरूपदर्शनमात्रमुपलब्धं न तु लीलादर्शनम् । अत्रत्यलीलादर्शनन्तु सर्वेषां ब्रह्मादीनामपि सुकरमतो व्रजस्यैव सर्वोत्कृष्टतमत्वमिति भावः । ननु मज्जन्मना व्रजस्य सर्वोत्कृष्टत्वं भवतीभिः कथं निर्धारितमिति चेच्छ्रूयताम्–वैकुण्ठेऽपि भगवतो नित्यविहारादिकं वर्तते किन्तु तावन्मात्रेण न वैकुण्ठस्य सर्वोत्कृष्टत्वं तदुत्कर्षस्य भगवदात्महितार्थत्वेन न सर्वलोकहितार्थत्वम् । अत्र तु भगवल्लीलानां निखिललोकहितार्थत्वं न त्वात्महितार्थत्वमेव । अत एव जयतीति परस्मैपदस्य प्रयोगस्ततश्चास्य सर्वलोकहितार्थलीलावत्त्वेन सर्वोत्कृष्टतमत्वं विद्यते ।

ननु व्रजस्य परमोत्कर्षे विद्यते किञ्चिदन्यदपि कारणमिति प्रश्ने पूर्वस्मादुत्कर्षाधिक्यान्तरद्योतनायाहुः श्रयत इति । अत्र व्रजे इन्दिरा सर्वसम्पदैश्वर्याधिष्ठात्री वैकुण्ठेश्वर्यपि निरन्तरं श्रयते । वैकुण्ठलीलानामैश्वर्यमिश्रमाधुर्यास्पदत्वेन नियन्त्रितत्वात् सङ्कुचितत्वादत्र तु निरर्गलं

माधुयकरसवर्षिलीलाश्रयत्वेनाकृष्टचेता रमा वैकुण्ठं परित्यज्य शश्वदेवात्र श्रयत इति वर्तते सर्वतोऽस्योत्कृष्टतमत्वम्। किञ्च भगवज्जन्मसमकालमेव नन्दव्रजे सर्वसम्पदैश्वर्याधिष्ठात्री लक्ष्मीः सर्वस्मादपि ब्रह्माण्डात् समाकृष्टेवागत्य नित्यां स्थितिं धत्ते। अतएव नन्दोत्सवे—"तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान्। हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप" इत्युक्तम्।

तदेवमीदृक्प्रभावशालिनि सर्वसौभाग्यसंभृते सर्वोत्कर्षविशिष्टेऽस्मिन् व्रजे सर्वेषामेव सौख्यस्य पराकाष्ठा ध्वन्यते; केवलं दुर्दैवोपहतानामस्माकमेवात्र परं दुःखमुपनतम्। यतः परमदयालुना प्राणवल्लभेनापि त्वया नैतज्ज्ञायते। इत्थञ्च नामग्राहं समाहूता अपि वयं परित्यक्ताः। तदधुना दयतामिति भावं व्यञ्जयितुं प्रार्थयन्ते दयितेति।

यद्वा अधिकमिति कं शिरोधिकृत्य सर्वधामशिरोमणितया जयति, एवं सर्वस्मिन्व्रजे आनन्दसंप्लवनिमग्ने सति व्रजवासिनीनां त्वदीयानामस्माकं दुःखं नोचितमित्याहुः दयितेति। अथ च अधि सर्वतः कं सुखं यथा स्यात्तथा जयति। हे दयित! प्राणवल्लभ! त्वयाऽधुना दृश्यताम्। शीघ्रमेव दर्शनं देहि। अर्थात् व्रजस्य सर्वोत्कृष्टविभवे सति सर्वानन्दमयत्वे च सति व्रजस्थानामस्माकमीदृशी शोचनीया दुखस्थितिः सर्वथाऽनुचितास्तीति त्वद्दर्शनं प्रार्थयामहे।

ननु किं तत्तादृशं दुःखं भवतीषूपनतं तत्राहुर्दिक्षिवति—वयं तावका भूत्वापि दुःखिन्यः स्मः। अथ च दिक्षु त्वां विचिन्वतेऽन्विष्यन्ति। एतेन बहुलपरिश्रमादिकं बहुलपरिभ्रमणं बहुदुःखानुभवश्च सूच्यते। वयं गोलोकवासिन्योऽतस्तावकास्त्वया स्वीकृतास्त्वदीयताभिमानवत्यः। अतएव विचिन्वते, अन्वेषणार्थं सपरिश्रमं बहुभ्रमणेन बहुदुःखमनुभवन्तीत्यर्थः। अतस्तावकत्वेनैवैतद्दुःखम्। अन्यथाऽन्यव्रजवासिनामिवास्माकमप्यनन्यसाधारणसौभाग्योत्कर्षोदयोऽवश्यमभविष्यत्। अयि दयित! ब्रह्मादयो देवास्तु तव दर्शनार्थमत्र व्रजे समायान्ति, व्रजस्थाः पुनरस्मदादयस्त्वां दिक्षु विचिन्वते इति हन्तास्माकमुपर्यनुग्रहार्थमवतीर्णस्य तव ब्रह्मादिभिरन्वेषणमुचितं, न तु व्रजवासिभिरिति दीपतले तमोन्यायापत्तिरिति त्वयैव विचार्यताम्।

ननु "युष्मासु तादृशी भक्तिर्नास्ति तत एवाहं तिरोहितः" इति चेत्तत्राहुः—त्वयि धृता असवः प्राणाः याभिस्त्वदर्थं धृता इति भावः। यदैव तव दर्शननैराश्यं तदैव ते त्यक्ष्यन्ते। यावत्त्वद्दर्शनाशा तावदेवास्मदसवः। तदाशाभङ्गे तु सद्य एव प्राणा निर्गमिष्यन्तीति तदात्व एवास्मन्मरणमिति निश्चीयताम्। अतस्त्वया दृश्यताम्। अत्र मार्जारदृष्टान्तः। अत्र वयमिति वा गोप्य इति पदाप्रयुक्त्या भगवता परित्यक्तत्वान्नष्टस्वाभिमानतया दैन्यात्तावका विचिन्वत इत्येवोक्तं न तु वयं त्वां विचिनुमह इति।

यद्वा ननु युष्मत्परीक्षार्थं तिरोहितेन मया ज्ञातं यन्नाद्यापि युष्मासु वास्तविकप्रेमोद्रेकः प्रादुरभवत्, दयितस्य मम दुःसहे विरहेऽपि भवतीनां जीवनस्याद्यापि विद्यमानत्वादिति दयितस्य विरहे दयिताः कथञ्चिदपि न जीवेयुर्नाम। तत्राहुः—त्वयीति। त्वयि निमित्ते धृता असवो याभिरिति त्वत्प्राप्त्याशयैव जीवामोऽतो मरणपर्यन्तं परीक्षाया अनुचितत्वमित्यर्थः। अथ च अस्मद्विरहे मृत्यावित्यर्थः, तवापि महद्दुःखं स्याद्दयितत्वात्तन्माभूदित्येतदर्थं जीवामः प्राणा धृताः सन्तीत्यर्थः।

यद्वा हे दयित, आगम्यतां शीघ्रं दृष्टिपथावतीर्णो भव, वयं तुभ्यमद्याप्यश्रुतचरमदृष्टपूर्वञ्चैकमाश्चर्यं दर्शयामः। किं तदिति चेच्छ्रूयताम्—त्वयि धृता न्यस्ता असवो यासां ताः सर्वथा

विगतासवोऽपि त्वां विचिन्वते इत्यहो महदाश्चर्यमेतत्वया दृश्यतामिति कौतुकवशात्कदाचिदय-मायास्यतीति गोपीनामपदेशोक्तिरियम् ।

यद्वा महादुःखानुभवेन परमसन्तापवत्योऽपि कथं न म्रियन्ते इति संशयिष्ठा इत्याहुः—त्वयि धृता अर्पिताः प्राणाः याभिस्ताः । यद्यस्माकं प्राणा अस्मास्वेवास्थास्यंस्तदा तेषु विरहानल-दग्धेषु वरमेतावत्क्षणे मृत्वा सुखिन्य एवाभविष्याम । त्वयि तु स्वनाथे महासुखिनि ते सुखमेवा-नुवर्त्तन्ते इति कथमसूनां सुखे सति देहा विपद्यन्ताम् । देहेषु च सत्सु तवास्मद्दुःखदर्शनात्मकं सुखं शाश्वतिकमेवेति भावः ।

ननु "कैतवरहितं प्रेम न हि तिष्ठति मानुषे लोके । यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवतीति को जीवेत्" इति शास्त्रेण दयितविरहे जीवनमशक्यमेवेत्यत्राहुः—त्वयि विषये धृता असवस्त्वन्न्यस्तत्वेन न नश्यन्तीति भावः । एवं यद्यसवोऽस्मासु तिष्ठेयुस्तदा न जीवेम । प्राणास्तु त्वत्समीपे वर्तन्ते । प्राणनाशमन्तरेण च देहनाशः कथं भवेत् ।

एवं च चकोरीणां चन्द्र इव त्वय्यैव धृतप्राणानामस्माकं त्वमेव जीवातुर्भव । अन्यथा "निषेव्य सरितां पत्युस्तटीः पक्षिगणाश्चिरम् । यत्पिबन्ति सरस्तोयं सैव लज्जा महोदधे"-रित्यभियुक्तोक्त्या तवैवापत्रपा स्यादिति । एवञ्च "विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्" इति न्यायात्त्वत्पालिताशालताछेदस्तव सर्वथाऽनुचितः ।

यद्वा त्वदेकजीवितानामस्माकं तव विरहेण प्रादुर्भूतो दुःखाग्निर्हृदये सन्धुक्षितोस्ति । ततो विरहदुःखाग्निदाहेन भस्मसान्न भवेयमिति भीतभीतोऽयं मृत्युश्येन एवास्मत्प्राणपक्षिणं न स्पृशतीति कृत्वा वयं जीवाम इति निर्धार्यताम् ।

यद्वा ननु सर्वेऽपि प्राणिनो मदीया एवेति भवतीनामेवात्र को विशेषः, यदेवं साग्रहं मद्दर्शनमभ्यर्थ्यते दयित दृश्यतामिति तत्राहुः—भो दयित, जानीमो वयं यत्सर्वेऽपि जनास्तावका एव । तथा सर्वैः सह "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि श्रुतिसिद्धं तव सखित्वमप्यस्ति तथापि तेषु स्वभ्रान्त्या नास्ति तथात्वाभिमानः । त्वद्गतप्राणानामस्माकन्तु विद्यते वस्तुत एव तादृशोऽभिमान इति सर्वज्ञे त्वयि किं वाच्यम् ।

यद्वा "सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वदा दास्य इति जन्मव्रतं मम" इत्यनुसारं "संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम् । मयानुमोदितः सोयं सत्यो भवितु-मर्हती"ति चीरहरणकालेऽस्मान्स्वीकृत्यात्मसात्कृत्य च "यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः" इत्येवञ्च प्रतिज्ञाय सम्प्रति तद्विरुद्धमाचरसि । "श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्" इत्येवं त्वां प्रपन्नानां 'तवास्मीति च याचते' इत्येतदर्थं 'श्यामसुन्दर ते दास्यः' इत्येवं याचमाना-नामस्माकं दूरे तावदास्तां प्रतिज्ञानुसारमभयदानं, किन्तु प्रथमं भवद्विरहदुःखं, ततो दिक्षु भ्रमणदुःखमेवं मार्गणदुःखमित्यहो दुःखपरम्पराऽस्मासूपनतेति किमेतदुचितं तवेति ।

अनभिज्ञापक्षे—यद्वा—हे दयित, ते जन्मना व्रजस्थः सर्वोऽपि जनोऽधिकं जयति । यद्दिनमारभ्यात्र तव जन्म जातं तद्दिनमारभ्य ब्रह्माण्डस्थेषु कस्माच्चिदपि व्रजवासिनां मध्ये कस्यापि पराजयो न जात इत्यहो व्रजस्यैश्वर्यम् । तथा इन्दिरा श्रीरप्यत्र निरन्तरं श्रयते । श्रयते या सा श्रीरिति व्युत्पत्त्या स्वनाम्नः सार्थक्यापादनाय सा व्रजमलङ्करोति । इन्दिरा-पदोपादानेन च परमैश्वर्योद्रेकं सूचयति । तत्रास्माकमेवेदृशी दशा नोचितेति भावः ।

किम्वा—गर्गाचार्येण "नारायणसमो गुणैः" इति भवज्जन्मपत्रे लिखितम्। तेन च तव नारायणसमता प्रत्यक्षमेवानुभूयते। यदि नारायणसम एव भवानत्र व्रजे समायातस्तर्हि तव नारायणसमतायां वाच्यायां व्रजस्य वैकुण्ठसमता स्वत एवोदेति। व्रजस्य वैकुण्ठत्वे च अस्माकं भगवद्विरहरहितानां वैकुण्ठवासिनां समता सिद्धचति। अतएव तव नारायणसमतया तव गुणैराकृष्टा कीदृग् जगदुत्तरं रूपं धृतं स्यादित्यवेक्षितुमागता रमाप्यत्रैव निरन्तरं निवासं कुरुते। निवासमात्रेणैव सा न संतुष्टा। सा महालक्ष्मीः शश्वन्निरन्तरं श्रयते व्रजं सेवत इत्यर्थः। श्रिञ् सेवायाम्। व्रजसेवां कुरुते। वैकुण्ठे तु सैव सर्वैरपि सेव्यते। अतो लक्ष्म्यापि सेव्यमानानां त्वत्प्रेयसीनामत्रालौकिकमहासुखपूर्णे व्रजे ईदृशं सर्वलोकादृष्टश्रुतचरपरमासह्यदुःखमित्याशयेनाहुः—हे दयित, त्वरितं दर्शनं देहि। वयं तावका न कथञ्चिदपीदृशदुःखार्हाः न च परिश्रमणमार्गणक्लेशयोग्याः। यदि वयं वैकुण्ठवासिसमास्तर्हि कथमस्माकमेतत्तव विरहदुःखमिति भवान् शीघ्रं दृश्यताम्। अन्यथा जन्मपत्रस्यासत्यत्वं प्रसक्ष्यतीति भावः।

यद्वा वैकुण्ठात्स्वप्राणेश्वरस्य तवेहावतारे तत्र तस्या मनोवलम्बाभावादत्रैव निरन्तरं श्रयते। ननु श्रीशब्दस्य शोभार्थत्वान्ममात्रागमने मत्प्रसादनाय व्रजं शोभयितुं श्रिता भवेदिति चेन्न—श्रयते इत्यात्मनेपदप्रयोगाच्छ्रयणफलस्यात्मगामित्वनियमाद् व्रजसम्बन्धेनात्मसौभाग्यातिशयायैव तस्या अत्र श्रयणम्। न तु व्रजशोभावृद्धचर्थं तत्। युक्तञ्चैतत्—यदा भवाँस्तत्स्वामी सच्चिदानन्दघनः परमेश्वरोऽपि जगदुत्तराद्भुतवात्सल्यशृङ्गारादिरसप्रादुर्भावेन व्रजजनोपकाराय व्रजं श्रयते तदा पतिव्रतायास्तस्यास्तदाश्रयणं तु सर्वथैवोचितमिति भावः।

यद्वा अस्या गीतेरन्य एवार्थः स यथा—मानिन्यो गायन्ति—हे दयित, तव व्रजो गोलोकवासिनीनामस्माकं जन्मना अधिकं जयति न तु तव जन्मनेति मा गर्वं वह। सर्वसौभाग्यैश्वर्यशालिनीनामस्माकं सम्बन्धेनैव व्रजस्यैवम्विधोत्कर्षप्रकर्षः। अतोऽस्मदपारसौभाग्यवैभवगुणगणाकृष्टा तावका वयमिति सपत्नीभावमाश्रितापि अस्मदुत्कृष्टगुणकणावर्जनेनात्मनोऽपि सौभाग्यादिसम्पत्तिलाभमभिवाञ्छन्तीयं श्रीरप्यत्रैव निरन्तरं श्रयते। अतस्तथाभूतानां तावकानामस्माकं चिरसंभृतान् भवत्प्रतिश्रुतांस्तांस्तान् मनोरथान् पूरयितुमेव तवाप्यत्राश्रयणम्। अतो व्रजस्य परमोत्कर्षैश्वर्यादिहेतुभूतास्तावकास्त्वां विचिन्वते इति स्वजनदुःखापरिज्ञानरूपं तवौदासीन्यं नोचितमिति भावः। न च तवास्माकञ्च साधारणः सम्बन्धः किन्तु "प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा' इति दयितपदसूचितः कोऽप्यनिर्वचनीयोऽसौ। अतएव त्वयि धृतासवस्त्वत्प्राप्त्याशयैव धृतजीवनाः स्मः। तन्निवृत्त्या तु मृतास्वस्मासु व्रजस्य तव च परमोत्कर्षादिकमपि नंक्ष्यतीति दृश्यतां भवानागत्यास्मान् पश्यतु। प्रादुर्भवेति भावः।

यद्वा यद्यपि तव जन्मना व्रजोऽधिकं जयति। यद्यपि श्रीरप्यत्रैव शश्वच्छ्रयते तथाप्येतत्सर्वं तवैश्वर्यं वृथैव जातम्। यतस्त्वयि धृतासवस्त्वदर्पितप्राणादयः (यद्वामार्थसुहृत्प्रियाप्ततनयप्राणाशयास्त्वत्कृते) तावकास्त्वां विचिन्वते, अद्यापि दुःखिता एव तिष्ठन्तीति सुहृदननुग्राहिकायाः परिपूर्णसमृद्धेर्वैयर्थ्यं भवता दृश्यताम्। तद्वैयर्थ्यपरिहाराय प्रत्यक्षीभूयतामिति भावः।

अपरोऽप्यस्यार्थो यथा—हे दयित, तव व्रजोऽस्माकं जन्मनाऽधिकं जयति। वयं सर्वा अपि श्रुतिरूपा गोप्यः समागत्य व्रजे प्रादुर्भूताः। अस्माकमत्र प्रादुर्भावेनैव हेतुना व्रजस्यायमुत्कर्षः। गोपीनां श्रुतिरूपत्वे चाभियुक्तोक्तिरपि प्रमाणम्। तथाहि—शिष्यं प्रति गुरुवचनं—

"निगमद्रुमे मृगय मा वृन्दाविपिने द्रुमे द्रुमे पश्य। यद्व्रजवनिता भूत्वा श्रुतिभिरिहैवावलोकितं ब्रह्म"। ततश्च सर्वासां श्रुतीनां धृतगोपीरूपाणामपूर्वं रूपसौभाग्यादिसम्पत्तिं द्रष्टुं श्रीरपि अत्र व्रजे शश्वच्छ्यते। अस्माभिः सह तव नित्यः सम्बन्धः। तवास्माभिर्वियोगः सर्वथा असम्भवः। यतो वयं तावकाः। त्वयि धृतासवश्च त्वत्स्थितप्राणरूपा इत्यर्थः। सर्वेषां वेदानां तवोच्छ्वसितरूपत्वेन त्वत्प्राणात्मकत्वम्। एतेन त्वयि धृता विद्यमाना ये असवः प्राणास्ते वयं वर्तेमहि। तादृशास्तावकास्त्वदभिन्नास्तव जीवनरूपा अपि त्वां विचिन्वते इत्यहो स्वजीवनत्वेन स्वीकृतासु तव जीवनभूतास्वप्यस्मासु कथं खलु तवेदृशं नैरपेक्ष्यमिति न जानीमः। अतो वयं त्वदीया असवः। अतस्तावकाः। ततोऽविलम्बं दृष्टिपथावतीर्णो भव। लोके तु जनाः असून् यत्नेन रक्षन्ति। अत्र चासवस्त्वां विचिन्वते। यावत्ते त्वया वियुक्ता नान्तर्दधीरंस्तावदेतानागत्य रक्षेति भावः। दृष्टिगोचरो भव।

यद्वा—अयि दयित! प्राणप्रिय! अस्माकं मनःकृतमानापराधेन हेतुना "तासां तत्सौभगमिदं वीक्ष्य मानञ्च केशवः" इत्युक्तरीत्या कुपितो भूत्वा स्वतिरोधानेनेमं महान्तं दुर्विषह्यं दण्डमुपकल्पितवान्। किन्तु भगवन्, मनसा कृतस्य मानापराधस्य फलं मनसैवोपभुज्यताम्। तच्च भवता प्रथमत एवापहृतम् "चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु" इति। अस्मद्दृग्भ्यान्तु किमपि नापराद्धम्। तेऽस्माकं दृशौ किमिति भवता दण्डिते यत्ताभ्यामेवं तिरोहितो भूत्वा दर्शनमपाकृतम्। न ह्येकस्यापराधेऽन्यः कश्चिद्दण्ड्यो भवति। महानयमन्यायः। तत्कृपयाऽऽविर्भव। इममेव भावं मनसिकृत्य ता ऊचुः—दयित दृश्यतामिति। दृष्टिगोचरो भव। नास्ति दृशोः कोऽप्यपराधः। मनस्तु त्वयापहृतमेव। तदेव दण्डनीयमासीद् यन्मानापराधि वर्त्तते। वयमपि च मनसस्त्वयापहृतत्वान्मनोरहितास्तावद्वर्त्तेमहि। अथापि तावकास्तत्रापि निरपराधाः। अथ चापहृतमनस्कत्वेऽपि देहमात्रेण त्वामन्वेष्टुं बहुपरिभ्रमणमार्गणजन्यमहापरिश्रमक्लान्तानामस्माकमुपर्य्यपि भूयान् दण्डो निपातित इति सूचयन्त्य इवाहुः—तावकास्त्वयि धृतासवः त्वयापहृतमनस्का अपि त्वदर्पितप्राणा नैवम् अन्यकृतापराधार्थे निरपराधा वयं दण्डार्हाः। दृशावपि निरपराधे स्तः। अतस्तव दर्शने जाते सति दृशोस्तृप्तौ तावकानां त्वद्गतप्राणानामस्माकमपि तृप्तिर्भवेत्। तव च निरपराधिदण्डनजन्यप्रत्यवायप्रायश्चित्तं स्यादिति निष्कर्षः।

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥२॥श्रीमद्भागवतम् १०,३१,२।

अत्र प्रतिश्लोकमन्योन्यनैरपेक्ष्येण विभिन्नयूथगा गोप्यो वदन्तीति सम्प्रत्यन्या आहुः शरदिति—अयि भगिन्यः, व्रजस्यैतादृशालौकिकोत्कर्षे लक्ष्म्याश्चात्र निरन्तरं निवासे सत्यपि नायमस्मभ्यं केवलं दुर्विषह्यं दुःखमेव ददाति यथा यूयं मन्यध्वे, किन्त्वयमस्माकं वधायापि तत्परोऽस्तीति न भवतीभिर्ज्ञातमित्याशयेनाहुः शरदिति—शरत्कालीनो योऽयमुदाशयो जलाशयस्तत्र साधु सम्यक्प्रकारेण जातं यत्सरसिजं कमलं तदुदरवर्त्तिनी या श्रीस्तामपि मुष्णातीति तादृश्या दृशा दृष्ट्या निघ्नतो वधं कुर्वतस्ते तव त्वया क्रियमाण इत्यर्थः। इह लोकेऽयं वधो न भवति किम्। शस्त्रेणैव वधो वधः, किं दृशा वधो वधो न भवति? अपि तु भवत्येव। उत्तमकाले (यदा वर्षाद्यभावे कापि बाधा नास्ति) जलदुर्गे महाप्राकारोदरान्तर्न्यस्तलक्ष्मीतुल्यमहाधनस्य हरणात्। अत ईदृशचौरेण वधोऽपि सुघट एवेति भावः। वस्तुतस्त्वेतेन दृशः परमसौन्दर्यमुक्तं भवति।

(अत्र प्रातर्विकसत्पद्मगर्भदलस्थभ्रमरादिसाम्येन दृशः शोभा वर्णनीया) दृशेति सुरतनाथेष्य-न्वयः—हे दृशैव सुरतनाथ ! दृष्टचैव सम्भोगयाचक ! "नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु" इति धात्वर्थात्। त्वयैवास्मासु सुरतेच्छा कारिता तत्र च हे वरदेति वरदानेन दृढीकृता चेति नास्माकं स्तोकोपि दोषः। अशुल्कदासिका इत्यस्माकन्तु प्रत्युत गुणा एव। भवतस्त्वशुल्कदासिका अपि निघ्नतो महानेवायं दोषः। तादृक् प्रोत्पादितेच्छापूर्त्तये सम्भोगसुखाप्रदानात् तादृग्वरदाना-नुसारमनाचरणात् (मयेमा रंस्यथ क्षपाः इति) वधदोषस्त्वय्येव सन्निधत्ते। एवं तस्मिन्नेव दोषार्पणाय चौर्यक्रियाभिनिवेशो दर्शितः। स च चौरेषु त्रिप्रकारको भवति। तथाहि—साधूनां महात्मनामपि सम्पत्त्यादानादतिनैष्ठुर्यम्, तथात्रोत्कटतमदोषस्यापरिगणनम्। अतिनिगूढपर-वस्तुस्थितिज्ञानम्। अतिदुर्लघ्यस्थललङ्घनञ्चेति। तत्राद्यः प्रकारः—सत्सरसिजेति पदेनोक्तः। शरदुदाशयेति पदेन च स्वच्छतादिगुणपूर्णस्य जनयितुः साधुता प्रशस्ता। साधुजातेति पदेन स्वजन्मनः श्रेष्ठत्वं सूच्यते। सदिति पदेनात्मनः स्वस्यापि गुणश्रैष्ठ्यं प्रशस्यते। द्वितीयश्च—महाजलान्तःस्थितसरसिजोदरे निलीनायास्तस्याः श्रियः परिज्ञानेनातितीक्ष्णदृक्प्रवेशेनातिनिगूढ-वस्तुस्थितिज्ञानं व्यज्यते। तृतीयश्च—वर्षानन्तरकालीनत्वादतिपूर्णस्य जलाशयस्य दुरवगाह-मध्यदेशस्थत्वेन सहस्रपत्रमयमहाप्राकारद्वाररक्षितस्य सरसिजोदरस्य केवलं दृशा दुर्भेद्यस्याप्य-न्तःप्रवेशत्वाद्दुर्लघ्यस्थललंघनञ्च सूच्यते। एवञ्च साधुजातानां सतां सरसिजानां साधुशीलानां सतामाजन्मतीर्थसेविनां श्रीहरणेनातिनैष्ठुर्यमिति त्रिप्रकारापि चौर्यक्रिया त्वयि वर्त्तते। एवञ्च त्वद्भयादेव तेन निगूह्यावस्थापितापि श्रीर्नायिका दृशा मुष्टेति तवैव महान्दोषो महातस्कर-शिरोमणित्वात्। परदारापहरणादाततायित्वदोषभाक्त्वञ्च। (अग्निदो गरदश्चैव शस्त्र-पाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः।) एवञ्चेदृशस्य चौरशिरोमणेर्नास्मद्वधो दुष्कर इति भावः। किञ्च तस्य सरसिजस्य द्विजत्वञ्चापि वर्तते ब्रह्मणोपि जनकत्वेनान्तः सूक्ष्मसूत्रोपवीतधारित्वेन "कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्चते" इति स्मृतिसंवादात्स्पष्ट-मेव। ततश्च द्विजभूतस्यास्य लक्ष्म्या अपहरणाद् ब्रह्मस्वापहारित्वं स्त्रीधनापहारित्वञ्चेति भवत आततायित्वमपि सिद्धम्। तत्रापि दृशेत्येकत्वेनैकयैव दृशापि वधसंभवात्, द्वाभ्यान्तु प्रलय एव स्यादिति भावः। अत्र श्लेषेण—एकयैव दृशाऽपाङ्गपातमात्रेणैव निघ्नतो वशी-कुर्वतः "अधीनो निघ्न आयत्तः" इत्यमरः, इत्यपि भावः।

यद्वा इत्थं शरदि तीर्थजलमध्ये आकण्ठमग्नाया बहुपत्रपुटनिर्मितकुटीरान्तःकृतालयाया अतएवैकान्तरतायाः पद्मासनस्थतया च सम्यग्योगिन्याः श्रियोऽपि संयोगिन्याः कान्ताया इव शफरीविहारदर्शनेन सौभरेरिव शफरीचपलदृग्विहारहारतया दृशैव सुरतनाथ सुरतसुखयाचक तथा तयैव याच्ञायाऽस्मदभिलाषवृद्धौ तया दृशैव सुरताशीःप्रद तथा वरदतया दृशैव पद्मराग-जलजनीलमणिप्रभतया शुल्करूपया मूल्यभूतया क्रीताः शुल्कदासिका नः तया दृशैव स्मर-शररूपया निघ्नतो विश्वासघातिनः किमिह वधो नास्ति।

यद्वा अशुल्कदासिकाः स्वयमेव मोहितास्त्वत्सेवार्थमागताः नः अस्मान् विरहेण निघ्नत-स्तव सम्मतो योऽस्मद्वधः स किमुक्तरीत्या चौरावतंसया कुसुमशरशरप्रधानभूतपद्मोदरगतश्री-हारया मनोरमासंख्येयरामामारया मारशराकारया दृशा इह न स्यात् ? अस्माकं वध एव यदि भवतोऽभिप्रेतस्तर्हि स दृशैव कर्त्तुं शक्यः, न तु विरहेणेति भावः।

यद्वा जारैरपि भामिनीनामपहार एव क्रियते न तु संहारः। कैश्चिदतिक्रूरैर्वधोपि चिन्त्यते चेत्सोपि संकेतितत्वेप्यप्राप्तानामेव। न त्वशुल्कदासिकानामाह्लानसमकालमेव समागतानाम्।

अपि च तादृश्या तव दृशापि निगूढाया अपि श्रियो मोषणमेव कृतं न तु वधस्तथा च तादृङ्निगूढश्रीमुषा दृशा स्वत आगतानां वने रहो विहरन्तीनामशुल्कदासिकानामस्माकं मोषणं न दुष्करमिति तदेवोचितमासीत्। यत्तु विरहेण वध इति तत् किं, तत् सर्वथानुचितमेवेद्धि भावः।

यद्वा अहो यो गुडदानेन म्रियते तस्मै विषं किमर्थं देयमिति लौकिकन्यायानुरोधेनेषदारक्तकटाक्षमात्रसाध्यास्मद्वधार्थं तिरोधानं सर्वथा व्यर्थमित्याशयेनाहुः शरदिति—शरत्कालीनो यः स्वच्छजलाशयस्तत्र साधु सम्यक् प्रकारेण जातं सत् समीचीनं यत्सरसिजं तदन्तर्वर्तिनी या श्रीरारुण्यादिशोभा तां मुष्णातीति तथा तादृश्या रोषेणेषद्रक्तया दृशा नेत्रेणाशुल्कदासिका नोऽस्मान् निघ्नतो मारयतस्तव त्वया क्रियमाणो ऽयमिह लोके किं वधो न भवति। किं विरहानलज्वालया वधो भवति। यतो हे सुरतनाथ! सुरतस्य संभोगस्य नाथ तत्प्रद! तादृशस्य तव रोषदृष्टचैव निरीक्षणेनास्माकं मरणं सुकरमिति भावः।

तथा चास्मद्दर्पनाश एव भवतः कर्त्तुं समीहितो न तु प्राणवियोगः। करुणानिधेरस्मदिष्टदेवस्य तद्विधाने प्रवृत्त्यसंभवात्। अतस्तन्माननिवृत्तिस्त्वीषद्रोषदृष्टचैव सुकरासीदतो वृथैव तिरोहितोऽसीति भावः।

यद्वा—ननु मया तु न कस्या अपि वधः क्रियते। भवतीभिः स्वयमेव म्रियते चेन्मम को दोष इति वृथैव मह्यमुपालम्भः प्रदीयते तत्राहुः—यथा कश्चिद्राजा स्वयं स्वहस्तेनाऽनिघ्नन्नपि नियतीकृतेन केनापि चौरेणैव कस्यापि वधं कारयेत्तदा स एव तद्वधजन्यदोषभाक् संजायते। एवमेव स्वयमनिघ्नतोपि चौरभूतयाऽत एव निर्दययाऽनया दृशैवास्मान्निघ्नतस्तवैवायं वधदोषः प्रसज्जत इति भावः।

यद्वा—वस्तुत ईदृश्या दृशा वधस्य सर्वथाऽसम्भवनीयतां प्रतिपादयन्ति—शरदिति। शरत्पदेन पद्मस्य जन्मकालश्रैष्ठ्यम्। उदाशयपदेन च जन्मस्थानस्योत्तमत्वम्। साधुतया—जातेति पदेन जन्मकारणानुगुण्यम्। सदिति पदेन चात्मनोऽपि श्रैष्ठ्यम्। एतादृशं यत्सरसिजं पद्मं पद्मालयालयस्तस्याप्युदरे तस्याप्यभ्यन्तरदलेषु वर्त्तमाना या श्रीस्तां मुष्णातीति तथा। तया शरत्सरोजान्तर्गर्भदलश्रीपराभवकारिण्या सानुरागयाऽरुणयाऽप्यतया तापोपशमनया परमाह्लाददायिन्याऽतिसुकुमारया दृशा वधकरणे सर्वथाऽनर्हयापि निघ्नतोऽशुल्कदासिका अपि नोस्मान् मारयतस्ते किमिह प्रेममार्गे वधो नास्ति? शस्त्रादिहननेनैव किं वधो भवति? प्रत्युत शस्त्रादीनां वधसाधनत्वात्तैर्वधो न तथा संतापको भवति, किन्तु तापापहरणक्षमपरमाह्लादकसानुरागविशालहृदयकारुण्यपूर्णसुकुमारया दृशा स्वप्नेप्यनभ्यस्तवधातिक्रूरकर्मया स्वभावपरित्यागेन तद्विरुद्धं वधाचरणं सुतरामेवातिनैष्ठुर्यद्योतकमिति भावः। अतएव हे सुरतनाथ, सुरतानां पूर्णानुरागवतामपि नाथ, उपतापक तथा वरद पूर्वं प्रतिज्ञातानपि "मयेमा रंस्यथ क्षपाः" इत्येवंरूपान् वरान् यति खण्डयतीति नूनं स्वभावत एवातिक्रूरोसि। अतएव साटोपमुक्तमभियुक्तैः "अटति भवानबलाकवलाय वनेषु न तत्र विचित्रम्। प्रथयति पूतनिकैव वधूवधनिर्दयबालचरित्रम्" इति। अतः स्वस्वभावानुसारेणैव स्त्रीवधकुतूहली त्वं स्त्रीवधेन चित्तानु-

रञ्जनमाकलयसीति नूनमशुल्कदासिकास्तव सेवार्थं स्वयमागता नो निहंसीति नास्ति किञ्चिदाश्चर्यास्पदं नाम।

मानिनीपक्षे—अस्मद्बोध्यमायैवानुनयं कर्तुं प्रवृत्तस्य तवायमभिप्रायस्तदानीमस्माभिर्नैव बुद्धः। अधुना त्वसंख्यातस्त्रीवधादपि भयशून्योऽन्तर्धानेन नो निहन्तुं प्रवृत्तोसीत्याशयेनाहुः—हे दृशा सुरतयाचक! (नाथ नाथ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु) न केवलं याचनेनानुनयनक्षमैव तव दृष्टिः किन्तु चौर्यकर्मदक्षाप्यस्तीति सूचनाय विशिषन्ति शरदिति—यथा चोरः सतामपि निगूढां कठिनदुर्गस्थामपि तत्रत्यपरमशोभाभूतां नायिकां हरति मुष्णाति तथा तवेयं दृगपि साधुजातोदरश्रीमुट्—तत्रापि ये दुर्गजातास्तेऽतिनिपुणा भवन्ति, न खलु येन केनापि वंचयित्वा वहिर्नेतुं शक्यास्तत्रापि जलदुर्गजाः (यतस्तत्सरसिजं भवति) येन केनापि दुरासदाः। तत्रापि ते नित्यं दुर्ग एव तिष्ठन्ति। तत्रापि मीनकूर्मनक्रमकरादिभिः भयङ्करैः ग्रहरिभिः सुरक्षिताः परिखाभिश्च सुवेष्टिताः। तत्रापि ते साधुजाताः स्वयंप्रभवः। एवमशक्यचौर्यास्ते वर्त्तन्ते। तेषामपि निभृतान्तःपुरस्थायिनीं, त्वद्भयादेव तत्र निगूह्य स्थापितां सहस्रपत्ररूपकपाटपिहितां प्राकारगर्भस्थायिनीमपि श्रियमपहरति। तादृशस्य दुर्गस्य च दृशा दुर्भेद्यत्वान्महानैपुण्यं चौर्यकर्मणि व्यज्यते। तदा नितान्तसरलानां व्रजवृन्दावनयोरितस्ततो निर्भयं भ्रमन्तीनां निष्प्राकाराणां रक्षकहीनानां विवृतश्रोत्रादिकपाटानामस्मादृशीनां मन आदिसर्वस्वहरणं किं चित्रमिति विचार्यताम्। यथा यथा च चौर्ये नैपुण्यं जायते तथा तथा घातकत्वमपि जायत इति नैव विस्मरणीयम्। अतो न वयं भवता मूल्येन क्रीताः। नापि विवाहिता अपि त्वशुल्कदासिका मोहिताः सत्यः स्वयमेवागतास्तस्मात्सुरतरूपवराशीःप्रदानेनास्मत्प्राणप्रत्यर्पणाय दृश्यतामित्याशयेनाहुः—हे सुरतनाथ! संभोगाशीःप्रद, हे वरद हे मनोरथपूरक शुल्कं मूल्यं विनैव क्रीताः सर्वपरित्यागेन त्वदेकशरणा अस्मान् निघ्नतो मारयतस्ते तव त्वया क्रियमाण इह वृन्दावने किं वधो नास्ति। लोके साधारणस्थलेऽपि जनो हत्यां न करोति, त्वन्तु इहापीति इहशब्दस्यार्थः। त्वं सर्वेभ्यो वरान् प्रयच्छसि। अस्मांस्तु मारयसीति महदद्भुतमिति भावः। ततश्च हे सुरतानां परमानुरागवतीनां नो नाथ, उपतापक! हे निजवरच्छेदक! अशुल्कदासिकाः परमप्रेमवतीः सखीनों निहंसि। अतो विश्वासघातकत्व-मित्रद्रोहित्वादिदोषपरिहारार्थं दृश्यतामागम्यतामिति भावः।

सहायकग्रन्थसूची

Agrawal, V.S. : Ancient Indian Flora in the Astadhyayi, The Palaeobotanist, 1: 61-65, 1952.

अग्रवाल, वासुदेवशरण, : हर्षचरित सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, १९५३ ।

अय्यर, स्वामिनाथ यू० वी०, : भागवतम्-चव्वैचूडवार, (तामिल कविता), तिरुमलै तिरुप्पदै देवस्थानम्, तिरुपति, १९४९ ।

Aiyer, A. K. Yegne Narayana : The Antiquity of some Field and Forest Flora of India, Bangalore, 1956.

उपाध्याय, बलदेव, : भागवत सम्प्रदाय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१० ।

ओझा, दशरथ तथा शर्मा दशरथ, : रास और रासान्वयी काव्य, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०१६ ।

Kane, P.V. : The Harshacharita, Bombay, 1918.

कोल्हटकर, यशवंत व्यङ्कटेश, : श्रीमद्भागवतादर्श (मराठी), पूना, १९२१ ।

कृष्णाचार्य, टी० आर०, : श्रीमद्भागवतम्, बम्बई, १९१६ ।

गोस्वामी, चिम्मनलाल, : रासपञ्चाध्यायी, गोरखपुर, सं० २०१५ ।

गोस्वामी, रूप, : उज्ज्वलनीलमणि, काव्यमाला संस्कृत सीरिज सं० ९५, बम्बई, १९३२।

गोस्वामी, रूप, : हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, अच्युत ग्रन्थमाला सं० ६, काशी, सं० १९८८ ।

गोस्वामी, श्यामलाल सिद्धान्तवाचस्पति, : श्रीमद्भागवतसन्दर्भ—जीवगोस्वामिप्रणीत, कलकत्ता, शकाब्द १८२२ ।

चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा, : वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६० ।

चतुर्वेदी, सीताराम, : कालिदासग्रन्थावली, काशी, सं० २००७ ।

Chaudhuri, H. P. : The Science of Plant life in India—past and present, Presidential Address, 19th Indian Science Congress, Bangalore, 1932, pp. 273–289.

Joshi, Rasik Vihari : Le rituel de la devotion Krsnaite, Pondichery, 1959.

De, S. K. : Early History of the Vaisnava Faith and Movement in Bangal, Calcutta, 1942.

तर्करत्न; पंचानन, : श्रीमद्भागवतम् (बंगाक्षर), कलकत्ता, बंगाब्द, १३१५।

तर्कवाचस्पति, पंडित तारानाथ, : शिशुपालवध, कलकत्ता, १८४७ ।

The Mango : Indian Council of Agricultural Research, New Delhi, 1957.

देवीभागवत महापुराण, : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९८२।

Nandkarni, K. M. : Indian Materica Medica, Bombay, 1954.

नम्बूदिरी, चंगालूर परमेश्वरन्—वैयक्कम् नीलकण्ठन्-कैप्पिल्लो भास्करन्, : श्रीमद्भागवतम् (मलयालम) दशमस्कन्ध का तृतीय भाग, गीताप्रेस, त्रिचुर, १९५६।

नायर, गोपाल पी०, : श्रीमद्भागवतम् (मलयालम) भावार्थकौमुदीव्याख्यासहितम्, कालिकट, १९४०।

पटेल, गोपालदास जीवाभाई, : श्रीमद्भागवतम् (गुजराती छायानुवाद), गुजराती विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९४९।

पद्मपुराण, : गुरुमण्डलग्रन्थमाला संख्या १८, भाग १–५, कलकत्ता, १९५८–५९।

पाठक, काशिनाथ पाण्डुरङ्ग, : मेघदूत, पूना, १९१६।

पाण्डे, वीणापाणि, : हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, १९६०।

पिल्लै, काबुंकल नीलकण्ठ, : श्रीमद्भागवतम् (मलयालम) क्विलोन, कोल्लवर्ष, ११३०।

Burnouf, Eugene : Le Bhagavatapurana, vols.1-5, Paris, 1840-98.

ब्रह्मचारी, नित्यस्वरूप, : श्रीमद्भागवतम्, वृन्दावन, सम्वत् १९६४।

ब्रह्मचारी, नित्यस्वरूप, : श्रीमद्भागवतम् (बंगाक्षर संस्करण) कलकत्ता, चैतन्याब्द ४२५।

ब्रह्मपुराण, : गुरुमण्डलग्रन्थमाला संख्या ११, कलकत्ता, १९५४।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, : गुरुमण्डलग्रन्थमाला संख्या १४, कलकत्ता, १९५५।

भट्ट नलिन० म०, : श्रीमद्भागवतविचारदर्शन, अहमदाबाद, १९५३।

Majumdar, G. P. : Vanaspati—Plants and Plant life as in Indian Treatises and Traditions, Calcutta, 1927.

Majumdar G.P., : The History of Botany and Allied Sciences in Ancient India (Archives internationales d' histoire des sciences) 14 : pp 100-130, 1951.

मजूमदार; सुबोधचन्द्र; : श्रीमद्भागवत (बंगाक्षर बंगानुवाद) कलकत्ता, बंगाब्द, १३६२।

मनुस्मृति, (अन्वर्थमुक्तावलीसंवलिता), लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

महाभारत, चित्रशाला प्रेस, पूना, १९२९।

Mukerjee, Radhakamal : The Lord of Autumn Moons, Bombay, 1957.

विष्णुपुराण, : गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् १९९०।

सरस्वती, स्वामी अखण्डानन्द, : गोपियों के पाँच प्रेम गीत, बम्बई, सं० २०१७।

सरस्वती, स्वामी हरिहरानन्द, : (करपात्री जी) श्रीभगवत्तत्व, काशी, सम्वत् १९९७।

सिद्धान्तकौमुदी, : शं० चन्द्रशेखर शास्त्री, त्रिचनापल्लि, १९११।

Siddhantabindn of Madhusudan Saraswati, : Gaekwad's oriental Sereis Vol. No. LXIV, Baroda, 1933.

Sinha, Purnendu Narayan : A Study of the Bhagavata Purana, Adyar, 1950,

स्नातक विजयेन्द्र : राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य, दिल्ली, सम्वत् २०१४।

स्वामी दयानन्द, : सत्यार्थविवेक, भारत धर्ममहामण्डल, काशी, सम्वत् १९१५ ।

शर्मा मोतीलाल : सांस्कृतिक व्याख्यानपञ्चक, राजस्थान वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान, जयपुर, सम्वत् २०१३ ।

शास्त्री, गणपति टी०, : नारायणीय, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज संख्या १८, त्रिवेन्द्रम, १९१२ ।

शास्त्री, गिरिजाशंकर मयाशंकर, : श्रीमद्भागवत (गुजराती अक्षर-गुजराती भाषान्तर), सस्तो साहित्य वर्धक कार्यालय, बम्बई, १९५३ ।

शास्त्री, प्रोफेसर रामप्रताप, : ईशाद्यष्टोपनिषदः, मथुरा, १९३७।

शास्त्री, प्रोफेसर रामप्रताप, : भ्रान्तिवादतिमिरभास्करः, नागपुर १९१५।

शास्त्री, महादेव, : गोपालतापिनी उपनिषद् (The Vaisnava Upanishads), Adyar १९२३ ।

शास्त्री, मानस जी, : रासपञ्चाध्यायी, हाथरस, १९५२ ।

शास्त्री, रामचन्द्र, : हरिवंश पुराण, पूना, १९३६ ।

शास्त्री, विश्वनाथ आचार्य, : कणादगौतमीयम्, अहमदाबाद, १९५३ ।

शास्त्रीकल्, शिवराम आर०, : श्रीमद्भागवतम् (तामिल-गद्य), कुम्भकोणम्, १९५० ।

श्रीभागवत दशमस्कन्ध, : भागवतचन्द्रचन्द्रिकया मुनिभावप्रकाशिकया च समन्वितम्, भाग १–२, मद्रास, १९१० ।

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, : भाग १–२, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०१३ ।

श्रीमद्भागवतरससंग्रह, : सत्संग मण्डल, नड़ियाद, सम्वत् २००७ ।

श्वेताश्वतरोपनिषद्, : गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २००९ ।

हलायुध कोष, : जयशंकर जोशी, सूचना विभाग, लखनऊ, सं० २०१४ ।

हरिवंश, : शंकर नरहरि जोशी, चित्रशाला प्रेस, पूना, १९३६ ।

हरिविलास, : लोलिम्बराज, काव्यमाला सीरिज सं० ११, बम्बई, सं० १८९५ ।

हिरियाना, एम०, : वेदान्तसार, ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९२९ ।

Hooker, J. D. : The Flora of British India, vols. 1-5, London, 1885.

विशिष्टपदसूची

अखण्डित, १२६
अग, ४१
अगमा, ६६, ३८, ४१
अघ, १२७
अच्युत, ५४, ६५, १०६, १५६, १८७
अज, ६२
अजड़, १५५
अतिस्पृहा, १५७
अध्यक्ष, २००
अधोक्षज, ५६
अन्तर्हिते, १०१
अन्तरङ्गशक्ति, ३४
अन्तरात्मदृक्, १४०
अनङ्ग, ४८
अनुव्रत, १७६
अप्रमेय, ६०
अयजस्य, ७०
अयोग, ३७, ४०, ४२
अयोगमा, ३७
अयोगमाया, ३६, ३८
अयौथिकी, ३२
अर्क, ११२
अर्चना, १७०
अरण्य, ८८
अरविन्दनेत्र, ८३
अरुण, ४५
अव्यय, ६०
अविद्या, ३३
अश्वत्थ, १०६
अशोक, १०८
अस्वर्ग्य, ७०
अज्ञान, ३३
आत्मरत, १२८
आत्माराम, ६५, १२६, १७३, १८६
आधार, ३१
आधिहन्, १५१
आप्तकाम, १७३, १६६
आयत, ६३
आलम्बन, ३१, ३३
आवेशरूप, ६०
आवृत्ति, १७७
आशीः, १७७
इन्दिरा, १३५
ईश, ८०, ८१, ८२
ईश्वर, १२६, १६७
ईश्वर-आत्मा, ८०
उच्चैः, १०५
उडुराज, ४३
उत्सव, १७६
उदार, ६५
उद्दीपन, ३१, ३३
उन्मत्तक, १०५
उपदेशपद, ८०
उपेक्षाभङ्गिमय, ६२
ऋषभ, १३६
ऋषिजा, ३२
ऋषिरूपा, ३२
ऐक्य, ६१
औपपत्य, ७१
ककुभ, ४६
कदम्ब, ११२
कल, ४७
कलमष, १४७
कलिन्द, १६८
कातर, ११८
कात्यायनीव्रत, २६
कान्त, ४६, ५७
कानन, १५४
काम, ६१
कामबीज, ६३, ७४
कितव, १५६
किशोर, ३०
कीर्तन, ७२
कुमुद, ४७

कुरबक, १०८
कुशल, ८३
केशव, १००, १३०
कृच्छ, ७०
कृष्णा, १६६
क्रोध, ६१
क्षण, ८७, ८८
कौमार, ३०
खलु, १४१
खेचर, १८६
गत्या, १०३
गतिविद, १५५
गदा, १८५
गदाधर, १८४
गान्धर्वी, १६५
गुण, ५६
गुणमय, ५६
गुणमाया, ३४
गुणात्मा, ६०
गुरुद्रुहः, १७३
गोपकन्या, ३२
गोपी, ३२
गोविन्द, ७२
चर्षणी, ४५
चित्शक्ति, ३४
चिन्ता, ७३
चूत, १११
चेष्टा, ६५
जड़, ७०, १५५
जार, ५५
जीव, ५७, २०१
जीवन, १४८
जीवन्मुक्त, १६८
जीवमाया, ३४
जीवात्मा, २०१
जुगुप्सित, ७१
तटस्थशक्ति, ३४
तदात्मिकाः, १०३, ११८
तदेकात्मरूप, ६०
तुलसी, १०६, ११६
तैजस, १६७
दयित, १३५
दर्शन, ७२
दान, ४२
दिवौकसाम्, १८०
दिव्ययुग, १७६
दिव्यवर्ष, १७६
दीर्घदर्शन, ४४, ४५
दुर्भग, ७०
देवकन्या, ३२
देवस्वरूपा, ३२
दौरात्म्य, १३२
ध्यान, ७२
नाग, १०८
नाथ, १३१, १५०
निर्गुण, ६०
नित्यसिद्धा, ३२, ६६
नीप, ११२
नृत्यमाना, १८३
न्यग्रोध, १०७
प्रगल्भता, १८५
प्रमदाः, १०३
प्रमा, ४१
पराशक्ति, ३४
परीक्षित्, ५७
प्रलाप, १६०
प्रहस्य, ६४
प्लक्ष, १०६
प्राची, ४५
प्रार्थनाभङ्गिमय, ६
प्राज्ञ, १६६, १६७
प्रिया, ११५
प्रियेक्षण, ६६
प्रीत, १७६
पुरुष, १६७
पुरुषभूषण, ६१
पुष्करेक्षण, १४५
पूर, ८५
पेश, ६२
पौगण्ड, ३०
फल्गु, ७०
बद्धबाहु, १७६
ब्रह्म, ५७, ५८
ब्रह्मन्, १६६
बहिरङ्गशक्ति, ३४
बिम्बफल, ७६
भगवान्, २६, ३१, ३३, १२६
भज, १४२

भय, ६१
भयावह, ७१
भूरिद, १४७
भ्रमरकीटन्याय, ३५
मनोरम, १०३
मन्वन्तर, १७६
मल्लिका, ३१
महाभागा, ६३, ६४
महाभुज, १३१
माधव, ११०, १३२
मान, ६६
मानिनी, १६३
माया, ३५, ३६, ३६, ४२
मायावृत्ति, ३४
मुनि, ५८
मुमुक्षु, ४२
मूर्त्ति, १०४
मेघचक्र, १८२
युगलार्थस्थापनामय, ६२
योग, ३५, ३६, ३७, ४०, ४१, ४२, ४३, १८०
योगमा, ४०
योगमाया २६,३३,३४,३५,३७,३८,३६,४०
योगा, ३६, ३८, ३६
योगेश्वर, १७०, १८०
योगेश्वरेश्वर, ६२
यौथिकी, ३२
रक्तकण्ठी, १८३
रतिप्रिया, १८३
रमण, १३१, १५३
रमापति, १०२
रागानुगा, ५१
रास, १७६
रासलीला, १७६
लीला, १०४
वनमाला, ६७
वरद, १३७
वामदृक, ४८
वास्तविकार्थमय, ६२
विबुधायुषा, १७५
विप्रलब्धा, ५४
विपर्यय, ५१
विभाव, ३१
विभुः, १६८
विभ्रमः, ५१, १०२
विलासरूप, ६०
विश्व, १६७
विषण्ण, ७२
विहरणम्, १४६
वैजयन्तीमाला, ६७
वृजिनार्दन, ६१
सखे, ८६, १३१
सदयम्, ६५
संधिनी, ३३
सन्निधि, ७२
संवित्, ३३
समेताभिः, ६५
स्वयंरूप, ६०
स्वरति, १६३
स्वरूपशक्ति, ३४
सहसैव, १०२
साधनसिद्धा, ३२, ५३
स्वामी, ८२
स्वांशरूप, ६०
स्त्रीरत्न, १७६
सुख, ८४
सुमध्यया, ६४, ६५, १७२
सुव्रत, १९६
स्नेह, ६१
सौहृद, ६१, १७२
शिव, १८६
शील, ६६
श्रवण, ७०, ७१
श्रीकृष्ण, ८१, ६०, १२५, २००, २०१
श्रीप्रिया, १२५
श्रुतिरूपा, ३२
हरि, १२६
हृच्छय, ८५
हृषीकेश, ५६
ह्लादिनी, ३३, ३६

श्लोकानुक्रमणी

अथवा मदभि–, १, २३, पृ० ६८
अत्रावरोपिता, २, ३३, पृ० १२८
अनयाऽऽराधितो, २, २८, पृ० १२६
अन्तर्हिते, २, १, पृ० १०१
अन्विच्छन्त्यो, २, ४१, पृ० १३१
अनुग्रहाय, ५, ३७, पृ० २०१
अन्तर्गृहगताः, १, ६, पृ० ५३
अटति यद्भवा–, ३, १५, पृ० १५४
अपरानिमिषद्, ४, ७, पृ० १६५
अप्येणपत्न्युपगतः, २, ११, पृ० ११४
अस्वर्ग्य-, १, २६, पृ० ७०
आप्तकामो, ५, २६, पृ० १६६
आरुह्यैका, २, २१, पृ० १२०
आहूय दूरगा, २, १८, पृ० १२०
इति गोप्यः, ४, १, पृ० १६०
इति विक्लवितं, १, ४२, पृ० ६४
इति विप्रिय-, १, २८, पृ० ७२
इत्थं भगवतो, ५, १, पृ० १७८
इत्युन्मत्त–, २, १४, पृ० ११८
इत्येवं, २, ३६, पृ० १२६
इमान्यधिक-, २, ३२, पृ० १२७
ईश्वराणां वचः, ५, ३२, पृ० १६७
उक्तं पुरस्तात्, १, १३, पृ० ५८
उच्चैर्जगुर्, ५, ६, पृ० १८३
उपगीयमान, १, ४४, पृ० ६६
एका भ्रकुटि, ४, ६, पृ० १६५
एवं कृष्णं, २, २४, पृ० १२२
एवं परिष्वङ्ग, ५, १७, पृ० १८८
एवं भगवतः, १, ४७, पृ० ६६
एवं मदर्थोज्झित, ४, २१, पृ० १७४
एवमुक्तः, २, ३६, पृ० १३०
एवं शशांकांशु, ५, २६, पृ० १६४
कच्चित् कुरबकाशोक, २, ६, पृ० १०७
कच्चित्तुलसि, २, ७, पृ० १०८
कर्णोत्पलालक, ५, १६, पृ० १८७
कस्याः पदानि, २, २७, पृ० १२५
कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः, २, १५, पृ० ११८
कस्याश्चित् स्वभुजं, २, १६, पृ० १२०
कस्याश्चिन्नाट्य, ५, १३, पृ० १८६
काचित्करास्बुजं, ४, ४, पृ० १६३
काचिदञ्जलिना, ४, ५, पृ० १६४
काचिद्रास, ५, ११, पृ० १८४
काचित्समं, ५, १०, पृ० १८४
कामं क्रोधं, १, १५, पृ० ६१
का स्त्र्यङ्ग ते, १ , ४०, पृ० ६२
किं ते कृतं, २, १०, पृ० ११३
किमुताखिल, ५, ३४, पृ० १६८
कुर्वन्ति हि, १, ३३, पृ० ८३
कुशलाचरितेनैषामिह, ५, ३३, पृ० १६८
केशप्रसाधनं, ५, ३४, पृ० १२८
कृत्वा तावन्त, ५, २०, पृ० १८६
कृत्वा मुखान्यव, १, २६, पृ० ७३
कृष्णरामायिते, २, १७, पृ० ११६
कृष्णविक्रीडितं, ५, १६, पृ० १८६
कृष्णं विदुः, १, १२, पृ० ५७
गत्यानुराग, २, २, पृ० १०२
गतिस्मित, २, ३, पृ० १०३
गायन्तमुच्चै, २, ४, पृ० १०४
गोपीनां तत्पतीनाञ्च, ५, ३५, पृ० २००
गोप्यो लब्ध्वा, ५, १५, पृ० १८६
गोप्यः स्फुरत्, ५, २२, पृ० १६०
चलसि यद्, ३, ११, पृ० १४६
चित्तं सुखेन, १, ३४, पृ० ८४
चूतप्रियाल, २, ६, पृ० ११०
जयति तेऽधिकं, ३, १, पृ० १३५
ततश्च कृष्णोपवने, ५, २५, पृ० १६३
ततो गत्वा, २, ३८, पृ० १३०
ततो दुन्दुभयो, ५, ५, पृ० १८०
ततोऽविशन्, २, ४३, पृ० १३२
तदङ्गसङ्ग, ५, १८, पृ० १८८
तद्दर्शनाह्लाद, ४, १३, पृ० १६६
तदोडुराजः, १, २, पृ० ४३
तद्यात मा चिरं, १, २२, पृ० ६७
तत्रातिशुशुभे, ५, ७, पृ० १८१

तत्रैकांगगतं, ५, १२, पृ० १८५
तत्रारभत, ५, २, पृ० १७६
तत्रैकोवाच, २, २२, पृ० १२१
तत्रोपविष्टो, ४, १४, पृ० १७०
तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन, १, ३८, पृ० ६१
तन्मनस्का, २, ४४, पृ० १३३
तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण, ४, ८, पृ० १६५
तं विलोक्यागतं, ४, ३, पृ० १६२
तमेव परमात्मानं, १, ११, पृ० ५५
तया कथित, २, ४२, पृ० १३२
तव कथामृतं, ३, ६, पृ० १४७
तस्या श्रमूनि, २, ३०, पृ० १२७
ताभिर्युतः श्रम, ५, २३, पृ० १८१
ताभिविधूत, ४, १०, पृ० १६७
ता दृष्ट्वान्तिक, १, १७, पृ० ६२
ताभिः समेताभि, १, ४३, पृ० ६५
ता वार्यमाणाः, १, ८, पृ० ५२
ताः समादाय, ४, ११, पृ० १६८
तासां तत्सौभगमदं, १, ४८, पृ० ६६
तासामतिविहारेण, ५, २१, पृ० १६०
तासामाविरभूत्, ४, २, पृ० १६२
तैस्तैः पदैस्तत्, २, २६, पृ० १२४
दिनपरिक्षये, ३, १२, पृ० १५०
दुःसहप्रेष्ठ, १, १०, पृ० ५४
दुःशीलो दुर्भगो, १, २५, पृ० ६६
दुहन्त्यो, १, ५, पृ० ४६
दैत्यायित्वा, २, १६, पृ० ११६
दृष्टो वः, २, ५, पृ० १०६
दृष्टं वनं, १, २१, पृ० ६६
दृष्ट्वा कुमुद्वन्त, १, ३, पृ० ४६
धर्मव्यतिक्रमो, ५, ३०, पृ० १६७
धन्या अहो ! २, २६, पृ० १२६
न खलु गोपिका, ३, ४, पृ० १३६
न चैवं विस्मयः, १, १६, पृ० ६१
नद्याः पुलिन, १, ४५, पृ० ६८
न पारयेऽहं, ४, २२, पृ० १७४
न लक्ष्यन्ते, २, ३१, पृ० १२७
नासूयन्खलु, ५, ३८, पृ० २०२
नाहं तु सख्यो, ४ , २०, पृ० १७३
निशम्य गीतं, १, ४, पृ० ४८
नैतत् समाचरेत्, ५, ३१, पृ० १६७
नृणां निःश्रेयसार्थाय, १, १४, पृ० ६०
नृत्यन्ती गायती, ५, १४, पृ० १८६
पतिसुतान्वय, ३, १६, पृ० १५५
पदानि व्यक्त, २, २५, पृ० १२२
परिवेषयन्त्यस्, १, ६, प० ५०
प्रणतकामदं, ३, १३, पृ० १४३
प्रणतदेहिनां, ३, ७, प० १४३
प्रहसितं प्रिय, ३, १०, प० १४८
प्रेष्ठं प्रियेतर, १, ३०, पृ० ७७
पादन्यासैः, ५, ८, पृ० १८२
पुनः पुलिन, २, ४५, पृ० १३४
पृच्छतेमा, २, १३, पृ० ११७
बद्धान्यया, २, २३, पृ० १२१
ब्रह्मरात्र उपावृत्ते, ५, ३६ पृ० २०२
बाहुप्रसार, १, ४६, पृ० ६८
बाहुं प्रियांस, २, १२, पृ० ११५
भगवानपि, १, १, पृ० २६
भजतोऽनुभवत्येक, ४, १६, पृ० १७१
भजतोऽपि न वै, ४, १६, पृ० १७२
भजन्त्यभजतो, ४, १८, पृ० १७२
भर्तुः शुश्रूषणं, १, २४, पृ० ६६
मधुरया गिरा, ३, ८, पृ० १४५
मातरः पितरः, १, २०, पृ० ६५
मा भैष्ट, २, २०, पृ० १२०
मालत्यदर्शि, २, ८, पृ० १०६
मिथो भजन्ति, ४, १७, पृ० १७१
मैवं विभोऽर्हति, १, ३१, पृ० ७८
यत्पत्यपत्य, १, ३२, पृ० ८०
यत्पादपंकज, ५, ३५, पृ० १६६
यत्ते सुजात, ३, १६, पृ० १५८
यं मन्येरन्, ५, ४, पृ० १८०
यर्ह्यम्बुजाक्ष, १, ३६, पृ० ८७
रजन्येषा, १, १६, पृ० ६४
रहसि संविदं, ३, १७, पृ० १५६
रासोत्सवः, ५, ३, पृ० १७६
रेमे तया, २, ३५, पृ० १२८
लिम्पन्त्यः, १, ७, पृ० ५०
वलयानां, ५, ६, पृ० १८१
व्यक्तं भवान्, १, ४१, पृ० ६३
विक्रीडितं, ५, ४०, पृ० २०३
विरचिताभयं, ३, ५, पृ० १४१
विषजलाप्ययाद्, ३, ३, पृ० १३६
वीक्ष्यालकावृत, १ , ३६, पृ० ६१
व्रजजनार्त्तिहन्, ३, ६, पृ० १४२
व्रजवनौकसां, ३, १८, पृ० १५७
स कथं धर्म, ५, २८, पृ० १६५
सभाजयित्वा, ४, १५, पृ० १७०

सर्वास्ताः, ४, ६, पृ० १६६
संस्थापनाय, ५, २७, पृ० १६५
सा च मेने, २, ३७, पृ० १२६
स्वगतं वो, १, १८, पृ० ६३
सिञ्चाङ्ग नः, १, ३५, पृ० ८५
सुरतवर्धनं, ३, १४, पृ० १५३
सोऽम्भस्यलं, ५, २४, पृ० १६२
शरच्चन्द्रांशु, ४, १२, पृ० १६८
शरदुदाशये, ३, २, पृ० १३६
श्रवणाद्दर्शनात्, १, २७, पृ० ७१
श्रीर्यत्पदाम्बुज, १, ३७, पृ० ८६
हा नाथ रमण, २, ४०,पृ० १३१

मृदङ्गबन्ध

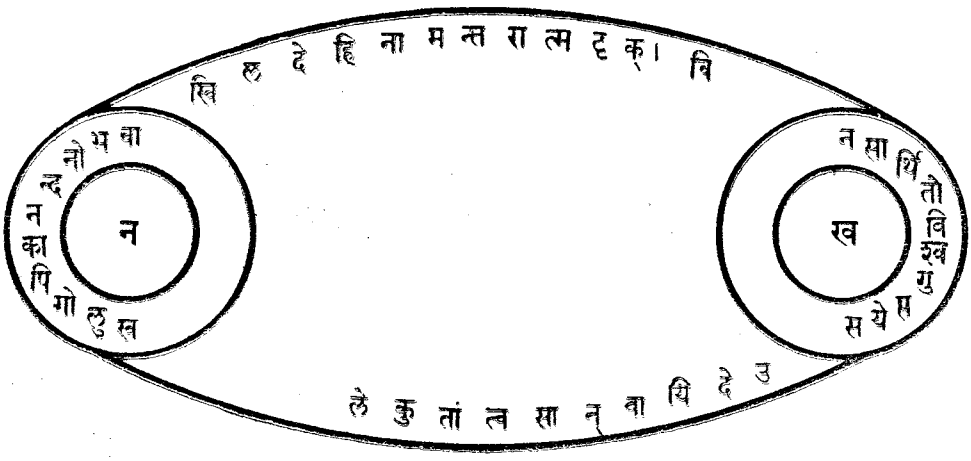

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, ४

चतुर्दलपुष्पबन्ध

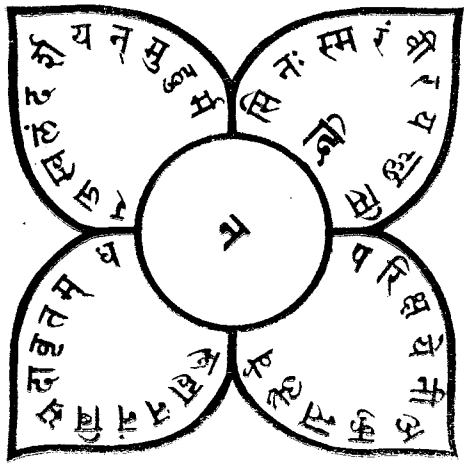

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, १२

मुरजबन्ध

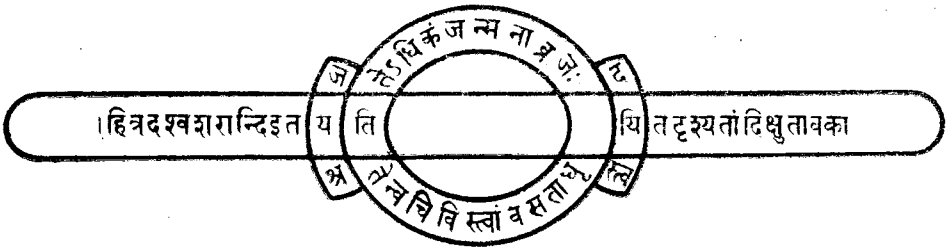

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, १

पद्मबन्ध

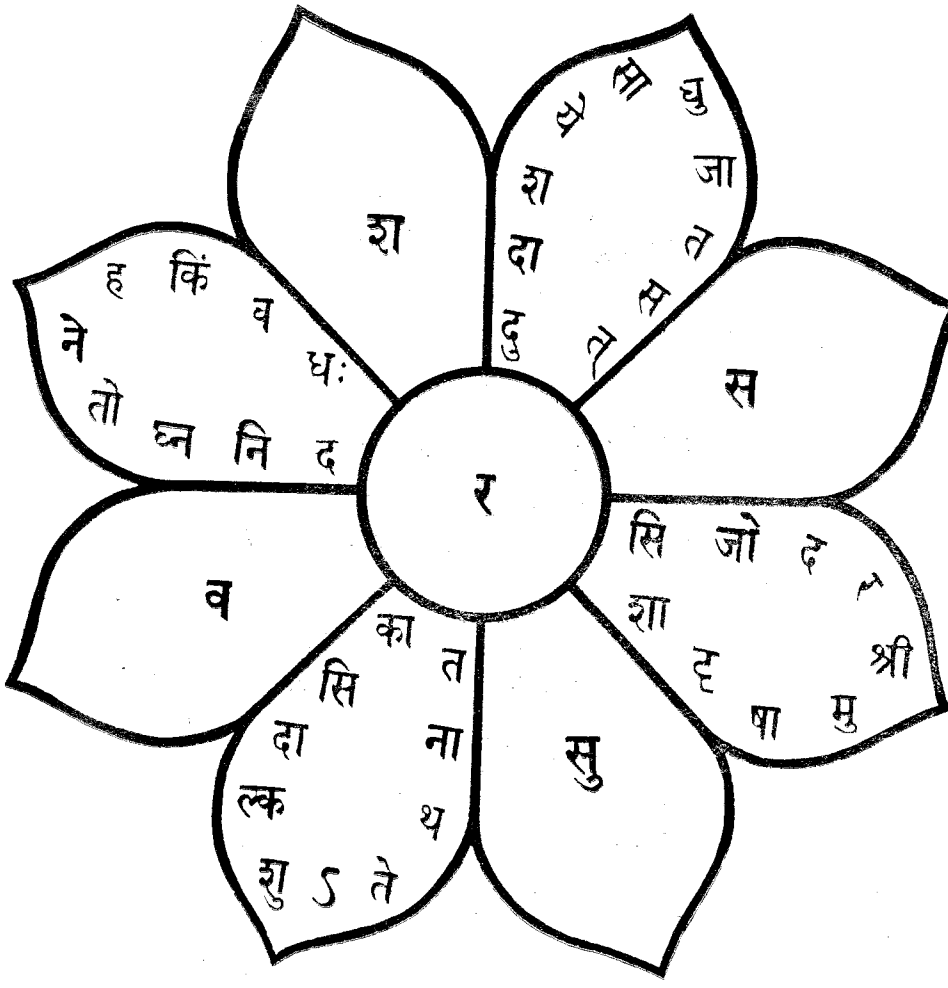

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, २

पद्मबन्ध

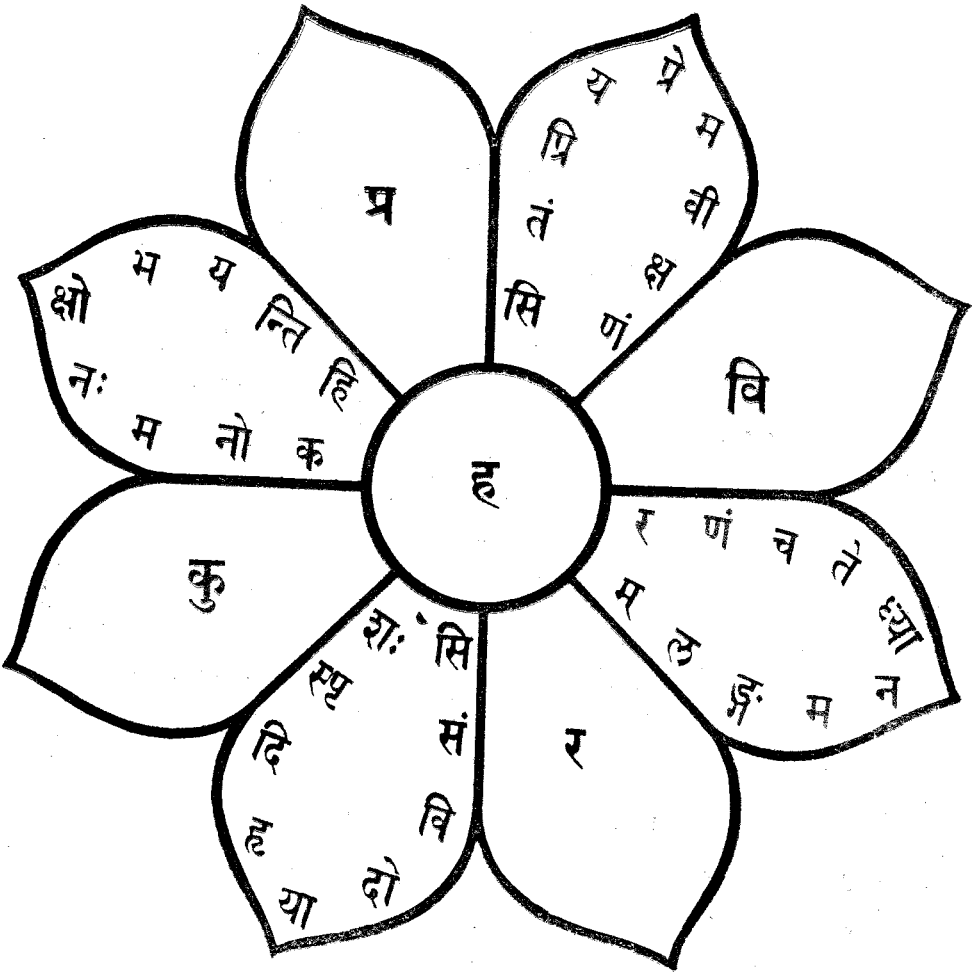

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, १०

मुरजबन्ध

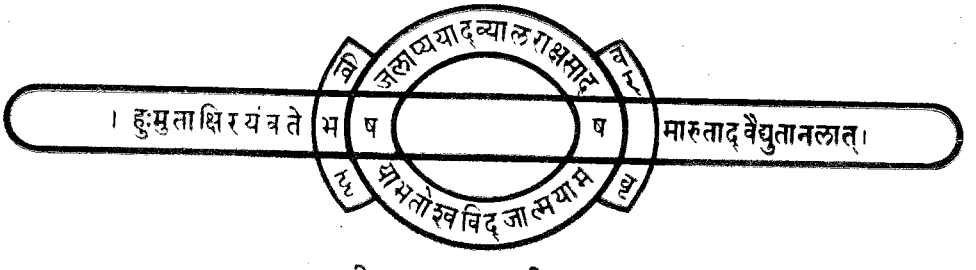

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, ३

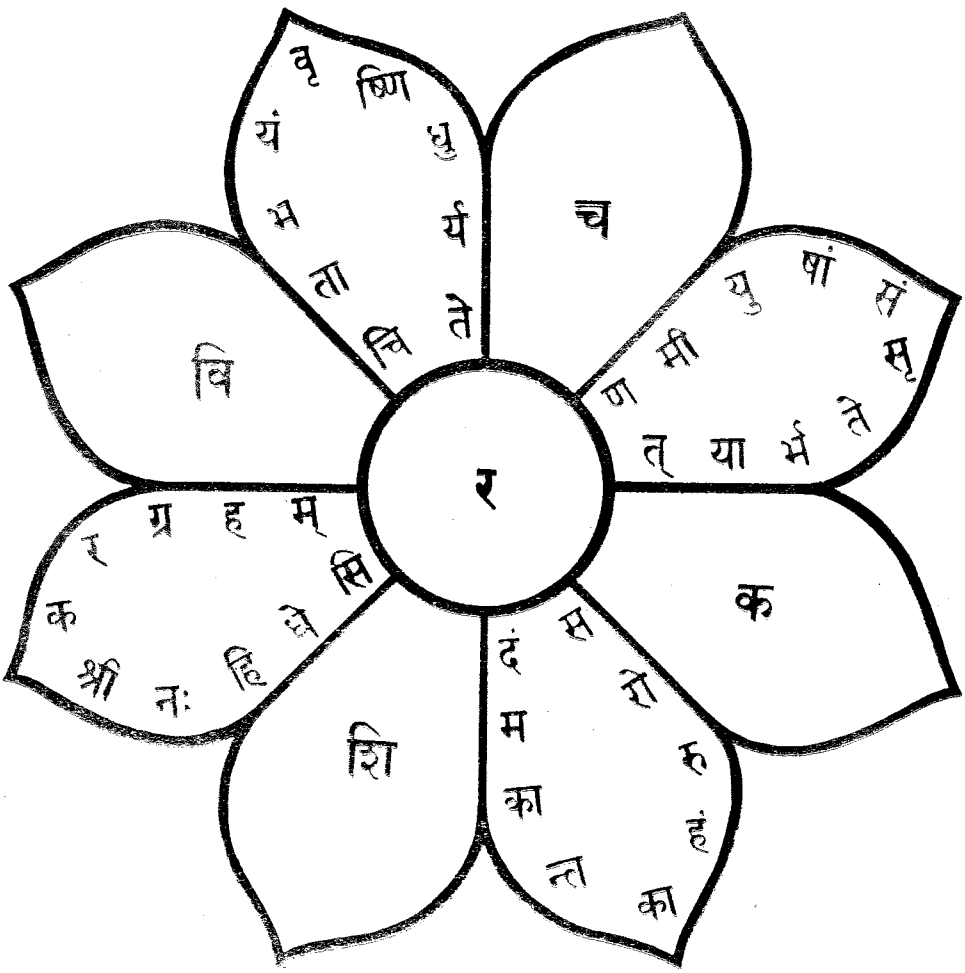

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, ५

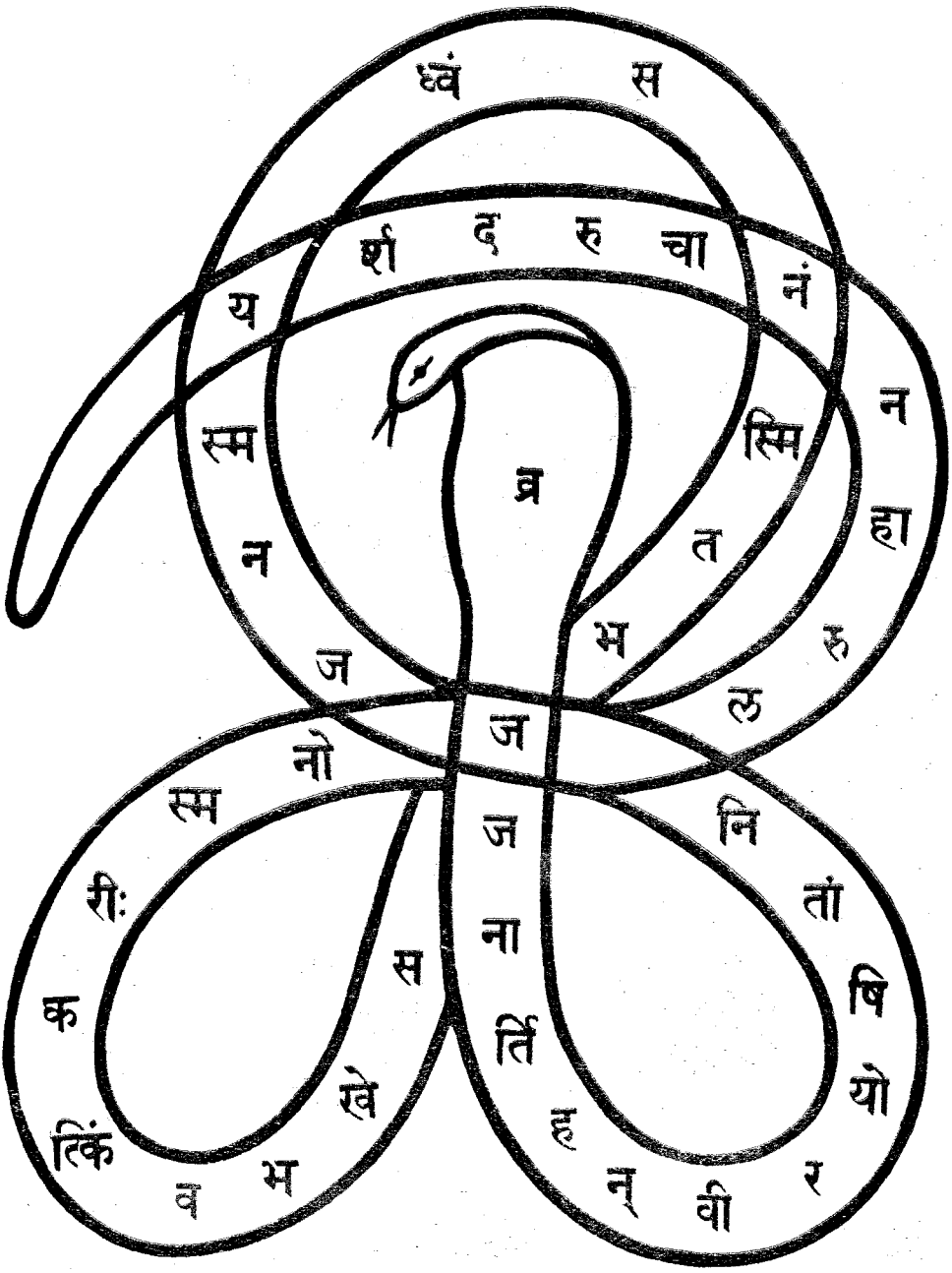

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, ६

नागबन्ध

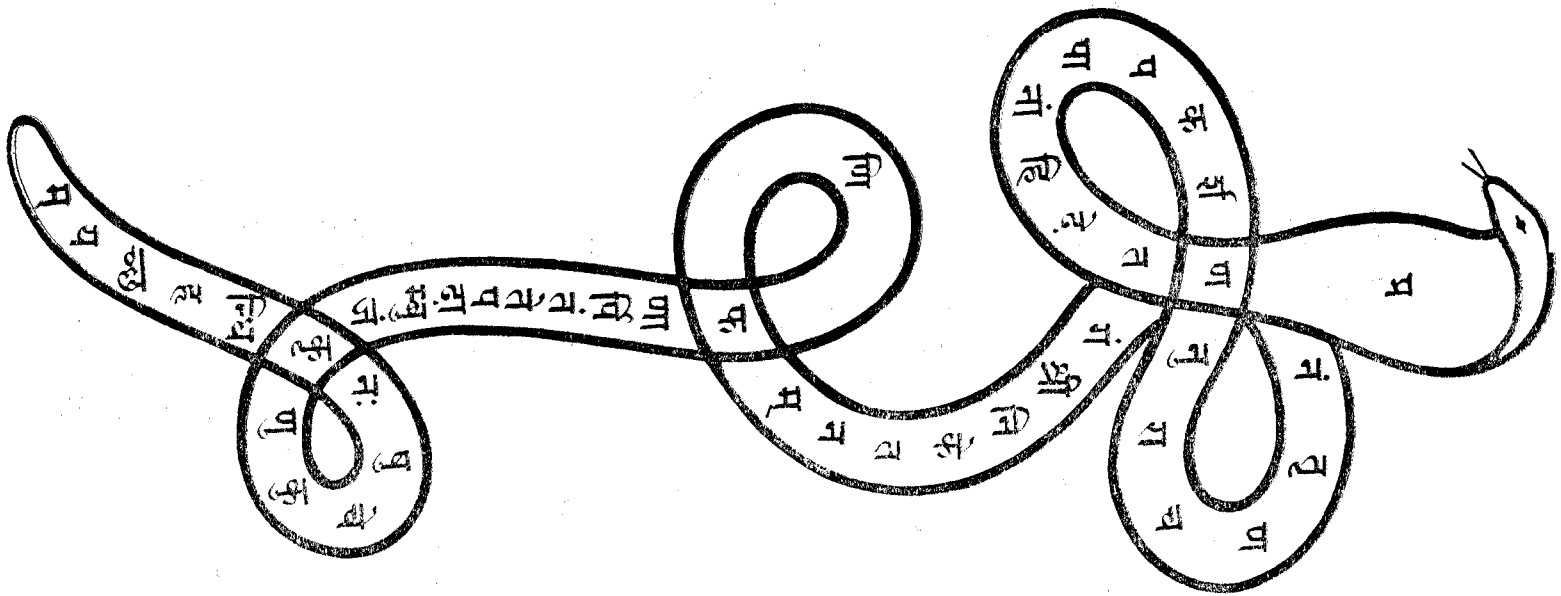

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, ७

नागबन्ध

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, ८

धनुर्बन्ध

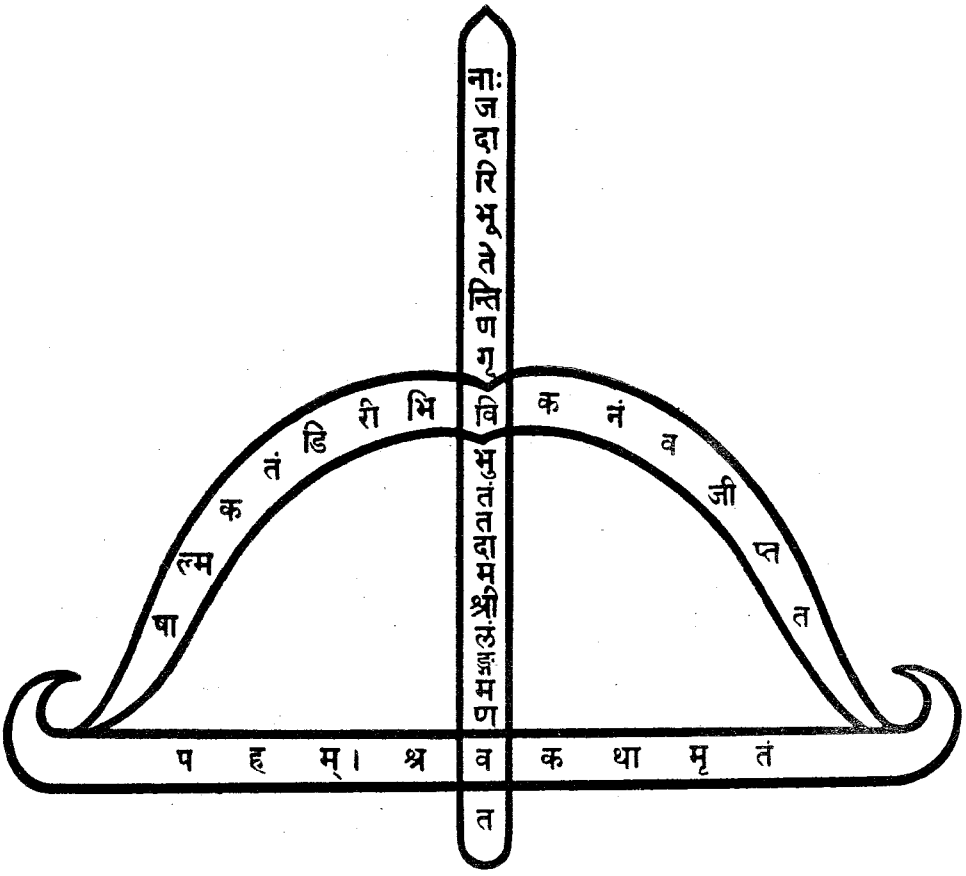

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, ९.

मुरजबन्ध

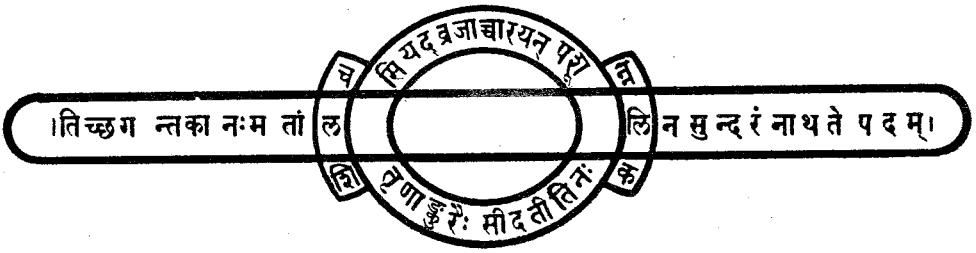

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, ११.

नागबन्ध

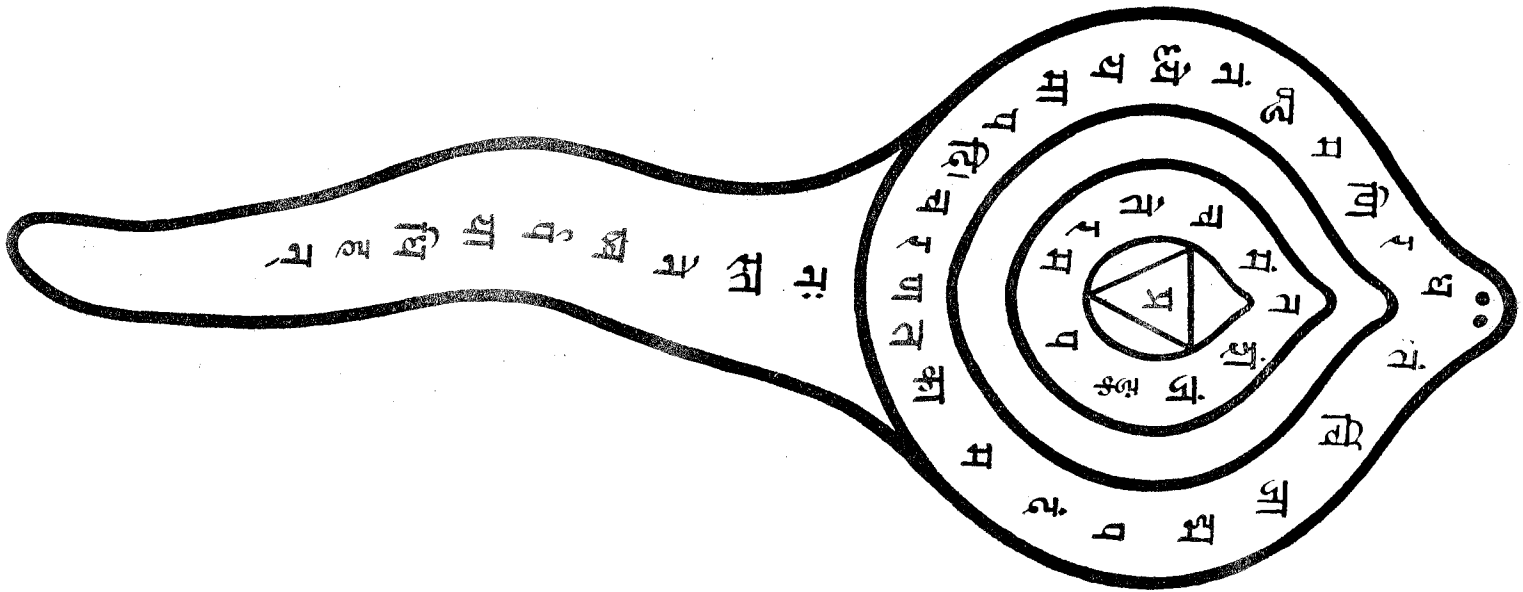

ाध्यायी ३, १३

नागबन्ध

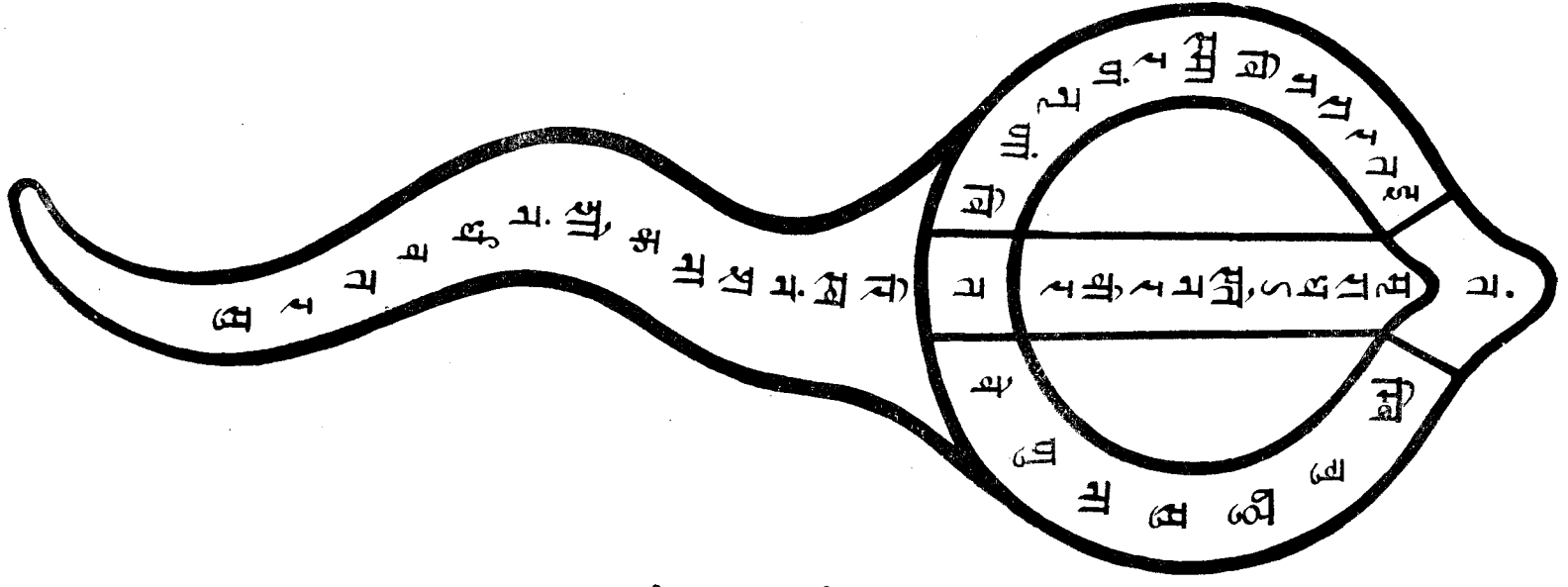

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, १४

नागबन्ध

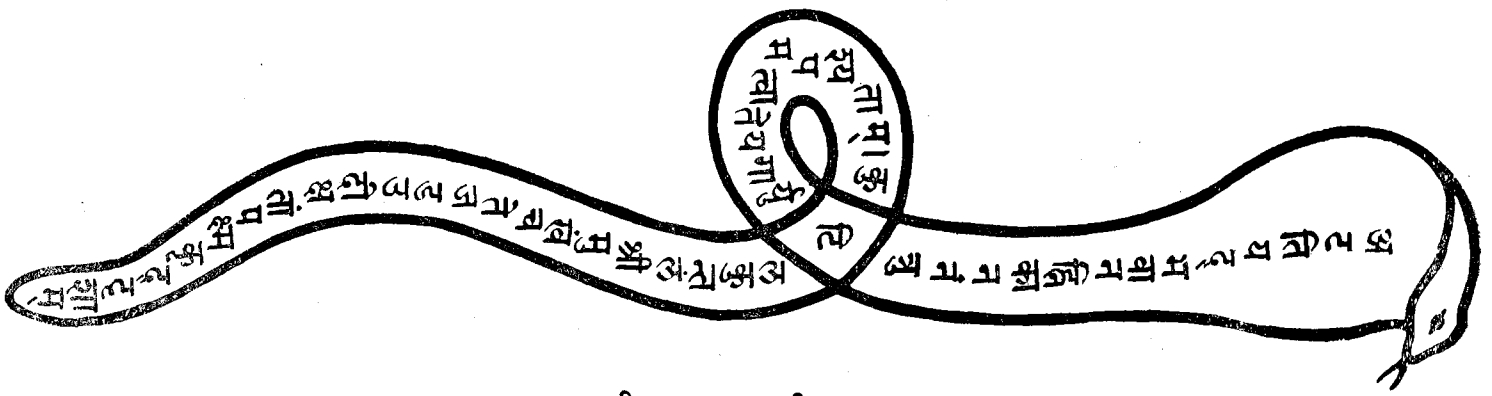

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, १५

नागबन्ध

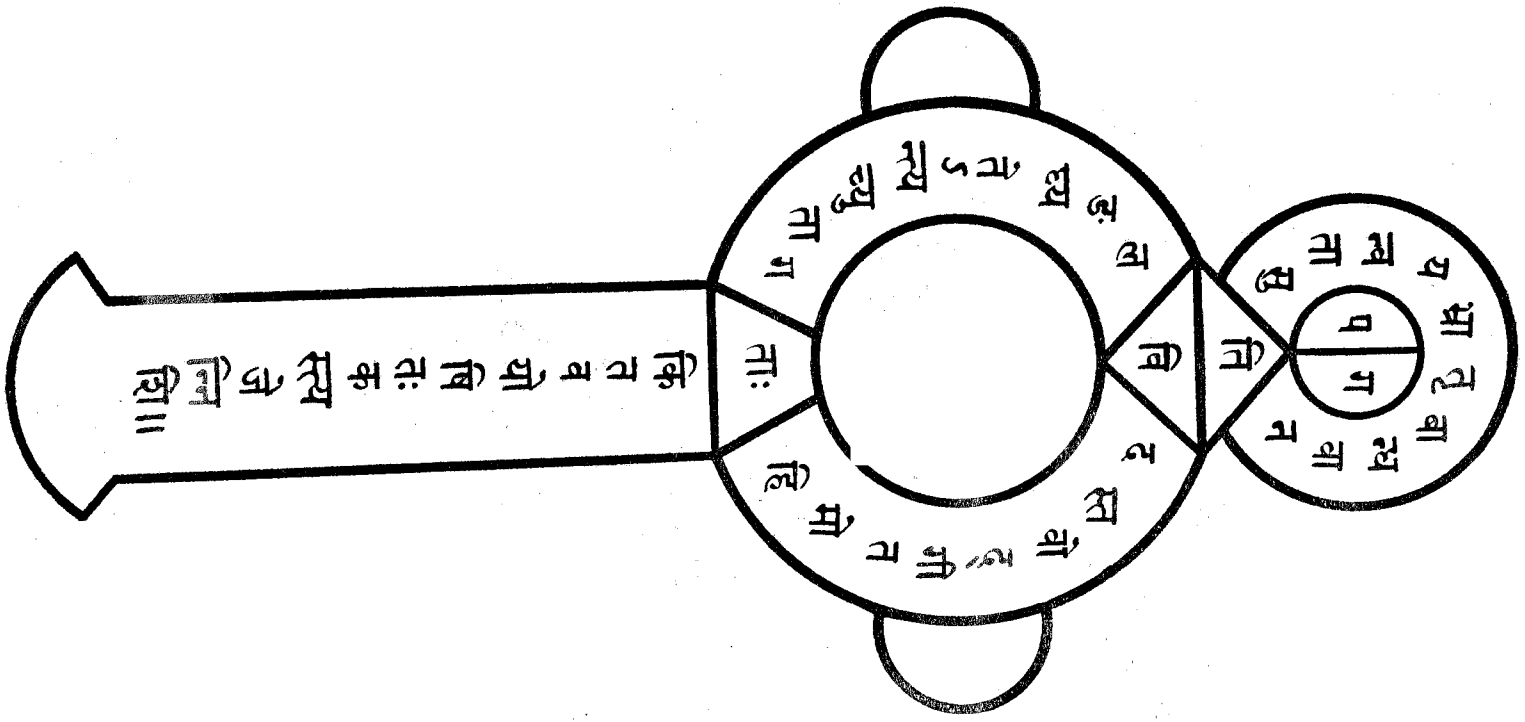

श्रीरासपञ्चाध्यायी ३, १६